जैनत्व का बोध

दि० जैन मुनि सौरभ सागर

ग्रन्थ	–	जैनत्व का बोध
ग्रन्थकार	–	दि. जैन मुनि सौरभ सागर
द्वितीय संस्करण	–	1000
मूल्य	–	एक सौ रूपये
पुण्यार्जक	–	स्व. श्री प्रदीप कुमार जैन की स्मृति में श्री सुण्डे लाल जैन ट्रस्ट फ्लोरा इंटर नेशनल, सेक्टर–29, हुडा, जी. टी. रोड, पानीपत फोन : 9812005072
प्राप्ति स्थल	–	सौरभ सागर साहित्य समर्पण समिति श्री मुकेश जैन (पूर्व पार्षद) 2, देवनगर, निकट परम हस कुटिया पानीपत–132 103 (हरियाणा) फोन : (0180) 2631429, 2638902
	–	नवोदित दि. जैन अतिशय क्षेत्र पुष्पगिरि, सोनकच्छ, जि. देवास (म.प्र.)
मुद्रक	–	डायमण्ड आर्ट प्रिंटर्स अशोक कुमार जैन यमुना विहार दिल्ली–53 फोन : 9810514340, 22911847

अनुक्रमणिका

उद्योगपति स्व० श्री प्रदीप कुमार जी
सम्पूर्ण परिवार के साथ

सिद्ध चक्र महामण्डल विधान में
पूजा करते हुए इन्द्र स्व० श्री प्रदीप जैन
इन्द्राणी कामनी जैन

अग्रवाल मण्डी में कलशा रोहण करते हुए
श्री दिगम्बर जैन पंचायत पानीपत के परम
संरक्षक स्व० श्री प्रदीप जैन

आचार्य श्री १०८ पुष्पदन्त सागर जी महाराज।

मुनि श्री १०८ सौरभ सागर महाराज

पुष्पगिरी तीर्थ के परम संरक्षक बनने के
अवसर पर आचार्य श्री से सम्पूर्ण
साहित्य प्राप्त करते हुए स्व० श्री प्रदीप जैन
(फ्लौरा इंटरनैशनल पानीपत)

जिनवाणी विद्या भारती पब्लिक स्कूल पानीपत
के प्रबंधक स्व० श्री प्रदीप जैन
मुनि श्री से आशीर्वाद प्राप्त करते हुए।

पंच कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव पर
कुबेर इन्द्र स्व० श्री प्रदीप जैन
इन्द्राणी कामनी जैन
रत्न वृष्टि करते हुए।

"मंगलाचरण"

रत्नत्रय गुण से मण्डित जो कर्म रहित भगवान कहें।
विश्व रूप को एक समय में अवलोकन कर जान रहे।।
मन-वच-तन को अक्षत करके पंच प्रभु को करे प्रणाम।
पठन करे "सिद्धान्त शतक" का हरने को अपना अज्ञान।।1।।

अर्थ

जो रत्नत्रय गुण से मण्डित है, कर्म से रहित है, समस्त विश्व को एक साथ, एक समय में देखते व जानते हैं उसे भगवान कहते हैं। ऐसे पंच परमेष्ठीरूप भगवान को मन--वचन काय को अखण्ड करके प्रणाम करता हूँ और अपने अज्ञान को दूर करने के लिये 'सिद्धान्त शतक' (जैनत्व का बोध) ग्रन्थ का पठन प्रारम्भ करता हूँ।

विवेक विकासिनी विवेचन :

किसी भी ग्रन्थ के शुभारम्भ करने के पूर्व कार्य की निर्विघ्न समाप्ति की भावना से इष्ट के प्रति बहुमान व्यक्त करने के लिए नमन् रूप नामोच्चारण कर मंगलाचरण करना चाहिए। मगलाचरण के अभाव मे किया गया कार्य अश्रद्धा को प्रगट करता है और अधूरा भी होता है। जिस प्रकार भोजन करने के पूर्व हाथ धोना अनिवार्य है। बिना हाथ धोये भोजन ग्रहण करने वाला व्यक्ति असभ्य, अविवेकी कहलाता है, उसी प्रकार ग्रन्थ प्रारम्भ करने के पूर्व मगलाचरण न करने वाला व्यक्ति अविवेकी अविनीत कहलाता हैं मंगलाचरण करके भावों को शुद्ध किया जाता है; फिर ज्ञानामृत का पान किया जाता है। जब भीतर से परमात्मा के प्रति समर्पण की भावना का जागरण होता है, तब सहज ही मन विनम्रता से भर जाता है। वही विनम्रता नमन् के भावों से मंगलाचरण के रूप में प्रदर्शित होती है। आचार्यो ने तिलोयपण्णत्ति ग्रन्थ में मंगलाचरण की महिमा का बखान करते हुए कहा है कि--

पढ़में मंगल करणे सिस्सा सत्थस्सपारगा होंति।
मज्झिमेंणीविग्घं विज्जा विज्जाफलं चरिमें।।

नोट -- सिद्धान्त शतक ग्रन्थ मे १०८ श्लोक है उसके प्रथम भाग "जैनत्व का बोध" है जिसमे २७ श्लोक है उसी श्लोको पर दिये गये प्रवचनो का सारगर्भित सकलन है "जैनत्व का बोध"।

अर्थात्– शास्त्र के आदि मे मंगलाचरण करने पर शिष्यजन शास्त्र के पारगामी होते हैं। मध्य मे मगल करने पर विद्या की निर्बिघ्न प्राप्ति होती है और अन्त में मंगल करने पर विद्या का फल प्राप्त होता है। इसलिए शास्त्र के पारगामी बनने की भावना से इष्ट के प्रति समर्पण की भावना से–'सिद्धान्त शतक' (जैनत्व का बोध) ग्रन्थ का शुभारम्भ करते हुए मगलाचरण किया गया है और कहा गया है–

रत्नत्रय गुण से मण्डित जो कर्म रहित भगवान कहें।
विश्व रूप को एक समय में अवलोकन कर जान रहें।।

अर्थात्– जो सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र से सुशोभित है, ससार मे भटकाने वाले काम, क्रोध, लोभ मोह से रहित है। सम्पूर्ण विश्व अर्थात् उर्ध्वलोक, मध्यलोक, अधोलोक के समस्त चर अचर प्राणियो के समस्त पर्यायो को एक साथ एक समय में जानते व देखते है। ऐसे परमात्मा को प्रणाम किया गया है, क्योंकि जिन्दगी को मगलमय बनाने के लिए नमस्कार भी मगल–पुरुष को ही करना चाहिए। मगलाचरण के रूप मे परमात्मा का नामोच्चारण करने से अप्रशस्त भावो की हानि एवं प्रशस्त भावो की वृद्धि होती है। प्रशस्त भावो की वृद्धि होने से तीव्र पुण्योपार्जन होता है, पापो की अल्पता होती है। पाप के अल्प होते ही इष्ट के प्रति, आत्मा के प्रति श्रद्धा का भाव जाग्रत होता है और आत्मा उपकृत होने लगती है, क्योकि मंगल का अर्थ है–**"मं गालयति इति मंगल"**।

जो पापों को गलाये, पुण्य को लाये–वह मंगल है। इसलिए मगल को पुण्य, पवित्र, प्रशस्त, भद्र, क्षेम, कल्याण, शुभ सौख्य आदि नामों से पुकारा है, क्योंकि पाप को गलाने वाला आचरण प्रभु का नामोच्चारण रूप होगा, स्मरण रूप होगा, नमन् रूप होगा और जहाँ परमात्मा के चरणो मे नमन् की भावना होगी, वहाँ नास्तिकता का अभाव होगा। महान् पुरुषो के आदर्श आचरण को जीवन में अवतरित करने की भावना होगी। पूर्व पूज्य पुरुषों के प्रति कृतज्ञता होगी, बहुमान होगा और अन्तरंग से पुण्य प्राप्ति, पाप समाप्ति की तीव्र भावना होगी। ये सभी भाव नमन् के भावों से ही प्रगट होंगे। इसलिए जैन शास्त्रों मे बचपन से ही नमस्कार करना सिखाया जाता है और जन्म के 45 दिन बाद ही णमोकारमन्त्र कानों में सुनाकर प्रणाम कराया जाता है।

जैन शास्त्रो मे नमन् का बहुत महत्व है–लौकिक हो या अलौकिक सभी कार्य नमन्

से सहज सिद्ध होते हैं। अगर आपको किसी व्यक्ति से अपने कार्य के लिए 1000 रुपये चाहिए तो आप किसी धनपति को प्रणाम कर अपनी विश्वशनीयता व्यक्त करते हुए 1000 रुपये मॉगेंगे तो वह सहज ही दे देगा। अगर आप अकडकर कहेंगे तो सम्भव है वह अपने सेवको के माध्यम से घर–दुकान–ऑफिस से बाहर भी निकलवा दे। इसलिए जीवन मे सांसारिक व आध्यात्मिक कार्य की पूर्णता के लिए नमन् आवश्यक है।

आचार्य समन्तभद्र देव का जीवन मात्र नमन् से ही परिवर्तित हुआ है। मुनि अवस्था मे भस्मक व्याधि ने उनके शरीर मे आक्रमण किया। वे समाधि की भावना अभिव्यक्त करने गुरूदेव के सम्मुख पहुँचे और अपनी भावना व्यक्त की। गुरुदेव ने कहा–जिनमुद्रा छोडकर रोग का उपचार कराओ। गुरु आज्ञा को प्रमाण मानकर समन्तभद्राचार्य ने मुनिवेश को छोडकर शैव वेश को स्वीकार कर लिया और एक पुजारी का रूप बनाकर बनारस के शिव मदिर में पहुँचे और वहॉ पर सम्राट से कहा मै सारी सामग्री शिवजी को खिला सकता हूँ। सम्राट ने कहा–शिवजी स्वय सामग्री ग्रहण करेंगे। इससे बडा मेरा और क्या सौभाग्य होगा। सम्राट ने स्वीकृति दे दी। समन्तभद्र ने मन्दिर का द्वार बन्द करके समस्त चढी सामग्री को स्वयं खा लिया। सम्राट को बहुत आश्चर्य हुआ। दूसरे दिन मन्दिर मे दुगुनी सामग्री चढायी गयी–दूसरे दिन भी यही हुआ। सभी सोचने लगे एक आदमी इतना भोजन नही कर सकता। अत यह सत्य है कि शिवजी ने सारी सामग्री ग्रहण कर ली है। तीसरे दिन और भी ज्यादा सामग्री चढ़ाई गयी–यह क्रम चलता रहा। पूर्ण सामग्री खुराक के रूप मे मिलने से रोग समाप्त होने लगा। सामग्री बचने लगी सम्राट को एव पुजारियों को सशय होने लगा। वे सोचने लगे रोज तो शिवजी चढ़ी सामग्री स्वीकारते थे, अब क्यों नहीं स्वीकारते। सभी ने समन्तभद्र को पकडा निवेदन किया पर रोग मुक्त होने के कारण यह दृश्य पुन. नहीं दिखा सके। जानकारी ली गई यह कौन है ? पता चला यह पुजारी जैन धर्मानुयायी है और रोग ठीक करने यह यहॉ आया है। सभी पुजारियों ने मिलकर कहा–अब तुम्हें इस शिव पिण्डि को प्रणाम करके शैवधर्म स्वीकारना पडेगा। समन्तभद्र ने कहा–यह शिव पिण्डी मेरा प्रणाम स्वीकार नहीं कर पायेगी। पिण्डि को साँकलो से बॉधा गया। समन्तभद्र को भी कैद कर लिया गया और कहा गया इसे प्रणाम करो अन्यथा तुम्हारी गर्दन धड से अलग कर दी जायेगी, पर जिनकी आत्मा में सम्यक् दर्शन का कमल खिल जाता है, वह प्राण संकट में पड जाने

पर भी अदेव–कुदेव को प्रणाम नहीं करता है, वह तो मात्र वीतरागता को ही सर्वज्ञ मानकर प्रणाम करता है। समन्तभद्र ने प्रभु की भक्ति में तल्लीन होकर स्वयंभू स्तोत्र की रचना प्रारम्भ कर दी। तीर्थंकर ऋषभ नाथ जी से लेकर श्री सुपार्श्वनाथ भगवान तक स्तुति का गुणगान किया पर नमन् नहीं किया। जैसे ही श्रीचन्द्र प्रभु भगवान् की स्तुति की और कहने लगे–

चन्द्रप्रभं चन्द्र मरीचि गौरं चन्द्रं द्वितीयं जगतीव कान्तम्।
बन्देभिवन्दयं महता मृषीन्द्रं जिनं जितस्वान्तकषाय बन्धम्।।

जैसे ही उन्होंने **"बन्दे भिवन्दयं महतामृषीन्द्रं"** कहा तुरन्त ही शिवपिण्डी फटी और चन्दा प्रभु भगवान की प्रतिमा प्रगट हो गई। सच है जो सच्चे दिल से परमात्मा को प्रणाम करता है, चमत्कार अवश्य ही प्रगट होता है। नमस्कार को स्वीकार करने वाला जीव ही परमात्मा के पुरस्कार को प्राप्त करता है, क्योंकि नमन् करने वाला जीव स्वय को पूर्णतया समर्पित करता है, तब नमन् अपने आप सच्चाई का रूप धारण कर लेता है। आत्मा झुक जाती है, इष्ट के प्रति और संसार के सारे कष्ट स्वयमेव ही दूर हो जाते हैं–लेकिन यह तभी हो सकता है जब हम

'मन-वच-तन को अक्षत करके पंच प्रभु को करें प्रणाम'

मन वचन काय को एक करके होश पूर्वक विवेक के साथ प्रणाम करते हैं, तभी चमत्कार प्रगट होता है। हमें नमस्कार मे चमत्कार प्रगट करना चाहिए। चमत्कार को नमस्कार नहीं करना चाहिए।

आजकल नमन् का रूप पूर्णतया परिवर्तित हो चुका है। एक जमाना था जब साष्टांग नमस्कार लेट कर करते थे या फिर पंचाग नमस्कार करते थे। आजकल के आधुनिक लोग न साष्टांग नमस्कार करते हैं न पंचाग करते हैं। कुछ त्रियांग करते हैं खड–खड़े, तो कुछ मात्र ऑखें झुकाकर खिसक जाते हैं–पर ख्याल रखियेगा–साष्टांग–पचाग नमस्कार समर्पण का निर्विवादपने का प्रतीक है। लेटकर लडाई नहीं होती, विश्राम होता है। बैठकर हाथापाई नहीं होती चर्चा होती है, खड़े–खडे विवाद, हाथापाई आदि सभी कार्य हो जाते हैं। आधुनिकता में कपड़ों के मोह के कारण कि कहीं वस्त्र की क्रीज न बिगड जाये, क्लफ लगे कपडे में कहीं सलवट न पड जाये, कहीं चुस्त वस्त्र फट न

जाये तो खडे–खडे प्रणाम कर लेते हैं। ऐसे लोगो से सदा कहता हूँ कि–

आया घर में सूट पहनकर
टीप-टॉप और खूब तनकर
नमन् की बेला जब आई तो
प्रभु से बोला यूँ हँसकर
कि-ऑ प्रभु माई गॉड
सेवा में स्टुडेन्ट
झुक नहीं सकता
क्योकि
चुस्त है मेरा पैन्ट
तन कपड़ों से कसा है
जिस्म सारा जाम है
इसलिए प्रभु
अटेन्सन में प्रणाम है।

नमन् में झुकाव नहीं छुपाव है। इसलिए प्रणाम हमें पूर्ण विनम्रतापूर्वक ही करनी चाहिए। ताकि विनय का आगमन हो। आचार्य समन्तभद्र देव ने मुनि अवस्था में रत्नकरण्ड श्रावकाचार लिखा तो सबसे पहला श्लोक मगलाचरण के रूप में लिखा और **"नमः श्री वर्धमानाय"** लिखकर सबसे पहले नमस्कार की प्रेरणा दी, क्योंकि ग्रहस्थ जीवन मे अपने से बढते हुए ज्यादा गुणवानो को ही प्रणाम किया जाता है। वे पंच परमेष्ठी में अरहन्त आचार्य उपाध्याय साधु के रूप में हैं। जब वही ग्रहस्थ आत्मा के रसास्वादन करने मुनि दीक्षा ग्रहण कर लेता है तो **"बंदितु सव्व सिद्धे"** सभी कर्म रहित सिद्धो को शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए प्रणाम करता है। अत. नमन् ग्रहस्थ के लिए शुभ परिणामों का द्योतक है। मुनियो के लिए शुद्ध परिणामो का द्योतक है। दोनों परिणाम पुण्य रूप ही है। यह पुण्य रूप परिणाम ही मंगलाचरण है, जो पुण्य को हेय बताकर उसका निषेध करते हैं वे मंगलाचरण का ही निषेध करते हैं, जो मगलाचरण का निषेध करते हैं वे–

"चत्तारि मंगलं अरिहंता मंगलं सिद्धा मंगलं साधु मंगलं केवली पण्णत्तो धम्मों मंगलं।" इन चार मंगलों से रहित है और जो इन चार मंगलो को नहीं स्वीकारता वह

नियम से मिथ्यादृष्टि है जैन होने का अधिकार भी नहीं है। वह इंसान संसार के दलदल में प्रवेश कर आत्मा को पाप से भरने का कार्य करता है।

जो नमन् को निश्चलतापूर्वक स्वीकारता है वह आचार्य मानतुंग के समान कहता है–''**सम्यक् प्रणम्य जिन पादं युगं युगादा**'' की मैं शुद्ध हृदय से शुभ भावों से अन्तरंग के परिणामो से चरण युगल मे प्रणाम करता हूँ। शुद्ध हृदय से वही प्रणाम करता है। त्रियोग से वही प्रणाम करता है जिसने स्वय को चार मंगलों के चरणों में छोड दिया है जिसका होश जागृत हो गया हो, जिसकी प्रज्ञा प्रगट हो गई हो, जिसकी अन्तरात्मा परमात्मा की पुकार से भर गई हो, जो अपनी सीमा के अन्दर विराट परमात्मा को बुलाना चाहता है वही **"मन वच तन को अक्षत करके पंच प्रभु को प्रणाम"** करता है वही सम्यक् प्रणाम है, असली प्रणाम है, छल–कपट से रहित प्रणाम है। सांसारिक मॉगों से रहित प्रमाण है। आजकल कई लोग घरों में, मन्दिरों में नमोकार मन्त्र की कई माला फेरते है पर साक्षात् आचार्य उपाध्याय साधु परमेष्ठी दृष्टिगोचर हो जाते है, तब अपना मुखफेर लेते हैं, नमन् नही करते तो ऐसे लोगो को समझिये कि अभी इनके मन में माया विद्यमान है। मन, वचन, काय, अक्षत नही हुआ। घर मे मन से जाप है पर बाहर तन से नमन नहीं है। कुछ बाहर भय वशात या सम्मान पाने की आकाक्षा से नमन् करते हैं, भीतर से भाव नहीं तो वह भी नमन रिक्त है, अधूरा है। जब मन–वचन–काय एक साथ समर्पित होती है तब मन प्रसन्न चित हो जाता है रोम रोम आनन्द से भर जाता है कही नमन झुठा होता है तो मन क्लांत, दुखी, परेशानी, दुर्भाग्य, मिथ्यात्व से परिपूर्ण रहता है। सच्चा नमन् परमात्मा को पाने मचलता है। झूठा नमन् पदार्थ को पाने दौडता हे। इसलिए नमन् में भी भेद कर दिया है। दोषपूर्ण नमन् संसार ही बढाता है। कहा है–

नमन् नमन् में भेद है नमन् न सरीखा जान।
दगाबाज दुगुना नमे चीता चोर कमान।।

दगाबाज धोखे बाज मायावी स्वार्थपूर्ति के लिए झुकता है। चीता जितना झुकता है उतनी दूर छलाग मार कर शिकार को पकड लेता है। चोर जितना विनम्रता बरतता है उतना ही फॅसने से बच जाता है। कमान जितनी झुकती है तीर को उतनी ही दूर फेंककर प्रतिद्वन्द्वी को मार देती है। इनका झुकाव पाने का नहीं मिटाने का है। इसलिए

यह सम्यक् झुकाव नहीं, मिथ्या झुकाव है; क्योंकि चीता शिकार पाने, चोर बच निकलने और कमान लक्ष्य तक तीर पहुँचाने झुक रहा है। इसमें स्वार्थ है, यह नमन् झूठा है, सांसारिक है पर सम्यक् नमन् तो मन वचन काय को अक्षत करते **''पंचप्रभु को करे प्रणाम''** सभी अरहन्त सिद्ध आचार्य उपाध्याय साधु परमष्ठी के चरणों में अर्थात् 3 कम 9 करोड मुनिराज और अनन्तानन्त सिद्ध परमेष्ठियों के चरणों में एक ही भावना से प्रणाम करता है कि **''बन्दे तद्गुण लब्धये''** कि हे प्रभु ! जो गुण आपके पास हैं उसे ही मैं पाना चाहता हूँ अन्य मेरी कोई आकाक्षा नहीं है। गुणों को पाने गुणवानों को नमस्कार किया जाता है। वो गुणवान मात्र पचपरमेष्ठी ही है अन्य नहीं। अन्यों को नमस्कार व्यवहारिकता है यानि बडों को नमन् औपचारिकता वश है। मित्रों को नमन् शिष्टाचार पूर्वक है। अधिकारियो को नमन् स्वार्थ पूर्वक है, परिवार में नमन् व्यवहार पूर्वक है पर पंच परमेष्ठी को नमन श्रद्धा भक्ति समर्पण पुर्वक है जो संसार काटने में कारण है। इसलिए जैन शासन मे प्रणाम का रूप पृथक–पृथक है। पंचपरमेष्ठियों को नमोऽस्तु कहकर प्रणाम किया जाता है। आर्यिका माताओं को वंदामि कहकर नमस्कार किया जाता है। क्षुल्लक–क्षुल्लिका को इच्छामि कहकर प्रणाम किया जाता है। ब्रह्चारी एवं ब्रह्चारिणी को वन्दना कहकर प्रणाम किया जाता है। यह चारित्र का सम्मान है। पर जब श्रावक आपस में एक–दूसरे से मिलते हैं तब उन्हें हाय–हैलो–गुडमार्निंग–नमस्ते या हाथ मिलाकर अभिवादन नहीं कराया जाता अपितु आपस में एक–दूसरे को देखकर **जयजिनेन्द्र** कराया जाता है। राह मे, घर में, दुकान में, ऑफिस में, फोन पर बात का शुभारम्भ करते समय जिनेन्द्र प्रभु का ख्याल कराया जाता है। ऐसा नमस्कार वाची शब्द किसी भी सम्प्रदाय में नहीं है। इसका अर्थ जिनेन्द्र भगवान की जय हो; क्योंकि प्रत्येक जीव के भीतर जिनेन्द्र विद्यमान हैं पर अप्रगट हैं। हमारे भीतर के जिनेन्द्र की जय कब होगी ? जब हम अपने को मिटाने तैयार हो जायेंगे। मात्र शब्दों को कण्ठस्थ करके ग्रामोफोन के रिकार्ड की तरह जय जिनेन्द्र शब्द का उच्चारण करने से कुछ नहीं होगा। अन्तरंग से जुड़कर दो हाथों को जोडकर जय जिनेन्द्र बोलना ही परमात्मा को अप्रगट प्रणाम होगा। हाथ मिलाना गहरा प्रतीक नहीं, हाथ जोडना गहरा प्रतीक है कि हमारा और तुम्हारा दिल जुड गया। दो को एक करना ही द्वैत से अद्वैत की यात्रा का शुभारम्भ

है। इससे बडे छोटे का भेद नहीं। दो समान जिनेन्द्र का सम्बन्ध है; क्योंकि जो तेरे भीतर है वही मेरे भीतर है। जिस दिन दो–दिल जुड जायेंगे उसी दिन आत्मा में निर्धूम अग्नि प्रज्ज्वलित होगी। भीतर से अभिनव सौन्दर्य के साथ दिव्य–सुगन्ध प्रगट होगी, पहले हाथ जुड़ेगा फिर हृदय जुड़ेगा फिर परमात्मा से सम्बन्ध होगा तभी मंगल शब्द का उच्चारण सदाचरण के साथ प्रगट होगा और जीवन का मंगलाचरण हो जायेगा। इसलिए इस ग्रन्थ में 'पंचप्रभु को प्रणाम' कराया गया है और **पठन करें "सिद्धान्त शतक" का हरने को अपना अज्ञान** और अपने अहंकार को विसर्जित कर ओंम्कार से परिचय बनाकर अपने मोह को, अज्ञान को, मिथ्यात्व को दूर करने 'सिद्धान्त शतक' (जैनत्व का बोध) ग्रन्थ अध्ययन करने की प्रतिज्ञा कराई है, क्योकि इस ग्रन्थ में 108 श्लोकों के माध्यम से सिद्ध पद की प्राप्ति के अंत तक उपाय बताये गये हैं। इसलिए इस ग्रन्थ का नाम ''**सिद्धान्त शतक**'' रखा गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम भाग के 27 श्लोकों का विवेचन **"जैनत्व का बोध"** नाम से प्रस्तुत किया गया है ताकि जैन कुल मे जन्म लेने वाले को जैनत्व का बोध हो सके। जब जीवन में श्रद्धा गुण का आगमन होगा। नियम से जीवन का मंगलाचरण होगा। जहाँ पंचपरमेष्ठी के प्रति नमन् होगा, वहाँ नियम से जैनत्व का बोध होगा तो आइये हम सभी प्रभु की वन्दना कर अपनी आत्मा को प्रच्छालित करें और स्वयं को रूपान्तरित कर प्रभु की आराधना करे, क्योंकि आराध्य की आराधना ही जीवन की सबसे बडी साधना है। उसी का जीवन धन्य है। कहा भी है–

''चित्ते मुखे शिरसि पाणि-पयोज युग्मे
भक्तिं स्तुतिं विनति मञ्जलि मञ्जसैव
चक्रियते चरि करिति चरीकरिति
यश्चर्करीति तव देव ! स एव धन्यः।।''

जो भव्यात्मा अपने दोनो हस्त को कमलाकार रूप जोडकर मन से श्रद्धापूर्वक आपकी भक्ति करता है। वचनों से आपकी स्तुति करता है तथा काय से आपके चरणों में नतमस्तक होता हुआ प्रणाम करता है वही धन्य है। धन्यता के शिखर पर आरोहण करने मंगलाचरण स्वीकारे, अपना जीवन निखारें।

"देव"

केवल ज्ञानी वीतरागी और हित उपदेश के दाता है।
दोष अठारह रहित जिनेश्वर मोक्ष मार्ग निर्माता है।।
जग में उत्तम शरण यही है, भव दुख नाशक मंगलकारी।
सुखदायक है पाप विनाशक शरणागत के संकट हारी।।2।।

अर्थ :

जो केवल ज्ञानी, वीतरागी और हितोपदेशी है, अट्ठारह दोषों से रहित है, वे ही मोक्ष मार्ग के निर्माता है। अर्थात् सच्चे देव है। ऐसे सच्चे देव ही इस संसार में शरण है, उत्तम है, भव दुख का नाश करने वाले है, मंगलकारी है, सुख के दाता है, पाप के नाशक है और शरण में आने वाले जीवों के संकट का हरण करने वाले हैं।

विवेक विकासिनी विवेचन :

मगलाचरण में पंच परमेष्ठी की वन्दना करायी गयी। पंचपरमेष्ठी में अरहंत एवं सिद्ध पूर्ण परमात्मा है। उनमें अरहन्त परमेष्ठी को प्रथम देव माना गया है। अरहन्त देव के गुणों को जाने बिना वन्दना मात्र विचारगत वन्दना है। श्रद्धागत ज्ञान युक्त बन्दना नहीं। पूज्यता के गुणों से रहित देव की वन्दना वर्जनीय है, मिथ्यात्व बढाने में कारण है। इसलिए अरहन्त भगवान की विशेषता बताते हुए कहा है कि–

"केवल ज्ञानी वीतरागी और हित उपदेश के दाता हैं।"

अर्थात– अरहन्त भगवान केवल ज्ञान गुण से सम्पन्न है। उन्हीं केवल ज्ञानी को सर्वज्ञ नाम से पुकारा गया है। सर्वज्ञ का अर्थ होता है–जो तीन लोक की त्रैकालिक समस्त वस्तुओं को एक साथ, एक समय में देखते व जानते हैं/वही सर्वज्ञ है वे सर्वज्ञ कर्म–कालिमा से रहित होते हैं इसलिए उन्हे देव कहते हैं। वे सर्वज्ञ देव नियम से वीतरागी होते हैं, क्योंकि जब तक राग है, तब तक संसार है। संसार वीतराग अवस्था को प्राप्त होने के उपरान्त ही छूटता है, इसलिए दूसरा विशेषण वीतराग कहा। अर्थात् "**विगतः रागः यस्य स वीतराग**" जिसका राग बीत चुका है, वे वीतरागी हैं। राग अपने पराये का भेद डालता है। राग परिणाम में पूजा करने वाले से मोह निन्दा करके वाले से घृणा के भाव उत्पन्न होते हैं। अतः वीतरागी "**न पूज्यार्थस्त्वयिवीतरागे न निन्दया नाथ विवांत वैरे**" पूजा और अपमान से राग द्वेष का न होना ही वीतरागता है। समयसार में कहा भी है–

रत्तो बंधदि कम्मं मुंचदि जीवो विरागसंपण्णो।
एसो जिणोवदेसो तम्हाकम्मेसु मारज्ज।।

रागी जीव कर्मो को बॉधता है। वीतरागी जीव कर्मों से छूटता है। ऐसा जिनेन्द्र

भगवान का उपदेश है। अत. राग नहीं करो, राग रहित होने के कारण ही वीतराग विशेषण दिया है, क्योकि जिनेन्द्रदेव सभी रागों से रहित है।

जिद-मद-हर्ष द्वेषाजित-मोह-परीषहा जित कषायाः।
जित जन्म मरण रोग जित मात्सर्या जयन्तु जिनाः।।

जिन्होंने मद, हर्ष, द्वेष, मोह, परिषह, कषाय, जन्म-मरण, रोग तथा ईर्ष्या आदि विभाव परिणामों को जीत लिया है, वे वीतराग जिनदेव सदा जयवन्त रहे। वीतराग का अर्थ है-दोष रहितता, क्योंकि दोष, वासना, कामना, आकॉक्षा से उत्पन्न होते है और सच्चे देवों ने मोहनीय कर्म का अभाव कर दिया है। इसलिए वे नियम से वीतरागी हो गये। मोह ही वीतरागता का बाधक है। राग सत्पथ में विघ्न उत्पन्न करता है। जैसे ईंधन अग्नि को बढाती है उसी प्रकार राग संसार को बढाता है। इसलिए देवत्व का दूसरा विशेषण वीतरागता है। अर्थात् अन्तरंग और बहिरग परिग्रह से रहित है। वीतरागी अस्त्र-शस्त्र, वस्त्र से रहित होते हैं। तीसरा विशेषण है-**"हित-उपदेश के दाता"** अर्थात् सर्वज्ञ देव की दिव्य-ध्वनि भव्य-जीवों के लिए कल्याणकारी वचन ही उच्चारित करती है। क्लेशोत्पादक नहीं होती है। वे अगर वीतरागी सर्वज्ञ और हितोपदेशी है तो अवश्य ही **"दोष अट्ठारह रहित जिनेश्वर"** अट्ठारह दोषो से रहित होते हैं। वे दोष कौन से है-

क्षुत्पिपासा जरातंङ्क् जन्मान्तकभयस्मयाः।
न राग द्वेष मोहाश्चयस्याप्तः स प्रकीर्त्यते।।

जिनके भूख-प्यास, जन्म-मरण, बुढापा, रोग, शोक, भय, मद, मोह, चिन्ता, अरति, निन्द्रा, आश्चर्य, खेद, पसीना आना, राग-द्वेष ये अट्ठारह दोष हैं। जिनमें ये दोष नहीं होते वे ही सच्चे देव हैं।

ये बात सच है कि ससार के प्रत्येक प्राणी में कुछ न कुछ दोष अवश्य है। जिस प्रकार रोम-रहित रीछ का मिलना मुश्किल है उसी प्रकार दोष-रहित जीव का मिलना मुश्किल है। लेकिन इस संसार में रहकर जो आप्तपने को प्राप्त हो जाते हैं, वे पूर्णतया 18 दोषों से रहित हो जाते हैं। जिस प्रकार स्वर्ण अग्नि का संयोग पाकर पूर्ण शुद्धता को धारण कर लेता है, कालिमा-रहित हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी सत्संग, सत्साधना, इन्द्रिय-निग्रह एकाग्रमना होकर सुतप की अग्नि में समस्त कर्मो का नाश कर आत्मा को शुद्ध निर्दोष बना लेता है और परमात्मा का रूप धारण कर लेता है। संसार में दोष कर्मों के सद्भाव से उत्पन्न होते हैं।

अरहन्त देव के ज्ञानावरणी, दर्शनावरणी मोहनीय और अन्तराय के क्षय हो जाने के कारण 18 दोष नहीं होते हैं। इन दोषों में सर्व प्रथम दोष भूख है। प्रायः संसार में पाप पेट के कारण होते हैं। कहा भी है :-

"बुभुक्षितं किं न करोति पापं"

संसार में भूखा व्यक्ति कौनसा पाप नहीं करता। पाप को जन्म देने वाले भूख को अरहन्त देव सर्वप्रथम समाप्त करते हैं। क्योंकि भगवान् ही अगर भोजन करने लगेंगे तो उन्हें भी तिरस्कार, अपमान, राग–द्वेष–आदि का सामना करना पड़ेगा। इससे देवपने की महानता का लोप हो जायेगा। उन्हें सामान्य मनुष्य की भाँति भोजन सामग्री अधिक मिलने पर आश्चर्य और कम मिलने पर खेद, प्रेम से खिलाने वाले पर राग, न खिलाने वाले पर द्वेष, गरिष्ठ भोजन करने पर निद्रा, जल मिलने से पसीना आना, प्रतिकूल भोजन मिलने पर मृत्यु आदि कई दोष उत्पन्न हो जायेंगे। अत: समस्त दोषों की खान भूख नामक दोष को सर्वप्रथम नाश कर दिया। अरहन्त देव को प्यास भी नहीं लगती, काम–भोग से रहित होने के कारण परमौदारिक शरीर होने के कारण बुढापा भी नहीं आता, अशुद्धता के अभाव के कारण रोग भी नहीं आता। संसार में पुनः अरहन्त देव को नहीं आना है। परमात्मा न सृष्टि की रचना करते हैं, न सृष्टि का विनाश। इसलिए वे समस्त प्रकार की चिन्ताओं से रहित हैं। पुन अवतार न लेने के कारण वे जन्म से रहित हैं। इसलिए जैन दर्शन में अवतारवाद को नही माना है; क्योंकि भगवान् जन्मते नहीं बनते है। बनना साधना की क्रिया है, जन्मना वासना की क्रिया है। आत्मा का शरीर से सम्बन्ध न होने के कारण मरण से रहित है। अपने पराये का भेद न होने के कारण राग–द्वेष से रहित है। अतुल वीर्य के धनी होने से सभी प्रकार का भय समाप्त हो गया है। आधि–व्याधि–उपाधि से रहित समाधि की साधना में तल्लीन होने के कारण गर्व से भी रहित है। प्रमाद से रहित होने के कारण निद्रा से भी रहित है। उनके ज्ञान में समस्त विश्व दृष्टि गोचर होता है। इसलिए अरहन्त देव विस्मय से भी रहित है। सांसारिक परिश्रम से रहित होने के कारण खेद रहित है। इष्टानिष्ट वस्तु की प्राप्ति अप्राप्ति में प्रसन्नता अप्रसन्नता से रहित होने के कारण अरति दोष भी नही है। इसलिए 18 दोषों से रहित होने के कारण ही पूज्यता के शिखर पर आरोहण किया है। वे देव ही **''मोक्ष मार्ग निर्माता है।''** अर्थात् जो वीतरागी, सर्वज्ञ, हितोपदेशी होंते है वेही मोक्ष मार्ग के निर्माता होते है।

जैन दर्शन के अनुसार ईश्वर न स्वर्ग भेजता है न नरक, न घर, न परिवार, न मकान, न दुकान देता है। न सर्विस लगवाता है, न ही सन्तान को उत्पन्न करता है, न जगत का कर्त्ता है, न ही किसी प्राणी को बनाता है। वह तो स्वयं सिद्ध शिला पर विराजमान है। उनका उपदेश मात्र मोक्ष मार्ग का निर्माण करता है। इसलिए इन्हें मोक्ष मार्ग के निर्माता कहा। निर्माता का अर्थ–बनाने वाला नहीं मार्ग बताने वाला है। रागी संसार मार्ग के निर्माता है, वीतरागी मोक्ष मार्ग के निर्माता हैं। इसलिए ऐसे सच्चे देव ही हमारे लिए–

''जग में उत्तम शरण यही है भव दुख नाशक मंगलकारी''

ध्यान रखियेगा–मोक्षमार्ग के निर्माता ही उत्तम है; क्योंकि इनमें भगवत्ता के गुण प्रगट

हो चुके हैं। देव होना सरल है पर भगवान् होना कठिन है। सहज रूप से देवगति के जीव को भी देव कह देते हैं। सज्जन पुरुष को भी देव कह देते हैं पर यहाँ भगवान् रूप देवता का वर्णन है जैसा कि कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ मे कहा गया है–

"दीव्यति क्रीड़ति परमानन्दे इति देवः अथवा दीव्यति कर्माणि जेतुमिच्छति इति देवः वा दीव्यति कोटि सूर्याधिक तेजसा द्योतते इति देवः अर्हन वा दीव्यति धर्म व्यवहारं विदधाति दीव्यति लोकालोकं गच्छति जानाति इति देवः।"

अर्थात् जो परम सुख में क्रीडा करता है वह देव है, जो कर्मो को जीतता है वह देव है, जो करोडों सूर्य के तेज से भी अधिक दैदीप्यमान है वह देव है अथवा जो धर्म व्यवहार का विधाता है वह देव है तथा जो लोक–अलोक को जानता है वह देव है, वही देव जग में उत्तम है; क्योंकि हमें उत्तम गति देने में कारण है, शरण है, क्योकि हमें बार–बार के मरण से बचाते हैं, भव दुख नाशक है; क्योंकि इनकी वन्दना ही कर्मो के दृढतम बन्धन को काटने वाले हैं, मंगलकारी है, क्योंकि स्वयं मंगलभूत है, पाप को गलाने में कारण है। और ये **सुखदायक है पाप विनाशक** ऐसे ही वीतराग प्रभु की उपासना ही सुख देने वाली है समस्त अनुकुलता को देने वाली हैं और इनकी आराधना करने से पाप का विनाश होता है। शास्त्रों में कहा है–

"अनन्तानन्त संसार संतति छेद कारणम्
जिन राज पदाम्भोज स्मरणं शरणं मम्।"

पाप से ही संसार बढता है उस अनन्तानन्त संसार की परम्परा का छेद करने वाले जिनेन्द्र देव है, उनके चरण कमल ही एक मात्र मेरे लिए शरण है और जो जिनेन्द्र देव की शरण को स्वीकार कर लेता है उसके लिए ही–"**शरणागत के संकट हारी**" प्रभु के चरणों में जो स्वयं को समर्पित कर देता है, संकट उसके ऐसे ही छॅट जाते हैं। जैसे सूरज के उदित होने पर अन्धकार छट जाता है। सेठ धनञ्जय प्रभु की आराधना में तल्लीन थे, पुत्र को सर्प ने काट दिया, पर पुत्र मोह से पृथक प्रभु भक्ति में तल्लीन धनञ्जय आराधना में ही लीन रहे, परिणाम निकला पुत्र निर्विष होकर के जी उठा। इसलिए तो कहा है–

"विघ्नौघा प्रलयं यान्ति शाकिनी भूत पन्नगाः।
विषं निर्विषतां याति स्तुय माने जिनेश्वरैः।।"

जिनेन्द्र भगवान के स्मरण स्तवन करने से विघ्न प्रलय डाकिनी–शाकिनी भूत–प्रेत सभी पलायन कर जाते हैं। विष निविषता में परिवर्तित हो जाता है यही संकट का हरण है। नमस्कार से चमत्कार होता है। तभी सारे संकट दूर होते हैं। इसलिए **जैनत्व का बोध** जिन्हे हो जाता है वह केवल ज्ञानी, वीतरागी, हितोपदेशी 18 दोषों से रहित मोक्ष मार्ग के निर्माता परमात्मा की ही उपासना, आराधना, स्मरण, भक्ति पूजा करता है और अपनी आत्मा का कल्याण करता है।

"शास्त्र"

अरहन्त देव की दिव्य ध्वनि से जो भी निकली है वाणी।
स्याद्वाद अनेकान्त मयी वह कहलाती है जिनवाणी।।
नय निक्षेप तत्व पदार्थ का इसमें पूर्ण विवेचन है।
भव तरने की बात इसी में संशय इसमें लेश न है।।3।।

अर्थ:

अरहंत देव की दिव्य ध्वनि से स्यादवाद अनेकान्तमयी जो वाणी निकलती है, वह जिनवाणी कहलाती है। इस जिनवाणी में नय–निक्षेप तत्व पदार्थ का पूर्ण रूप से विवेचन है। इस जिनवाणी का अध्ययन करके आचरण में उतारने वाला जीव भव सागर से पार हो जाता है। इस बात में किंचित भी संशय नहीं है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

प्रथम श्लोक में परमात्मा के स्वरूप का बोध कराया। इस दुःखमा नामक पंचम काल में हमारे मध्य साक्षात् परमात्मा नहीं है। हम उन्हें कैसे जाने ? उन्हें जानने के लिए गुरुओं की अपार कृपा से हमें आगम प्राप्त हुआ है। उस आगंम को ही शास्त्र कहते है। शास्त्र का अर्थ है–शास्ता की वाणी अर्थात्

"अरहन्त देव की दिव्य ध्वनि से जो भी निकली है वाणी"

अर्थात् जिन्होने चार घातियॉं कर्मों को नष्ट कर दिया है, जो पृथ्वी से 5000 धनुष ऊपर समवशरण में विराजमान हैं उनके सर्वांग से निःसृत दिव्य–ध्वनि के माध्यम से अनुगुंजित समस्त वाणी ही जिनवाणी हैं, शास्त्र हैं। आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है कि–

अनात्मार्थं बिना रागैः शास्ता शास्ति सतो हितम्।
ध्वनन शिल्पिकरस्पर्शा–न्मुरजः किंमपेक्षते।।8।।

जैसे मृदंग बजाने वाले के हाथ का स्पर्श पाकर अपने आप बिना अपेक्षा के ढ़ोलक बजने लगता है, उसी प्रकार अरहन्त भगवान् भी बिना राग के भावों के अपना प्रयोजन न सिद्ध होने पर भी भव्य जीवों के हित रूप मोक्ष मार्ग का उपदेश देते हैं। संसार में

प्रायः मनुष्य की समस्त क्रियायें किसी न किसी अपेक्षा की आकांक्षा से ही होती है। एक नासमझ बालक भी मुस्कान भरता है तो उसके भीतर की आकांक्षा कहती है–मुझे कोई गोद में उठा लेवें तो अन्य की बात की क्या ? लेकिन अरहन्त भगवान् सर्वज्ञ देव राग–द्वेष कषायादि से रहित हो, भव्य जीवों के कल्याणार्थ 18 महाभाषा एवं 700 लघु भाषाओं में ख्याति पूजा लाभ की भावना से रहित होकर आकांक्षा के बिना मोक्ष मार्ग रूप सम्यक्–दर्शन ज्ञान चरित्र का उपदेश लेते हैं। वह उपदेश भी मुख से नहीं सर्वाग से निसृत होती है। मुख से निकली वाणी में स्वार्थ होता है। सर्वाग से निसृत ध्वनि निःस्वार्थ होती हैं। जीव अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए हॅसता है, बोलता है, सेवा करता है, दु ख दूर करता है। यह सब कार्य उसका स्वार्थ मूलक है। वह उतना महत्व पूर्ण नहीं, जितना निःस्वार्थ कार्य महत्वपूर्ण हैं। महान् पुरुष सदा ही परोपकार के लिए होते है। जिस प्रकार मेघ बिना अपेक्षा के जल बरसाता है वृक्ष बिना अपेक्षा के फल प्रदान करता है, नदी बिना अपेक्षा के बहती है, अग्नि बिना अपेक्षा के जलती है, भोजन पकाती है–प्रकाश देती है, गाय बिना अपेक्षा के दूध देती है, पृथ्वी बिना अपेक्षा के हीरा–स्वर्ण–रजत आदि प्रदान करती है, उसी प्रकार सर्वज्ञ भी बिना अपेक्षा के धर्मोपदेश देते हैं। जिनेन्द्र भगवान मात्र धर्मोपदेश के माध्यम से ही शासन करते हैं, इसलिए शास्ता कहलाते हैं। भगवान् के शासन का कार्य आदेशात्मक नही उपदेशात्मक होता है।

उपदेशात्मक शासन पहले स्वयं के जीवन को अनुशासित करता है, फिर अपेक्षारहित स्वभावतः दूसरे पर भी शासन होता है। अरहन्त देव की दिव्य–ध्वनि तीर्थकर प्रकृति के उदय से भव्य जीवों के पुण्योदय से 24 घन्टों में 4 बार यानि सुबह, दोपहर, शाम एवं रात्रि के मध्यकाल में उत्कृष्टः छः घडी के लिए खिरती हैं। वह दिव्य–ध्वनि पूर्व के संस्कार वशात् अर्थात् पूर्व जन्म में संसार के सभी जीवों का कल्याण कैसे हो, कैसे सभी संसारी जीव कर्मो से मुक्त हो, कैसे सभी जीवों को कल्याण पथ पर अग्रसर किया जाये। इस प्रकार अपाय विचय धर्म ध्यान के वशीभूत हो–संसारी प्राणियों को त्रस्त देखकर उन्हें तारने का विचार करते हैं। इस विचार से तीव्र पुण्य परमाणु का आगमन होता है और वही स्वपर कल्याण की भावना तीर्थंकर पद पाने के उपरान्त सभी जीवों के कल्याण भावना से सहित होकर दिव्य–ध्वनि के रूप में खिरती है। जब कभी कोई भव्य पुण्यात्मा जीव या चक्रवर्ती आदि भगवान की वन्दना को पहुॅचते है तब भी भगवान की दिव्य–ध्वनि उनके पुण्य वशात् कल्याणार्थ स्वतः खिर जाती है। भगवान को यह अपेक्षा नहीं रहती है कि कोई चक्रवर्ती या सम्राट के आने से मैं अपनी दिव्य–ध्वनि

खिराऊँगा, तो वह मेरी ज्यादा प्रभावना करेगा, नाम करेगा, अपने राज्य में मुझे रहने देगा। यह भावना उनके मन में नहीं रहती; क्योंकि मोहनीय कर्म का अभाव है। अपितु चक्रवर्ती की आन्तरिक श्रद्धा एवं पुण्य प्रकृति के मेल से दिव्य–ध्वनि स्वतः ही खिर जाती है। वही दिव्य–ध्वनि प्रमाण है। हम संसारी प्राणी के लिए जिनवाणी है।
आचार्य अकलंक देव ने राजवार्तिक ग्रन्थ में लिखा है–

''आप्तेनहि क्षीण दोषेण प्रत्यक्ष ज्ञानेन प्रणीत आगमो भवति न सर्वः। यदि सर्व स्यात् अविशेष स्यात्।''

जिनके सर्व दोष क्षीण हो गये हैं, ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञानियों के द्वारा प्रणीत शास्त्र ही आगम है। यदि सर्व दोष क्षीण नहीं है तो आगम व अनागम में कोई अन्तर नहीं रह जायेगा, इसलिए आगम का वाक्य ही सर्वथा सत्य है चाहे प्रत्यक्ष प्रमाण दृष्टि गोचर हो या न हो; क्योकि क्षायोपशमिक ज्ञान से सूक्ष्म पदार्थ पकड में नहीं आते, न ही पूर्ण प्रमाणित हो पाते हैं। इसलिए भव्य सम्यक्–दृष्टि–जीव के मन में स्व–ज्ञान में प्रत्यक्ष प्रमाण न होने पर भी यह भावना दृढ होती है कि–

''सुक्ष्मं जिनोदितं तत्वं हेतुभिर्नैव हन्यते
आज्ञासिंद्ध तु तद् ग्राह्यंनान्यथा वादिनो जिनाः।।पु.सि. 3।।

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा हुआ सूक्ष्म–तत्व हेतुओं के द्वारा खण्डित नहीं होता। यह तथ्य आज्ञा मात्र से ग्राह्य है, क्योकि जिनेन्द्र भगवान अन्यथा कथन नहीं करते। यह आगम सूक्ष्म है। मेरा ज्ञान सूक्ष्म नहीं है। इस भावों से ही जिनवाणी के वाक्य श्रद्धा योग्य हैं।

इस संसार में अनेक प्रकार के मत मतान्तर प्रचलित है। वे सभी अपने–अपने आधार पर अपने ग्रन्थों को ही सत्य मानते हैं। उनके अनुसार वह ग्रन्थ भले ही सत्य हो पर जैन धर्म के अनुसार जिस ग्रन्थ का वक्ता सर्वज्ञ न हो, अल्पज्ञ हो तो उस ग्रन्थ में नियमतः पूर्वापर विरोध रहता है। उन ग्रन्थों में पहले कुछ बात कही जाती है बाद में कुछ बात कहीं जाती है। जिस ग्रन्थ का कथन युक्ति–आगम प्रमाण से खण्डित होता है–वह शास्त्र नहीं शस्त्र है। सम्यक्–दर्शन को काटने वाला है। इसलिए आगम के लिए कहा गया है–

जो **'आ'**- आप्त के द्वारा कहा हुआ **'ग'**- गणधरों के द्वारा गुम्फित किया हुआ। **'म'**- मुनियों के द्वारा लिखा हुआ शास्त्र ही आगम हैं, जिनवाणी हैं। आगम के वचन कभी खण्डित नहीं होते अपितु वन्दनीय, ग्रहणीय, आचरणीय होते हैं। जो इसका उल्लंघन

करता है, वह मिथ्यादृष्टि कहलाता है। सम्यक्–शास्त्र को स्वीकारने वाला व्यक्ति देव–शास्त्र–गुरु की भक्ति से रहित व्यक्ति के मिलावट युक्त शास्त्र को अप्रमाण मानकर परित्याग करता है, क्योंकि जिस ग्रन्थ में मिथ्या मार्ग का पोषण हो, हिंसा को धर्म बताया हो, परमात्मा को सृष्टि का कर्त्ता या अन्यथा रूपनिरुपण किया हो, देवी–देवता की पूजा बताई गई हो, स्त्री की मुक्ति बतायी हो, वस्तु को क्षणिक बताया हो, पुण्य को सर्वथा हेय बताया हो शुभ राग को नियमतः संसार का कारण बताया हो, एकान्त का निरुपण किया गया हो, वीतरागता को लाछित किया गया हो वे सब जिनवाणी नहीं, निजवाणी हैं। सर्वज्ञप्रणीत नहीं–अल्पज्ञ प्रणीत हैं। वे सभी अमान्य ग्रन्थ हैं। तब मान्य शास्त्र कौन से है–

"स्याद्वाद अनेकान्तमयी-वह कहलाती है जिनवाणी"

अर्थात् जो स्याद्वाद और अनेकान्त से युक्त है–वही जिनवाणी हैं। सच्चा शास्त्र है। स्यादवाद में दो शब्द है–स्याद और वाद। स्याद का अर्थ है–कथंचित। बाद का अर्थ है–मान्यता का कथन। अर्थात् जो वस्तु में रहने वाले अनन्त धर्मों मे से विवक्षित किसी एक धर्म को एक समय में अपने सप्त भंगी नय के माध्यम से प्रतिपादन करता है उसे स्यादवाद कहते हैं। शायद वाद में संशय है स्याद्वाद में प्रतिपादन हैं। अर्थात् वस्तु के कहने की शैली को स्याद्वाद कहते है। उसे समझने की शैली को अनेकान्त कहते हैं। अनेकान्त का अर्थ है–एक ही वस्तु मे वस्तुत्व (गुणधर्म) को निष्पन्न करने वाली अस्तित्व नास्तित्व सरीखी दो परस्पर विरुद्ध सापेक्ष शक्तियों का प्रतिपादन किया जाता है। उसे अनेकान्त कहते हैं। जैसे–बाहुबलि पिता की अपेक्षा पुत्र थे, पत्नी की अपेक्षा पति थे। भरत की अपेक्षा भाई थे। प्रजा की अपेक्षा राजा थे, पुत्र की अपेक्षा पिता थे प्रतिद्वन्दी की अपेक्षा शत्रु थे। भरत के पुत्रों की अपेक्षा चाचा थे। बाहुबलि एक है पर विभिन्न दृष्टियों से अलग–अलग है। अगर उन्हें पिता ही माना जायेगा तो सारे व्यवहार का ही लोप हो जायेगा।

इसलिए जिनवाणी को स्याद्वाद अनेकान्तमयी कहा है और जिनवाणी में किसका वर्णन है–

"नय निक्षेप तत्व पदार्थ का इसमें पूर्ण विवेचन है।"

उस जिनवाणी में–नय नाना स्वभावों से हटाकर वस्तु को एक स्वभाव में जो प्राप्त कराये उसे 'नय' कहते हैं। अर्थात् वक्ता के अभिप्राय विषय को 'नय' कहते हैं। जो वस्तु के एक देश को जनाये उसे नय कहते हैं। दो विरुद्ध धर्म वाले तत्त्व में किसी एक धर्म का वाचक हो उसे 'नय' कहते हैं। यह 'नय' अनेक प्रकार का होता है, उसमें व्यवहार

नय और निश्चय नय के दो मुख्य भेद हैं जो व्यवहार से विमुख होकर निश्चय को मात्र चाहते हैं। वे मूढ है बिना बीज के वृक्ष को चाहते हैं। इसलिए आचार्य अमृत चन्द्र ने पुरुषार्थ सिद्धिउपाय ग्रन्थ में लिखा है–

व्यवहार निश्चयौ यः प्रबुध्य तत्वेन भवति मध्यस्थः।
प्राप्नोति देशनायाः स एव फलम् विकलं शिष्यः।।8।।

जो व्यवहार और निश्चय दोनों नयों को अच्छी तरह समझ कर कोई भी नयों का पक्षपाती न होकर मध्यस्थ होते हैं। वही उपदेश प्राप्त करने के लिए योग्य है। हठ ग्राही, पक्षपाती उपदेश के पात्र नही हैं।

निक्षेप : अनिर्णीत वस्तु के निर्णय के लिए जो सहारा लिया जाता है, उसे निक्षेप कहते हैं। वस्तु की पहचान के लिए निक्षेप की आवश्यकता है। यह निक्षेप चार प्रकार का है। नाम निक्षेप अर्थात् गुण जाति द्रव्य क्रिया की अपेक्षा के बिना इच्छानुसार किसी का नाम रखने को नाम निक्षेप कहते हैं। जैसे किसी का नाम विश्वामित्र रखा। यद्यपि पडौसी से उसकी दुश्मनी चल रही है फिर भी लोक–व्यवहार चलाने के लिए उसका नाम विश्वामित्र रख दिया।

स्थापना निक्षेप : पाषाण लकडी, कागज, धातु आदि में प्रतिमा या चित्र बनाकर यह वह है। इस प्रकार की कल्पना करना **''स्थापना निक्षेप''** है। ये तदाकार और अतदाकार स्थापना के रूप मे दो प्रकार का है। जिस पदार्थ का जैसा आकार है उसे उस आकार मे स्वीकार करना तदाकार स्थापना है। जैसे बाहुबलि या पार्श्वनाथ की प्रतिमा आकार एव चिन्ह बना दिया वह मान्य है। भिन्न आकार वाली वस्तु में भिन्न आकार को स्वीकार करना अतदाकार स्थापना है। जैसे काले–पीले पत्थर को क्षेत्रपाल कहना या शतरंज की गोटी में बादशाह वजीर की कल्पना करना अतदाकार स्थापना है। इसमें वस्तु की बुद्धिपूर्वक स्वीकृति ही श्रद्धा विश्वास जाग्रत करती हैं। तीसरे नम्बर पर **द्रव्य निक्षेप** है अर्थात् भूत–भविष्य की मुख्यता सहित सहित वस्तु को **''द्रव्य निक्षेप''** कहते हैं। जैसे सेवा मुक्त शिक्षक को शिक्षक कहना या राजा के लडके को राजा कहना। चौथे नम्बर पर है–**''भाव निक्षेप''** अर्थात् वर्तमान पर्याय से युक्त वस्तु को भाव निक्षेप कहते हैं। जैसे जल को जल कहना, जम जाने पर बर्फ कहना, वाष्प बन जाये तो भाप कहना। इसी प्रकार जिनवाणी में तत्व का विवेचन है यानि वस्तु के यथार्थ स्वरूप को **तत्व** कहते है। यह भी सात प्रकार के है। जीव यानी जिनमें चेतना गुण पाया जाये वह **जीव** है। जिसमें चेतना गुण न पाया जाये वह **अजीव** है। कर्मों के आने को **आश्रव** कहते हैं। कर्मों के

आत्मा से सम्बन्ध होने को **बन्ध** कहते हैं। आते हुए कर्मो को रोक देने का नाम **संवर** है। आत्मा से एक देश कर्मों का बाहर होना **निर्जरा** है और आत्मा से पूर्ण कर्मों क्षय हो जाना **मोक्ष** है। इसे उदाहरण के माध्यम से यूँ समझिये–

एक कमरा है वह अजीव तत्व है। कमरे के अन्दर बैठा आदमी जीव तत्व है। कमरे के अन्दर आदमी प्रवेश कर रहे हैं यह आश्रव तत्व है। कमरे में सभी का बैठना बंध तत्व है। कमरे में आते हुए आदमियों को रोक देना संवर तत्व है। एक–एक करके आदमियों को बाहर निकालना निर्जरा तत्व है। सभी आदमियों को कमरे से बाहर निकाल देना मोक्ष–तत्व है।

जिनवाणी मे पदार्थ का भी वर्णन है। ये 9 होते हैं। 7 तत्व में पुण्य–पाप जोड़ देने से 9 पदार्थ हो जाते हैं, क्योकि बिना पुण्य के इष्ट वस्तु की प्राप्ति नहीं होती और पाप से संसार के समस्त अनिष्ट होते है। इसलिए पाप को छोडकर पुण्य से नाता जोड़कर ही आत्मा का उत्थान किया जाता है।

जिनवाणी माँ अपने भीतर नय निक्षेप तत्व पदार्थ गुण स्थान मार्गणा–सिद्धान्त अध्यात्म आदि प्राणी मात्र को प्रतिबोधित करने वाले समस्त चीजों का वर्णन है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने कहा है–

आप्तोपज्ञ मनुल्लंघ्यभदृटेष्ट विरोधकम्।
तत्वोपदेश कृत सार्वं शास्त्रम् कापथघट्टनम।।9।।

जो वीतरागी देव द्वारा कहा गया हो, वादी प्रतिवादी द्वारा खण्डन करने में न आवें, प्रत्यक्ष अनुमान आदि से विरोध को प्राप्त न हो, वस्तु–स्वरूप का निर्देश करने वाला हो, सब जीवों को हितकारक हो, और मिथ्या मार्ग का खण्डन करने वाला हो, वही सच्चा शास्त्र है। बाकी सब मात्र अध्ययन की पुस्तकें हैं।

शास्त्र व पुस्तक में काफी अन्तर होता है। पुस्तक का अर्थ होता है–'पढ़ों और रख दो।' पुस्तकों में मन गढन्त कई बातें हो सकती है। पर शास्त्र का अर्थ होता है–'पढ़ो और नमन् करो।' आचरण में उतारो। शास्त्र में शास्ता की अनुभूति होती है। शास्त्र आचरणात्मक अनुभूति का भण्डार होता है। शास्त्र साधना से प्रगट होता है। चौबीस तीर्थंकरों ने साधनाकाल में गहन मौन को स्वीकार किया और केवल ज्ञानोपरान्त ही धर्मोपदेश दिया। मौन की गहरी अनुभूति मुखरित हुई है। इसलिए कहा–

"भव तरने की बात इसी में संशय इसमें लेश न है।"

शास्त्र में भव तरने की बात है। शास्त्र जीवन को समझने की कला सिखाता हैं। शास्त्र के वाक्यानुसार–जो आचरण को स्वीकार करता है, वही भवसागर से पार होता

है। शास्त्र तो 'मील के पत्थर' है, इशारे है सत्य की ओर जाने के। जिस प्रकार मील के पत्थर को पकड़ने से शहर नहीं मिलता बल्कि उस दिशा की ओर चलने से शहर मिलता है उसी प्रकार शास्त्र को पढ़ने मात्र से शास्ता नहीं मिलता बल्कि शास्त्रानुसार आचरण करने से शास्ता की प्राप्ति होती है। शास्ता को पाने, आत्म कल्याण करने–आचरण आवश्यक है, जो भीतर से प्रगट होता है–'बाहर के आलाप मात्र से नहीं'।

एक युवक बिस्तर में लेटा हुआ हाथ–पाँव बहुत चला रहा था। अचानक पिता श्री कमरे में पहुँचे और अपने बेटे की हरकतें देखकर कहने लगे–बेटा ! तू ये क्या कर रहा है ? पिता जी ! मैं तैरना सीख रहा हूँ। पिताश्री कहते हैं–बेटा ! तैरना बिस्तर में नहीं सीखा जाता है अपितु पानी मे उतर कर ही तैरा जा सकता है। बेटा कहता है–पानी में तुम्हीं उतरो मैं तो बिस्तर में ही तैरना सीखूँगा। क्या बिस्तर में तैरना सीखा जा सकता है ? हरगिज नहीं। उसी प्रकार शास्त्रों को पढने मात्र से कल्याण नहीं होता अपितु आचरण मे उतारना आवश्यक होता है।

भव तरने की बात शास्त्र के शब्द मे नहीं, क्रिया में है। अगर मात्र शब्द से मुक्ति होती तो शाब्दिक ज्ञानी सभी पण्डित, प्रोफेसर, वकील, पी. एच. डी. करने वाले, वायसचान्सलर आदि पहले संसार से मुक्त हो जाते, पर क्रिया बिना ज्ञान लंगड़े की ऑख के समान है। शास्त्र का ज्ञान तभी पार उतार सकता है, जब हमारे भीतर की भी प्रज्ञा जाग्रत हो जाये। कहा गया है–

"यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा शास्त्रं तस्य करोति किम्
लोचनाभ्याम् विहीनस्य दर्पणः किं करिष्यति।।"

जिसकी स्वय की प्रज्ञा का जागरण नहीं हुआ, उसका शास्त्र कुछ भी नहीं कर सकता। जैसे–ऑखों से रहित व्यक्ति को दर्पण कुछ नहीं दिखा सकता। इसे एक घटना के माध्यम से समझे एक प्रोफेसर साहब बहुत पढे लिखे थे। उन्हें अपने ज्ञान का, शिक्षा का अहंकार था। वे सोचते थे–बुद्धि–बल पर प्रत्येक कार्य का समाधान निकाला जा सकता है। एक दिवस उन्हें नदी पार करने का अवसर आया वे नदी के किनारे एक नाविक से मिले नाविक ने उन्हें नदी पार कराने के लिए नाव में बैठा लिया। थोड़ी देर के उपरान्त वे नाविक से पूछँने लगे क्या तुम्हें गणित आता है ? नाविक ने विनम्रता से कहा–नहीं। प्रोफेसर ने कहा–अरे–रे ! तुम्हारी तो 25 प्रतिशत जिन्दगी पानी में मिल

गयी। फिर पूछा क्या तुम्हे हिन्दी आती है? नाविक थोडा सकुँचाया फिर बोला मुझे हिन्दी भी नही आती प्रोफेसर ने कहा– अरे–रे तुम्हारी तो 50 प्रतिशत जिन्दगी पानी में चली गई। फिर प्रोफेसर ने पूछा–क्या तुम्हें सूर्य–चन्द्रमा के बारे में कुछ मालूम है ? नाविक थोडा झेंपकर बोला–साब मुझे मात्र नदी पार कराने के अलावा कुछ भी नहीं आता। तब प्रोफेसर मूँछ पर ताँव देते हुए बोला ओह हो–तुम्हारी तो 75 प्रतिशत जिन्दगी पानी में चली गई। इतने में नदी में तूफान आ गया। हवा के थपेड़ों के संग नाव डगमगाने लगी।

प्रोफेसर साहब घबराने लगे–नाविक ने प्रोफेसर साहब से विनम्रता से पूछा–साब ! क्या आपको तैरना आता है ? प्रोफेसर ने कहा–नहीं आता। नाविक मुस्कराते हुए बोला–अरे ! मेरी तो 75 प्रतिशत जिन्दगी पानी में चली गयी, अब तो आपकी 100 प्रतिशत जिन्दगी पानी में चली जायेगी। नाविक कूद कर नदी पार कर गया, पढे–लिखे प्रोफेसर साहब तूफान के कारण नदी में डूब गये। सच है–ज्ञान कार्यकारी नहीं, क्रिया कार्यकारी है।

भव तरने के लिए ज्ञान की आवश्यकता नहीं, विवेक की आवश्यकता है। जहॉ ज्ञान के साथ क्रिया है वही मुक्ति है। इसलिए आचार्यो ने कहा–''गधे की पीठ पर चन्दन का भार लाद देने से उसे चन्दन की खुशबू का एहसास नही होता अपितु भार का एहसास होता है।''

उसी प्रकार मात्र ज्ञानोपार्जक शब्द का बोझ सिर पर लादता है–चारित्र की सुगन्ध नहीं प्रगट कर सकता। अतः मनुष्य को चाहिए अरहन्त देव की दिव्य–ध्वनि रूप जिन शास्त्रों का अध्ययन करके आचरण में अवतरित करे और संसार से पार होने की चेष्टा करें, क्योंकि जिनवाणी निर्मल गुणों की खान है। समस्त विज्ञान का बीज है। मुनियों द्वारा सेवनीय है। समस्त तत्वों को प्रकाशित करने के लिए उत्तम दीपक है। पाप रूपी–मेघों को उड़ाने के लिए प्रचण्ड वायु है, पुण्य प्राप्ति के लिए तीर्थ है तथा मन रूपी हाथी को वश में करने के लिए सिंह के समान है। इसलिए **जैनत्व का बोध** करनें, जिनवाणी को हृदय में धारे, आराधना करें और स्वयं की आत्मा का कल्याण करें।

"गुरु"

पिच्छी लेकर नग्न रहें और केश लोंच जो करते है।
तन श्रृंगार रहित वे होकर बाईस परिषह सहते है।।
स्व आतम कल्याण करें व पर को मार्ग बताते है।
सुलझाते जो मन की ग्रन्थियाँ सद्गुरु वे कहलाते है।।4।।

अर्थ :

जो नग्न रहते हैं, पिच्छी धारण करते हैं, केश लोंच करते हैं शरीर श्रृंगार से रहित होते है बाइस परिषह सहन करते है अपनी आत्मा का कल्याण करते हुए अन्य जीवो को कल्याण का मार्ग बतलाते हैं तथा भव्य जीवों के मन की ग्रन्थियों को सुलझाते है वे सद्गुरु कहलाते हैं।

विवेक विकासिनी विवेचन :

जैनत्व का बोध जिसे होता है उसे देव–शास्त्र की पहचान करने के बाद गुरु की जानकारी का होना भी आवश्यक है, क्योंकि देव–शास्त्र–गुरु तीनों की पहचान के साथ श्रद्धा किये बिना मोक्ष मार्ग प्रशस्त नहीं होता। देव एवं शास्त्र तो वर्तमान काल में मौन हैं, गुरु मुखर है। उनके सम्मुख कोई भी गलत क्रिया नहीं की जा सकती। इसलिए गुरु बनाना आवश्यक है। गुरु का कार्य मात्र मनुष्य को भगवान के सम्मुख करना है। जिस प्रकार बिना पति को स्वीकार किये कोई स्त्री पुत्र को जन्म देती है तो वह स्त्री व्यभिचारिणी कहलाती है वह सम्मानित व समाज द्वारा स्वीकृत नही होती उसी प्रकार जो बिना गुरु बनाये अपने आपको सम्यक् दृष्टि मोक्ष मार्गी कहता है। वह दोषकारी मनुष्य है, छली है, दम्भी है वह जीव जिन धर्म की दृष्टि से न तो सम्यक् दृष्टि है, न ही परमार्थ से जैन है, न ही कल्याण कर्त्ता के रूप में समाज द्वारा स्वीकृत है; क्योंकि बिना गुरु बनाये आध्यात्मिक जीवन शुरू नहीं होता। जिस प्रकार पिता बनने के पूर्व पुत्र, वृक्ष बने के पूर्व बीज, भगवान बनने के पूर्व भक्त बनना आवश्यक है; उसी प्रकार गुरु बनने के पूर्व शिष्य बनना आवश्यक है। गुरु बनाने का अर्थ है कि हमने परमात्मा की याद दिलाने वाले को चुन लिया। हमें कोई पथ–प्रदर्शक मिल गया। मोह के देश में भ्रमित अनजान पथिक को मोक्ष की सम्यक् राह गुरु ही दिखाते हैं। आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान हैं। उस विद्यमान शक्ति को कैसे प्रगट करें, इस बात की शिक्षा गुरु ही देते हैं। गुरु आचरण के शिखर होते हैं, वही हमारे जीवन का उद्घाटन करते

है। गुरु का अर्थ ही होता है–'गु' गूढतम 'र' रहस्यों 'उ' उद्‌घाटित करने वाला। जो हमारे जीवन के गूढतम रहस्यो को उद्‌घाटित करने वाले है वही गुरु है। इसलिए कहा है–

"गुरुर्विधाता गुरूरेव दाता।
गुरुः स्वबन्धुर्गुणरत्न सिन्धुः।।
गुरु विर्नेता गुरु देव तातो।
गुरुर्विमोक्षो हत कर्म पक्षः।।"

अर्थात् गुरु ही विधाता है, गुरु ही दाता है, गुरु ही स्वकीय बन्धु है, गुरु ही गुण रूपी रत्नों के सागर हैं, गुरु ही शिक्षक है गुरु ही पिता है और कर्म समूह को नष्ट करने वाले गुरु ही मोक्ष है। ऐसे गुरु को नमस्कार हो, क्योंकि सद्‌गुरु हमें भटकती हुई भीड, अज्ञान व अंध विश्वास से बाहर निकालते है।

अब प्रश्न उठता है कि–गुरु बनाये तो किसे बनाये ? किसे मार्ग–दर्शक चुने, क्योंकि संसार में अनेक गुरु हैं। माता–पिता गुरु है, शिक्षक गुरु है, विद्या गुरु है, सत्ता गुरु है। ये सब गुरु नाम से जाने जाते है पर गुरु पद से इनका आध्यात्मिक दृष्टि से दूर तक का सम्बन्ध नही है। आध्यात्मिक दृष्टि से गुरु वही हो सकता है जो–

पिच्छी लेकर नग्न रहे और केश लोंच जो करते हैं
तन श्रृंगार रहित वे होकर बाईस परिषह सहते हैं।

मोक्ष मार्ग पर चलने वाले जीवो के लिए गुरु वही हो सकता है जो पिच्छी कमण्डल का धारी हो, नग्नता को जिसने स्वीकार किया हो, केश लोच करते हो, शरीर श्रृंगार से रहित हो और बाईस परिषहों को सहन करते हो वही गुरु हो सकते हैं। प्रथम विशेषता है पिच्छी का ग्रहण करना अर्थात् जिन्होने **पि**–यानि जिन्होंने सदाचरण का दया धर्म का वीतरागता का अमृत पान कर लिया हो और **छी** यानि दुराचरण को क्रूरता को अश्लीलता को छोड दिया हो वह गुरु बनने के योग्य है पिच्छी अर्थात जीवरक्षार्थ मयूर पंख से बनाई गई झाडु नुमा उपकरण को पिच्छी कहते हैं, पिच्छी अहिंसा व्रत की बाह्य सुरक्षा करता है दृष्टि से दिखाई न पडने वाले जीवों की रक्षा के लिए यह उपकरण है सन्त जन जहॉं कहीं बैठते है उठते है वस्तु को रखते हैं उठाते हैं उस स्थान को एवं उस वस्तु को एक बार परिमार्जित कर लेते हैं वह मोर का पंख जीवो को मुनिराज के माध्यम से अभयदान देता है उसी पुण्य के बल पर ही मोर को राष्ट्रीय पक्षी का सम्मान मिला और अभय दान प्राप्त हुआ यह पिच्छी जिसके हाथों में आ जाती उसके कर्मो का पिछा छुडा देती है 'इस पिच्छी' में पॉंच गुण होते हैं मूलाचार ग्रन्थ में कहा है–

रजसेदाणमगहणं मद्दव सुकुमालता लघुत्तं च
जत्थेदे पंच गुणा तं पडिलिहणं पंसंसंति।।

धूलि को ग्रहण नहीं करना, पसीना का ग्रहण नहीं करना, मृदुहोना अर्थात आँखों पर फेरने से भी कष्ट नहीं होता इतना मृदु होना, चौथा सुकुमारता पाँचवॉ हल्का होना ये पॉच गुण प्रतिलेखन (पिच्छी) के सामान्य गुण हैं जो इसे धारण करता है उसमें 50 गुण अवश्य ही होते हैं यह पिच्छीका दिगम्बर जैन साधक के पहचान का चिन्ह है इसको बनाने में प्राणियों का घात नहीं होता कार्तिक मास मे स्वतः ही ये पंख गिर जाते हैं इस लिए यह निर्दोष है गुरु अर्थात् मुनि का यह प्रथम पहचान रूप लक्षण पिच्छी का ग्रहण है इस पिच्छी के बिना मुनिराज सात कदम भी नहीं चल सकते हैं। अगर चलते हैं तो प्रायश्चित ग्रहण करना पडता है। अर्थात् **''णिपिच्छे णत्थि णिव्वाण''** बिना पिच्छी ग्रहण किये किसी को भी निर्वाण की प्राप्ति नही होती पर मात्र पिच्छी ग्रहण करने वाला गुरु (मुनि) नहीं हो सकता पिच्छी तो एलक आर्यिका भी धारण करते हैं पर गुरू मे दूसरा गुण है नग्नता अर्थात् बालकवत् निर्विकार नग्न रूप का होना जो इन्द्रिय जय का प्रतीक है केश लोच करना उनकी उत्कृष्ट साधना का प्रतीक है तथा शरीर शृंगार रहित पना उनके निस्पृहता का प्रतीक है इन प्रतिकात्मक चार वाह्य लक्षण का निरीक्षण किये बिना किसी भी साधक को गुरु बनाने वाला जीव पत्थर की नौका में बैठकर नदी पार करने की इच्छा रखता है गुरु की महिमा सर्वाधिक है क्योंकि गुरु ही जीवनरूपी नौका के खिवैय्या होते हैं। गुरु हृदय को जागृत करते हैं गुरु ही जीवनोत्थान की प्रेरणा देते हैं गुरु ही भव भ्रमण से मुक्ति दिलाते हैं गुरु शिष्य की बुद्धि को परिमार्जित कर विवेक का विकास करते हैं गुरु पथ के कष्टों को हटाकर सुगम पथ पर हमें चलाते हैं जो चलाने वाले है वे निश्चित ही चलना जानते हैं और मोक्ष मार्ग के अनुरूप ही साधना करते हैं निर्वाण की साधना करने वाला ही सच्चा साधक होता है साधक की साधनाक्रम को बताते हुए आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है–

''विषयाशावशातीतो निरारंभो परिग्रह।
ज्ञान-ध्यान तपोरक्तः तपस्वी सः प्रशस्यते।।''

आचार्य समन्तभद्र ने उन्हें ही गुरु कहा है–जो विषय आशाओं से रहित हैं। यह गुरु पद के योग जीव का पहला विशेषण है। विषय का अर्थ होता है–इन्द्रिय एवं मन को अच्छे लगने वाले पदार्थ तथा इनके प्रति आसक्ति का भाव ही विषयाशक्ति है; जो स्पर्श रसना घ्राण, चक्षु एवं कर्ण इन्द्रियों के विषयो को चाहता है। उसकी इच्छा–पूर्ति के लिए सतत् प्रयत्न करता है। उसे हर तरह से सन्तुष्ट रखने की चेष्टा करता है। इन्द्रियों को विषयों में आसक्त होकर साधना को बर्बाद करता है। वह गुरु पद के योग्य नहीं है जो पंचेन्द्रियो के विषयों में फॅसा है वही आशावान है। वह इन्द्रिय तृप्ति के लिए भविष्य मे प्राप्त होगा। इस विचार से भरा रहता है। अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति की आकांक्षा में अपना

धर्म व भविष्य खण्डित करता है, क्योंकि आशा के गड्ढे मे सारा विश्व परमाणु मात्र प्रतीत होता है। आशा की अग्नि मनुष्य को चारों ओर से जलाती है। आशा की पूर्ति करना अग्नि को घी डालकर बुझाना है, जो अशाओ से सहित है। वह कभी भी निरारंभी नहीं होता, क्योंकि विषयों की आशा से भरा प्राणी विषयो की तृप्ति के लिए अनेक प्रकार के आरम्भ करता है और अनेक प्रकार की हिसाए भी करता है। उसके भीतर आशा तरह–तरह के पाप करने को प्रेरित करती है। जब वह आशा की तृप्ति के लिए 'नये–नये' आरम्भ करता है तो परिग्रह की बढोत्तरी हो जाती है और उस परिग्रह को बढ़ाने वह चिन्ता युक्त हो, मोहाभिभूत हो–सोना–चॉदी, धन–धान्य, दासी–दास, बर्तन, वस्त्र, खेत, मकान आदि दस प्रकार के बाह्य परिग्रह एव मिथ्यात्व, क्रोध, मान, माया, लोभ, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्री वेद, पुरुष वेद, नपुंसक वेद इस प्रकार 14 अन्तरंग परिग्रह मे युक्त हो जाता है। इन 24 प्रकार के परिग्रह से युक्त जीव ज्ञान–ध्यान–तप में लवलीन नही रह सकता है। वह पचेन्द्रिय एवं मन के 20 विषयों की आकांक्षा से भरा रहता है। जब तक विषयाशा है तब तक आरंभ है, जब तक आरम्भ है तब तक परिग्रह है। जब तक परिग्रह है, तब तक ज्ञान–ध्यान–तप नही है। जब तक ज्ञान–ध्यान–तप नहीं होता, तब तक गुरुपना भी नही आ सकता है। गुरु–पद को प्राप्त करने पंचेन्द्रिय और मन के 20 विषयो का त्याग करके 28 मूलगुणो को धारण करना परमावश्यक है।

जब साधक बनने का इच्छुक जीव विषय आशाओ से रहित हो जाता है। निरारभी अपरिग्रही हो जाता है तब उसके राग–द्वेष समाप्त होने लगते है और वह ज्ञान–ध्यान–तप में लवलीन हो जाता है; क्योकि वह जीव ज्ञान के माध्यम से इन्द्रियो के विषयों की वास्तविकता को जानता है और वह विषयासक्ति से रहित हो जाता है। जिससे उसके कर्माश्रव का द्वार बन्द हो जाता है, जब अशुभ कर्माश्रव का द्वार बन्द हो जाता है, तब साधक ध्यान की गहराई में प्रवेश करता है, क्योंकि इस संसार मे परिग्रह और परिचय ही आत्म–ध्यान में बाधक हैं। ज्ञान की स्थिरता ही ध्यान है। और ध्यान ही कर्म क्षय में कारण है। इसलिए विषय आशा से रहित निरारंभी व अपरिग्रही मुनि ज्ञान ध्यान तप में लवलीन होकर आत्मोद्धार करते हैं–

तीन की निवृत्ति तथा तीन मे प्रवृत्ति गहरे रहस्य को प्रगट करती है; क्योंकि जो ज्ञानी होता है वही विषय आशा से रहित होता है। जो ध्यानी होता है, वही निरारंभी होता है और जो तपस्वी होता है वही अपरिग्रही होता है।

ज्ञान से ध्यान श्रेष्ठ है और ध्यान से तप श्रेष्ठ है तप की उत्कृष्टता ही ध्यान की उत्कृष्टता पर ले जाती है और ज्ञान की उत्कृष्टता केवल ज्ञान को प्राप्त कराती है। ज्ञान ध्यान तप में लवलीन रहने वाले साधक की दृष्टि में शत्रु, मित्र, वन, भवन, मणि,

कॉच महल, श्मशान, मान–अपमान, सम्पत्ति–विपत्ति सब एक समान नजर आते हैं। उनकी आत्मा चिन्तन एवं पर कल्याण में लगी रहती हैं।

जो साधक संसार भ्रमण से बचने हेतु विषयाभिलाषा से रहित होकर संसारोद्वारक परम वीतरागी निस्पृह वृत्ति को धारण करता है। वह शान्तिदायक साधक ही वन्दनीय होता है। आचार्य कुन्द–कुन्द देव ने दर्शन पाहुड में कहा है–

असंजदं ण वन्दे वत्थ विहीणोवि योग वंदिज्ज।
दोण्णि विहोंति समाणा एगोविण संजदो होदि।।

असंयमी को नमस्कार नहीं करना चाहिए और जिनके भाव संयम (पदार्थों से विरक्ति) न हो और बाह्य में नग्न हो, वह भी वन्दना योग्य नहीं है, क्योंकि पिच्छी से रहित नग्नता को भी कई जीव स्वीकार लेते हैं पर जिन मार्गानुरूप संयम साधना न होने से वे वन्दनीय गुरू रूप में कदापि नही है दिगम्बर मुनिराज ही पूज्य हैं। आचार्य कह रहे हैं कोरी नग्नता पूज्य नहीं है। नग्न रहने के साथ गुण व आचरण का होना आवश्यक है। महावीर का मार्ग विवेक का मार्ग है प्रज्ञा का मार्ग है। अंधश्रद्धालुओं का मार्ग नहीं है। इस दुस्सम पंचम काल में संसार से विरक्त होना बडा दुलर्भ है। विरक्ति होने के उपरान्त बाह्य वेश में निर्दोषता कायम रखना और भी दुर्लभ है। बाह्य वेश को धारण कर अन्तरंग की साधना में गहरे उतरना अत्यन्त दुर्लभ है। आज वैराग्य का उत्पन्न होना सरल है वैराग्य का स्थिर होना कठिन है। इसलिए साधक साधना से च्युत होकर भौतिकता में फॅस जाता है और अपनी बाह्य नग्नता को ही परमात्मा देने का साक्षात् कारण मान लेता है। पर भगवान महावीर स्वामी कहते हैं कि–

नग्न होने मात्र से परमात्मा नहीं मिलता अगर नग्न होने मात्र से परमात्मा मिलता तो सारे पशु–पक्षी परमात्मा हो जाते। लेकिन नहीं परमात्मा बनने के लिए नग्नता के साथ वीतरागता का होना परमावश्यक है। वीतरागतापूर्वक नग्न रहने वाला साधक ख्याति पूजा लाभ से रहित परमात्मा की साधना करता है अगर नग्न होकर नग्नता के विपरीत कार्य करता है, वह स्वयं के साथ छल धर्म के साथ मजाक, समाज के साथ कपट और भक्तों के साथ विश्वास घात करता है स्वयं को ठगता है और दुर्गति का बन्ध करता है। क्योंकि उसकी बाह्य नग्नता जिन धर्म के विरुद्ध है। इसलिए

"पिच्छी लेकर नग्न रहे और केश लोंच जो करते हैं"

पहले गुरु का लक्षण दिया और श्रावकों से कह दिया देव, शास्त्र, गुरु को देख लेना, निरीक्षण कर लेना। निरीक्षण करने का सभी को अधिकार है। परीक्षण मात्र उस पद से उत्कृष्ट गुणधारी ही कर सकता है। गुणहीन परीक्षा करके धर्म से वंचित ही होता है। इसलिए देव, शास्त्र, गुरु के बाह्य लक्षण का निरीक्षण कर उसकी प्रशंसा करनी चाहिए

और समर्पित होकर गुरु बना लेना चाहिए; क्योंकि इस गुण से युक्त नग्न मुद्रा जिन मुद्रा है। वही **"मुद्रा एवं मान्यास्यात्"** वही जिन मुद्रा मान्य है। यहि दिगम्बर मुद्रा सम्यक् दर्शन देने में कारण है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा कि–**"ज्ञान ध्यान तपोरक्तः।"**

अर्थात् श्रावक को सम्यक् दर्शन की प्राप्ति के लिए ज्ञान ध्यानतप से युक्त साधु को स्वीकारना चाहिए, क्योंकि ज्ञान उपाध्याय पद का ध्यान साधु पद का एव तप आचार्य पद का द्योतक है। इसलिए श्रावक ज्ञान के लिए, उपाध्याय को शिक्षा गुरु के रूप में ध्यान के लिए, साधु को धर्म गुरु के रूप मे एवं तप के लिए आचार्य को दीक्षागुरु के रूप में स्वीकार करता है। अगर वह श्रावक शिक्षा–दीक्षा नही ले सकता तो **साहू शरणं पव्वज्जामि** कहकर उनकी शरण में जाता है और साधु परमेष्ठी को धर्मगुरु मानता है, क्योंकि तीनों परमेष्ठियों में शिक्षा–दीक्षा एवं धर्म देने का अधिकार है। कदाचित् परिस्थिति वशात् उनके आचरण में कोई कभी भी आ जाय तो वे अपने व्रतों से च्युत नहीं होते नहीं उनकी शिथिलता धर्म लोप करने के कारण बनती है न हीं वे शिथिल होकर अन्य परिग्रह धारी साधक के समान होते हैं शरीर स्वास्थ्य वाह्य वातावरण के कारण किञ्चित दूषण तो हो सकता है पर धर्म ध्वंसक नहीं हो सकते इसलिए धर्म रत्नाकर ग्रन्थ में आचार्य जयसेन कहते हैं।

साधुश्चारित्र हीनोऽपि समानो नान्य साधुभिः
भग्नोपि शातकुम्भस्य कुम्भो मृत्स्नाघटेरपि।

जिस प्रकार सोने का घडा फूटने के बाद भी मिट्टी के अनेक अच्छे घडे के समान नहीं होता उसी प्रकार जैन मुनि भी चरित्र से हीन होने पर भी अन्य अजैन साधुओं के समान कदापि नहीं होता वे धर्म गुरु थे है और पचम काल के अन्त तक रहेंगे वे धर्म गुरु दुर्लभ है। वे धर्म गुरु 28 मूल गुणो के धारी होते है। अर्थात् वे मुनिराज 5 महाव्रत 5 समिति 5 इन्द्रिय निरोधक 6 आवश्यक एवं 7 शेष गुणों का पालन करते हैं।

जिस प्रकार मकान मे जो स्थान नीव का होता है, शून्य मे जो स्थान अंक का होता है, शरीर में जो स्थान आत्मा का होता है, देश मे जो स्थान सम्राट का होता है, वन में जो स्थान सिह का होता है उसी प्रकार मूल–गुणों मे वही स्थान महाव्रत है। योगत्रय से परिपूर्ण पाप निवृत्ति को महाव्रत कहते हैं। जो व्रत महान् होते हैं वही महाव्रत है। गुरु एवं प्रभु बनने के योग्य जीव इस महाव्रत को स्वीकार करते हैं। महान् पुरुषों के द्वारा पाले जाने के कारण इसे महाव्रत कहा गया है।

तीर्थंकरादि मोक्षगामी महान आत्माओं ने अपने जीवन में इन व्रतों को धारण करके मोक्ष सुख प्राप्त किया है। इसलिए इसे महाव्रत कहते हैं। इन पाँच महाव्रतों में सर्वप्रथम **अहिंसा महाव्रत** को रखा है। मन–वचन–काय से इन्द्रियकाय, गुण स्थान, मार्गणा स्थान,

कुल आयु योनि इनमें सब जीवों को जानकर सभी क्रियाओं में इन सभी जीवों की सुरक्षा करना अपनी आत्मा के समान सम्पूर्ण जीवराशि को मानकर दया पालन करना अहिंसा महाव्रत है।

अहिंसा महाव्रत का धारक साधक ऐसा कोई भी कार्य नहीं करता है, न करवाता है जिससे प्रत्यक्ष–अप्रत्यक्ष हिंसा होती हो। हिंसात्मक क्रिया में मुनिराज ज्ञात भाव से सदा सावधान रहते हैं तभी अहिंसा महाव्रत का पालन हो पाता है कदाचित धर्म प्रभावनार्थ, संस्कार संस्कृति स्थापनार्थ अगर मुनिराज उपदेश देते है अनुमोदना करते है तो वह दोष पूर्ण नही है क्योकि उद्देश्य धर्म जागृति का है। उस क्रिया मे आरंभ अवश्य दृष्टि गोचर होता है पर वह त्रस हिंसात्मक नही है कदाचित स्थावर हिंसा भी हो तो **''सावद्यलेशो बहु पुण्य राशौ''** के सूत्र को चारितार्थ कर प्रभु की आराधना, उपासना, शिक्षा उपदेशगत संस्कारों का जागरण है। दूसरे नम्बर पर **सत्य महाव्रत** को रखा है। अर्थात् राग–द्वेष, मोह आदि कारणों से असत्य वचनों को तथा दूसरे को संतापित करने वाले वचनों को छोडना हितमितप्रिय आगमोक्त प्रशस्त प्राशुक वचन का बोलना सत्य महाव्रत है। सत्य महाव्रत का धारक साधक स्नेह के वशीभूत हो परिचित अपरिचित किसी भी व्यक्ति से व्यंग रूप मे मजाक मे अथवा किसी को आकर्षित करने, मन बहलाने अथवा अपना प्रभुत्त्व जमाने के लिए असत्य वचन न बोलते हैं, न बुलवाते हैं। असत्यात्मक वार्ता से सदा बचते हैं। उन्हीं के सत्य महाव्रत का पालन होता है। तीसरे नम्बर पर **अचौर्य महाव्रत** को रखा है। अर्थात् सम्पूर्ण प्रकार से पराई वस्तु को अधिकार रहित वस्तु को अथवा गिरि–पडी भूली रखी वस्तु का न ग्रहण करना, न अपनत्व की भावना लाना अचौर्य महाव्रत है। अचौर्य महाव्रतधारी साधक पराई वस्तु के साथ काव्य घटना आदि को भी नहीं लेता और न ही अपने नाम से उसे कहता है। अगर साधक पर के काव्य आदि का नाम छुपाकर अपने नाम से प्रगट करता है तो वह चोरी का दोष उपार्जित करता है।

नाम ज्ञात न हो तो–किसी ने कहा है–यह भाव प्रगट करता है कदाचित् उपयोग भी करता है तो धर्म शिक्षा विस्तारार्थ करता है। स्वनाम प्रचारार्थ नहीं करता है। जो मन–वच–काय से पर वस्तु की इच्छा नहीं करते उन्हीं साधक के अचौर्य महाव्रत का पालन होता है।

चौथे नम्बर पर **ब्रह्मचर्य महाव्रत** को रखा है अर्थात् माता पुत्री बहन के समान वृद्धा बालिका और तरुण स्त्रियों को समझकर उससे मन वचन काय से विरक्त होना एवं अपनी आत्मा में रमण करना, बहिर्मुखी शक्ति को अन्तर्मुखी बनाना ब्रह्मचर्य महाव्रत है। ब्रह्मचर्य महाव्रत का धारी साधक स्त्री के चित्र–स्टेच्यू या अन्य स्त्री चित्र से युक्त वस्तु

का न उपयोग करता है, न उससे हास्य–परिहास करता है, सदैव उससे अपनी निगाह व मन को बचाकर रखता है। उसी साधक के प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष ब्रह्मचर्य महाव्रत का पालन होता है।

पाँचवें नम्बर पर **अपरिग्रह महाव्रत** रखा है अर्थात् अन्तरंग बहिरंग 24 प्रकार के परिग्रह से रहित तथा श्रमण योग्य समस्त उपकरण को छोडकर अधिकार रहित समस्त वस्तुओं का ग्रहण न करना। मूर्च्छारहित परिणाम का होना अपरिग्रह महाव्रत है। अपरिग्रह महाव्रत का धारक पिच्छी–कमण्डल, डायरी–कागज–पेन ज्ञान के साधन उपकरणों को छोडकर समस्त वस्तुओं में अधिकार रहित हो, उपयोग करता है पर अपनत्व की भावना नहीं लाता है, अगर किसी साधक ने जाप्य करने माला स्वीकार लिया हो दृष्टि के विस्तारार्थ चश्मा आदि ग्रहण करता हो तो वह परिग्रह नही हैं वह तो मात्र प्रभुस्मरण एवं इर्याएषणा समिति के पालनार्थ अध्यनार्थ जीव अवलोकनार्थ एक उपयोग की वस्तु है परिग्रह वह है जिससे मात्र मन व्यामोहित हो और धर्म का नाश होने लगे वही परिग्रह है और जो इन परिग्रह से रहित हो उसी साधक के अपरिग्रह महाव्रत का पालन होता है।

ये पाँच महाव्रत मोक्ष मार्ग में गमन करने के लिए पॉव के समान हैं, तथा इसी महाव्रत की संयोगिनी पॉच समितियॉ ऑख के समान है। आचार्यो ने ग्रन्थों मे कहा है–**"रत्नत्रय मार्गेण परम धर्मिणा मात्मानं सम्यग्इति परिणतिः समितिः।"** रत्नत्रय मार्ग में परम धार्मिक आत्माओं का सम्यक्रीति से परिणत होना, गमन करना समिति हैं। समिति धारक साधक अन्तरंग चक्षु के साथ बहिरंग चक्षु का प्रयोग करके विवेक पूर्वक समस्त शारीरिक क्रियायें करता है।

आचार्यो ने पांच समितियों में सर्वप्रथम **'ईया समिति'** को रखा है। अर्थात् निर्जन्तुक मार्ग में सूर्योदय होने पर या प्राकृतिक प्रकाश में हस्त की रेखा स्पष्ट दिखाई पड़ने पर चार हाथ प्रमाण जमीन देखकर एकाग्रचित होकर सावधानीपूर्वक शास्त्र श्रवण, तीर्थयात्रा, गुरु–वन्दना, आहार एवं धर्म–कार्य हेतु शरीर सकोच कर जीव रक्षा करते हुए मार्ग में चलना ईर्या समिति हैं। ईर्या समिति का धारक साधक सूक्ष्म–जीवों की सुरक्षा की भावना रखता हुआ विचार करता है कि जिस प्रकार मेरे भीतर परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है उसी प्रकार इस जीव के अन्दर भी परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। अगर मेरी अयत्नाचार पूर्वक चेष्टा से जीवों का घात होता है तो एक भावी परमात्मा का घात होगा। मेरे द्वारा किसी भावी परमात्मा का घात न हो, वह भी मोक्ष मार्ग का पथिक बने इस भावों से परिपूर्ण साधक ईर्यासमिति का पालन चेष्टापूर्वक करता है।

दूसरे नम्बर पर **'भाषा समिति'** को रखा है। अर्थात् सिद्धान्त एवं अध्यात्म मार्ग से

सहित छल–कपट, ईर्ष्या–द्वेष, हास्य, कलह, पर निन्दा आत्म प्रशंसा, विकथा, राग द्वेषोत्पादक वचन का उच्चारण न करके कर्ण प्रिय वचनों का बोलना भाषा समिति है। वाणी–वीणा का भी कार्य करती है और बाण का भी कार्य करती है। वाणी जोड़ने का भी कार्य करती है और तोड़ने का भी कार्य करती है। वचन उच्चारण के पूर्व साधक अपने उच्चारित वाणी के बारे में सोच लेता है कि यह वाणी किसी को गिराने में, अपमानित करने में, गलत पथ पर ले जाने में कारण तो नहीं है। जो साधक शब्दों का उपयोग विलास के लिए, नहीं, आचरण के विकास के लिए करता है। उसी साधक के भाषा समिति का निरतिचार पालन होता है। भाषा समिति का पालन करने वाले सन्त कदाचित समाज में रहते हुए धर्म भ्रष्ट, निन्दक, धर्मसंस्कार संस्कृति ध्वंसक मात्र बुद्धिवादी होकर आगम की आढ मे मुनित्व को उपेक्षित करने वाले, जिनवाणी को परिवर्तित करने वाले, स्वयं आचरण हीन हो जिन कुल में उत्पन्न होकर भी जिन धर्म धारक मुनि वेश की अवमानना करता हो अनर्गल प्रलाप करता हो तो उसके लिए तीक्ष्ण उपेक्षा से परिपूर्ण कठोर शब्दों का भी उपयोग करते हैं वह शब्द मन से नहीं मात्र वचन से कहते हैं उनके मन में उस वक्त भी करुणा होती है कि पुण्योदय से जिनकुल पाया जिनमार्ग को क्यों निजी स्वार्थ के वशीभूत हो कलंकित कर रहे हो क्यो जिनपथानुयायी की निन्दा कर श्रद्धा को तोड़कर स्वयं दुर्गति का बंध कर रहे हो इस करुणा की भावना से भाषा समिति के साथ कठोर वचनों का प्रहार करते हैं। ताकि मन की भ्रम पूर्ण स्थिति शान्त हो और सम्यकज्ञान का पुष्प खिले। कहा भी है–

विकासयन्ति भव्यस्य मनोमुकुल मंशवः,
खेरिवारविदस्य कठोराश्च गुरुक्तयः।।

गुरु के कठोर वचन भव्यों के मन को इस प्रकार प्रफुल्लित करते हैं जिस प्रकार सूर्य की कठोर किरणें कमल को खिला देती हैं उसी प्रकार गुरु के कठोर वचन मन कमल को खिला देती हैं।

तीसरे नम्बर पर **'एषणा समिति'** को रखा है। अर्थात् असाता वेदनीय कर्मोदय से उठने वाली क्षुधा वेदना के निवारणार्थ सेवा स्वाध्याय ध्यान ज्ञान की इच्छा को परिपुष्ट करने शरीर रूपी गाडी से मोक्ष की यात्रा करने वाले साधक साधना की वृद्धि के लिए अनुमोदना रहित कुलीन श्रावक के घर अनासक्ति भाव से यत्नाचार पूर्वक उद्गम–उत्पादनादि 46 दोषों से रहित शुद्ध प्राशुक प्रशस्त परहस्त द्वारा दिये गये भोजन को राग–द्वेष रहित होकर शोध कर ग्रहण करना एषणा समिति हैं।

रसना इन्द्रिय सबसे ज्यादा माँग करती है। रसना इन्द्रिय की आकांक्षा को पूर्ण करने वाला साधक कामेन्द्रिय को जाग्रत करता है। रसनाइन्द्रिय साधना के रस को बेरस कर

देती है और स्वाद के पीछे भागने लगती है। अत: साधक को अनुमोदन रहित भक्ष्य भोजन देखकर गिद्धता रहित शरीर स्वास्थ्य साधना के अनुकूल आहार ग्रहण करना चाहिए। जो साधक अशन की तृष्णा से रहित होता है। वही साधक एषणा समिति का परिपूर्ण पालन करता है।

चौथे नम्बर पर **'आदान निक्षेपण समिति'** को रखा है। अर्थात् जीव रक्षा हेतु शास्त्र कमण्डल चटाई या अन्य कोई भी पदार्थ उठाते रखते वक्त ऑखो से देखकर पिच्छी से परिमार्जित कर उठाना एव रखना आदान निक्षेषण समिति है। आदान–निक्षेपण समिति का पालक किसी भी सामग्री को फेककर नहीं देता, जो वस्तु दिखाई न पडे ऐसे ऊपर किसी ताक मे रखी पुस्तकादि वस्तु को अन्दाज से बिना देखे न उठाता है, न रखता है। जो साधक अन्तरग दया की भावना से परिपूर्ण हो, समस्त कार्य करता है, उसी साधक के आदान निक्षेपण समिति पलती है।

पॉचवे नम्बर पर **'प्रतिष्ठापन समिति'** को रखा है। अर्थात् साधना के जल से आत्म कर्ममल को साफ करने वाले साधक शरीर मल की निवृत्ति प्रासुक स्वच्छ निर्जन्तुक स्थान मे मल–मूत्र का विसर्जन करना प्रतिष्ठान समिति है। प्रतिष्ठापन समिति का धारक साधक जन संचार रहित एकान्त स्थान में विरोध–रहित स्थान में मल–विसर्जन करते हैं। वर्तमान में शहर के मध्य जिनालय मे साधक आत्म साधना करते है। वहॉ एकान्त भूमि के अभाव में साधक निर्जन्तुक स्थान पर विवेक पूर्वक शारीरिक क्रियाओ की निवृत्ति करते हैं जो श्रावक या साधक यह सोचते है कि शहरों में विचरण करने वाले साधको की प्रतिष्ठापन समिति नही पलती है वे धर्म की प्रभावना नही स्वयं की प्रभावना चाहते हैं शहर में स्वच्छ सुखे एकान्त स्थान पर शारीरिक क्रियाओं से निवृत होना पाप पूर्ण चर्या नहीं विवेक पूर्वक क्रिया है। संयमी साधक नाक, कान, मुख आदि के मल का विसर्जन भी एकान्त में करते हैं। थूक अथवा नासिका मल में रेत या मिट्टी डाल देते हैं अथवा पानी से बहा देते है ताकि मक्खी, चींटी आदि जीव चिपक कर मरण को प्राप्त न हो जाये। इस प्रकार की शुद्ध भावना से परिपूर्ण साधक यत्नाचार पूर्वक प्रतिष्ठापन समिति का पालन कर मोक्ष में स्वयं को प्रतिष्ठापित करते है।

यत्नाचार पूर्वक की जाने वाली क्रिया में कदाचित् हिंसा हो भी जाये तो वह हिंसा पापाश्रव में कारण नहीं है। वैसे इस संसार में सभी जगह जीव ही जीव हैं। सम्पूर्ण जीवों की सुरक्षा करना अशक्य है पर यत्नाचार की प्रवृत्ति उसे पाप से इस प्रकार निवृत्त रखती है जैसे कवच पहने योद्धा शत्रु के बाणों से बचे रहते हैं। जिस प्रकार धनवान के घर में पहरा देने वाला चौकीदार अपने मालिक की धन सम्पत्ति की, प्राणों की सुरक्षा के लिए सदैव जागता रहता है और पहरा देता रहता है। कदाचित् जाग्रत अवस्था में कोई डाकू

आये और पहरेदार का मुख बन्द कर देवें, हाथ–पैर आदि बाँध देवें और घर का सारा सामान गायब कर चला जावें तो प्रात:काल जागकर मालिक चौकीदार की दुरावस्था देखता है तो वह चौकीदार का अपराध नहीं समझता, न ही उस पर क्रोधित होता है, क्योंकि चौकीदार की चौकसी में कोई कमी नहीं थी पर उसको मजबूर करके डाकुओं ने धन हरण किया है। लेकिन कदाचित मालिक चौकीदार की ईमानदारी, पहरेदारी, होशियारी देखने हेतु असमय मे रात्रि में उठकर चौकीदार को देखे और उसे सोता पाये, कार्य के प्रति असावधान पाये तो घर में चोरी न होने पर भी मालिक उस पर नाराज होता है। उसको अपराधी समझता है, नौकरी से निकाल देता है। उचित दण्ड देता है उसी प्रकार आचार्य भी समिति के पालन की प्रमाद व अप्रमाद की क्रिया से हिसा दोष की प्रक्रिया बताई है। प्रमादपूर्ण क्रिया नियमत: पाप देने वाली है। अप्रमाद पूर्ण क्रिया विवेक सहित होने से पाप काटने में ही कारण है।

ये पॉच समिति सम्यक् रीति से संसार की इति कराती है। जिस प्रकार छतरी से युक्त पुरुष पानी में गमन करते हुए भी गीला नहीं होता, उसी प्रकार समिति से युक्त साधु जीवों से युक्त लोक में प्रवृत्ति करता हुआ भी पाप से लिप्त नहीं होता है।

सम्यक् प्रकार से संसार की इति का इच्छुक साधक अपने–अपने विषयों में दौडने वाली इन्द्रियों को भी अपने वश में करता है। वह इन्द्रियों का दास नहीं होता अपितु इन्द्रियों को अपना दास बनाता है। वह इन्द्रियों के पीछे नहीं भागता अपितु इन्द्रियाँ उसके पीछे भागती हैं। वह जानता है कि पॉचों इन्द्रियों को वश में किये बिना कषाय की अग्नि को बुझाना शक्य नहीं है। यह पॉचों इन्द्रियाँ अपने–अपने विषयों में प्रवृत्ति कराकर आत्मा को रागी–द्वेषी–मोही बनाती हैं और संसार में घुमाती हैं। जो अपनी इन्द्रियों को कछुऐं के समान सिकोड लेता है। अथवा इन्द्रिय रूपी चंचल बन्दर को वैराग्य भाव की रस्सी से बाँध लेता है। वही साधक साधना की सफलता को प्राप्त कर पाता है। ये इन्द्रियॉ भी पाँच हैं।

इन पॉच इन्द्रियों में सर्वप्रथम **स्पर्श इन्द्रिय** निरोध को रखा है। अर्थात् आत्मा का स्पर्श करने वाले साधक इन्द्रिय जन्य चेतन–अचेतन पदार्थ से उत्पन्न हुए कठोर मुलायम, रूखा, चिकना, हल्का, भारी, शीत और ऊष्ण ये आठ भेद जिनके हैं ऐसे स्पर्श इन्द्रिय के विषयों को प्राप्त कर हर्ष–विवाद नहीं करते हैं। वे जानते हैं कि इन्द्रियों के विषय क्षणिक सुख प्रदान करते हैं और अपने पीछे अनेक दुख छोड़कर चले जाते हैं।

जो दु:ख देकर जाते हैं उसे मैं क्यों स्वीकार करूँ। मैं सदा शाश्वत रहने वाले आत्मिक सुख को प्राप्त करूँगा। इन भावों से परिणत साधु स्पर्श इन्द्रिय के विषयों से विरक्त हो जाते हैं। ऐसे ही साधक स्पर्श इन्द्रिय निरोध कर पाते हैं। दूसरे नम्बर पर

रसना इन्द्रिय निरोध को रखा है। अर्थात् ज्ञायक स्वभावी चैतन्य पिण्ड शुद्धात्मा का **रसास्वादन करने वाले** मुनिराज खट्टा–मीठा, कडुआ–कषायला–चरपरा इन पॉचों रसों **की प्राप्ति अप्राप्ति** में राग–द्वेष नही करते हैं। वे ही साधक रसना इन्द्रिय के निरोध करने वाले होते **हैं**। रसना इन्द्रिय का निरोधक साधु आहार में खाद्य पदार्थ को गिद्धता से नहीं खाते, स्वादिष्ट पदार्थ की कामना नहीं करते, लेय–पेय पदार्थ के मिलने न मिलने पर रोष नहीं करते। मनानुसार आहार प्राप्ति की आकांक्षा नहीं करते हैं। अपितु शरीर की स्थिति के अनुसार साधना की वृद्धि हेतु आहार ग्रहण करते है और पराधीन चर्या के अनुसार प्रतिदिन घरो के बदलने सें स्वाद के अनुकुल भोजन नही स्वास्थ्य शरीर के अनुकुल ही भोजन ग्रहण करते है। जो साधक आहार क्रिया में लम्पटता, गिद्धता करते हैं वे साधक मछली की भॉति अपना ही गला फॅसाते हैं और साधना मे शिथिलता को लाते हैं और अपने संसार की वृद्धि करते है।

तीसरे नम्बर पर **घ्राण इन्द्रिय** निरोध को रखा है अर्थात् आत्मिक गुणों के उद्यान से प्रस्फूटित होने वाली आध्यात्मिक सुगन्धी का लाभ लेने वाले साधक बाहरी भौतिक सुगन्ध एवं दुर्गन्ध से विरक्त रहते है। शरीर सुगन्धित रहे, इन भावो से जो इत्र–फुलैल, तैल का भी प्रयोग नही करते है उनके ही घ्राण इन्द्रिय निरोध होता है।

चौथे नम्बर पर **चक्षु इन्द्रिय** निरोध को रखा है। अर्थात् परमात्म दर्शन के इच्छुक सन्त सचित्त अचित्त और सचित्ताचित्त द्रव्यों के रंग–रूप–हाव–भाव नृत्य–नाटक चित्र आदि को देखने की लालसा नहीं करते हैं। उन्हीं मुनिराज के चक्षु इन्द्रिय निरोध हैं। जो साधक चक्षु इन्द्रिय के माध्यम से सप्तरंगी रूपहली सुन्दर दुनिया की वस्तु का अवलोकन करना चाहते हैं। वे साधक अपनी साधना की हानि करते हैं। संसार में ऑखों के माध्यम से मन में शीघ्रता से विकार उत्पन्न होता है। इसलिए साधक अपने संयम की सुरक्षा के लिए चक्षु इन्द्रिय के विषयों से विरक्त रहते हैं।

पॉचवे नम्बर पर **कर्ण इन्द्रिय** निरोध को रखा है। अर्थात् ध्रुवधाम की मधुर ध्वनि सुनने के इच्छुक मुनिराज सप्तमधुर स्वरो को सुनकर न राग करते हैं, न कटुक स्वरों को सुनकर द्वेष करते हैं। साधक को प्रशंसा के शब्द सुनकर न प्रसन्न होना चाहिए, न निन्दा के वचन सुनकर नाराज होना चाहिए। दोनों विषयों में जो समता के धारी होते हैं। उन्हीं मुनिराज के कर्ण इन्द्रिय निरोध होता है।

आत्म–साधक दिगम्बर मुनिराज, पंचेन्द्रिय के विषयों को प्रारम्भ मे मधुर अन्त में कटु फलदायक मानकर, क्षणिक आनन्ददाता मानकर क्रमश· हाथी, मछली, भौंरा, पतंगा, हरिण की दुर्दशा का ख्याल रखते हुए इन पांचों इन्द्रियों के विषयों से विरक्त रहते हैं और अपनी साधना की वृद्धि के लिए षट आवश्यक क्रिया का पालन करते हैं। जो अवश्य मेव करने योग्य क्रिया से पूर्णतया च्युत है, वह साधक मात्र बाह्य–वेश का धारक

है। उसके भाग्य में अभी मोक्ष नहीं है। जो आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराते हैं वही आवश्यक होते हैं। ये आवश्यक छ: होते हैं–समता, वन्दना, स्तुति, प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और कायोत्सर्ग। इन षट् आवश्यकों में **समता** को सर्व प्रथम रखा है।

जीवन–मरण, लाभ–अलाभ, इष्ट–अनिष्ट, शत्रु–मित्र, सुख–दुःख, भूख–प्यास, शीत–उष्ण आदि सभी परिस्थितियों में शान्त भाव रखना समता है। जब तक वस्तु के प्रति मोह का भाव कम नहीं होता है, तब तक विषमता बनी रहती है। साधक जब महत्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए कोई कृत्य करता है तो उसकी समता कपूर की भांति उस समय उड जाती है जब मन मुताबिक कार्य नहीं होता है। इसलिए आचार्यो ने ख्याति पूजा लाभ से बचाने सर्वप्रथम समता आवश्यक को रखा है। विपरीत परिस्थित में भी धैर्य साहस गंभीरता से च्युत न होना समता है।

दूसरे नम्बर पर **'वन्दना'** आवश्यक को रखा है। अर्थात् एक तीर्थकर अथवा एक परमेष्ठी को सविनय, सविधि प्रणाम करना वन्दना है। यदि मुनिराज प्रवृति में रहते हुए भी अपने समान मुद्राधारी मुनिराज को यथायोग्य वन्दना नही करते हैं वे मुनि वन्दना आवश्यक में दोष का उपार्जन करते हैं। वन्दना की क्रिया लघुता में प्रभुता का वास कराती है, क्योंकि परमेष्ठी की वन्दना करने से अहकार टूटता है। अहं का टूटना ही अर्ह की उपलब्धि है।

तीसरे नम्बर पर **स्तुति** आवश्यक को रखा है। अर्थात् चौबीस तीर्थकर भरतादि क्षेत्र के समस्त केवली श्रुत केवली, आचार्य, उपाध्याय, साधु आदि के विशेष गुणों का स्तवन करना स्तुति आवश्यक है। स्तुति करने वाले साधक के कर्मों के पहाड क्षण–मात्र में ढ़ह जाते हैं। आत्मा में सुख शान्ति आदि आदर्श गुण–क्षण–प्रतिक्षण फलते–फूलते रहते हैं।

चौथे नम्बर पर **प्रतिक्रमण** आवश्यक को रखा है। अर्थात् स्वयं के पापों पर आक्रमण करना अथवा अपराध होने पर मन–वचन–काय की शुद्धता पूर्वक निन्दाग्रह पूर्वक दोषों का निवारण करना प्रतिक्रमण आवश्यक है। यद्यपि मुनिराज की समस्त क्रियाऐं यत्नाचार पूर्वक होती है फिर भी दयानिष्ठ मुनिराज धोखे से हुए जीवों के कष्टों का ख्याल रखते हुए उसे स्वयं का अपराध मानते हैं और क्षमायाचना करते हैं ताकि पापों की वृद्धि न हो सकें।

पॉचवें नम्बर पर **प्रत्याख्यान** नाम का आवश्यक है। मन–वचन–काय की शुद्धि पूर्वक भविष्य के दोषो का वर्तमान में निराकरण करना प्रत्याख्यान आवश्यक है। आत्म साधक समस्त प्रशस्त–अप्रशस्त वचन रचना के द्वारा शुद्ध ज्ञान भावना के प्रसाद से सदा अन्तर्मुखी परिणमन रूप परमकला के आधारपूर्वक आत्मा का चिन्तन कर शुभ–अशुभ कर्मो का निरोध करते हैं तथा वीतरागभाव, सापेक्ष आगामी काल में दोष न करने की

प्रतिज्ञा के साथ सीमित काल के लिए आहारादि त्याग करते हैं जो आगामी दोषों के निवारण का संकल्प करते हैं, वे ही प्रत्याख्यान के धारी होते हैं।

छटवें नम्बर पर **कायोत्सर्ग** आवश्यक को रखा है। अर्थात् अरहन्त गुण चिन्तन आत्मा रमण हेतु काय से ममत्व हटा कर आत्मा में लीन होना कायोत्सर्ग आवश्यक है। काय का उत्सर्ग करना कठिन साधना है। इस साधना का साधक अपनी उत्कृष्ट साधना लगातार एक वर्ष तक कर सकता है। यह बाहर की साधना मलहम की भाँति है, जो भीतर के रोग को समाप्त करने में कारण है। कर्म कालिमा को समाप्त करने के लिये कायोत्सर्ग की साधना अनिवार्य है। इसलिए कायोत्सर्ग को आवश्यक में रखा है।

आत्म–साधक उपर्युक्त सभी गुणो का शक्ति को न छिपाते हुए पालन करता है और आत्म–शुद्धि की वृद्धि के लिए शरीरगत साधना को स्वीकार करता है जो नियमतः आत्म प्राप्ति में कारण है। शरीर गत विशुद्ध साधना को शेष गुण के नाम से पुकारा है, क्योंकि जो शेष होता है वही विशेष होता है। आचार्य अमृत चन्द्र जी ने पुरुषार्थ सिद्धि उपाय में कहा है कि–"**एकान्त विरति रूपा भवति मुनीनामलौकिकी वृत्ति**" दिगम्बर मुनिराज की वृत्ति अलौकिक वृत्ति होती है। साधरणतया यह देखा भी जाता है। सारे लोग वस्त्र धारण करते हैं, तो मुनि नग्न रहते हैं। सभी बैठकर या अस्थिर घूमते–फिरते खाते हैं, तो मुनि स्थिर खड़े होकर कर–पात्र मे भोजन ग्रहण करते है। संसारी जन बिस्तर में आराम से सोते हैं पर दिगम्बर मुनिराज तखत, पाटा, चटायी या शिला पर अपनी रात व्यतीत करते हैं संसारीजन वाहनों से भ्रमण करते है तो मुनिराज पदविहार करतें हैं संसारीजन जल से पूर्ण स्नान करते है मुनिराज मत्र एव सुर्यस्नान ही करते हैं। ये सारी विपरीत वृत्ति–साधना व समता का आवरण ओढ़ती है, तो मानव को महामानव बनाने में कारण बन जाती है।

महामानव बनाने की प्रक्रिया का प्रथम चरण है–अचेलकता। चेल वस्त्र को कहते हैं और 'अ' का अर्थ 'नहीं' होता है, जो चेल से रहित होता है वह दिगम्बर होता है। जो दिगम्बर होता है वह रेशम, सन, टाट, छाल, चर्म–रोम आदि से बने वस्त्र का सर्वथा त्याग करता है, क्योकि जब तक परिग्रह का त्याग नहीं होता तब तक विषय–कषाय की वृद्धि होती रहती है। निर्ग्रन्थ वेश धारण करने से काम विकार एव हिंसावृद्धि का अभाव होता है। दिगम्बर साधु के वस्त्र दिशाऐ हैं। दिगम्बरत्व को धारण करने वाले के अन्दर बाल–सुलभ सरलता, प्रेम, मधुरता, अहकार–हीनता, अद्वेषपना, मैत्री–भाव आदि अनेक गुण प्रगट होते हैं तथा जीवन मे अपूर्व सरसता और सन्तोष की ज्योति जगति है। नग्नत्व आन्तरिक निर्विकारता का द्योतक है। आचार्य सोमदेव ने कहा है–

"नग्नत्वं सहजं लोकेविकारा वस्त्र वेष्टनं"

लोक में नग्नत्व सहज ही जन्म से आया है। नग्नता प्रत्येक मनुष्य का जन्म सिद्ध अधिकार है लेकिन जब विकारों का आगमन हो जाता है तब मनुष्य वस्त्र से ढाक लेता है, विकार स्वाभाविक रूप से च्युत करा देता है।

मुनिराज के समस्त गुणों में नग्नत्व एक विशेष गुण है जनसाधारण यथा जात प्राकृतिक रूप को देखते हैं तो उनके मन में अनेक प्रकार की शंकाऐं, कुशंकाऐं उत्पन्न हो जाती हैं, पर प्रकृति स्वयं कहती है कि मेरे द्वारा प्रदत्त किसी भी वस्तु में आवरण नहीं देखोगे। जब तक आवरण रहता है तब तक निर्विकार आचरण का जन्म नहीं होता है। जब तक मनुष्य निर्विकार भाव से प्रकृति प्रदत्त वेश को स्वीकार नहीं करेगा तब तक प्रकृति पुरुष परमात्मा से साक्षातकार नहीं कर पायेगा। संसार में समस्त जीव का जन्म नग्न होता है। मरणोपरान्त भी नग्न कर दिया जाता है, लेकिन जन्म और मरण के मध्य अन्तर्मन की दुर्बलता पाशविक वासनायें उसे वस्त्र पहनने को मजबूर कर देती है। वस्त्र विकार गोपन एवं शरीर रक्षण में सहयोगी है। दिगम्बर मुनि विकार रहित एवं ममत्व रहित होते है। वे विकारों के साथ शरीर को भी परद्रव्य मानकर विरक्त रहते हैं।

नग्नता प्राणी की वास्तविक अवस्था है। विश्व के समस्त चिन्तक, दार्शनिक, महापुरुष एव सन्तों ने परिग्रह को आत्म–विकास एवं ईश्वरत्व की उपलब्धि में महाविघ्नकारी तत्व स्वीकार किया है। शान्ति एव मुक्ति का हेतु नग्नता ही है। मानव के रत्नत्रय भण्डार का द्वार खोलने वाली नीचता से उच्चता की ओर ले जाने वाली, गुणों का विकास करने वाली अगर कोई वस्तु है तो वह दिगम्बर–मुद्रा ही है। जो भीतर से वासना से परिपूर्ण होते हैं। वे नग्न वेश को देखकर सहज ही द्वेष करते हैं जैसे लाल वस्त्र को देखकर साण्ड बिदकता है उसी प्रकार तीव्र मिथ्यादृष्टि जीव मुनि को देखकर बिदकता है। नग्न वेशधारी मुनिराज से द्वेष करने वाले जिन मार्गगामी पुरुष नहीं है। परिग्रह की निवृत्ति हेतु आचार्यो ने सर्वप्रथम शेष गुणों मे अचेलकता को रखा है। अर्थात् नग्नता को रखा है।

नग्नता व नंगापन मे जमीन आसमान का अन्तर होता है। नग्नता भीतर की वासना की समाप्ति से प्रगट होती है। नंगापन भीतर की वासना को देह के माध्यम से बाह्य प्रगटीकरण के रूप में अभिव्यक्त होता है। नंगापन वासना लौलुपियों को आकर्षित करने प्रगट किया जाता है। नग्नता साधना के इच्छुक जीवों के वैराग्य का शरीर की यथार्थता का बोध कराती है। एकान्त में बस्त्र उतारना वासना का प्रतीक है। सामूहिक वस्त्र का त्यागना साधना का प्रतीक है। जो भीतर से सुन्दर होते हैं, वही नग्न हो सकते हैं। कुरुप व्यक्ति सदैव छिपाने की कोशिश करते हैं। मात्र वस्त्र छोडने से नंगापन आता है, विकार छोडने से नग्नता आती है। जो जैन कुल में उत्पन्न होने के उपरान्त भी दिगम्बर मुद्रा

को देखकर घृणा करते हैं वे नियम से मिथ्या दृष्टि होते हैं। आचार्य कुन्द-कुन्द देव ने कहा है-

सहजुप्पण्णं रूवं दट्ठुं जो ण मण्णए मच्छरियों।
जो संजम पडिवण्णो मिच्छाइट्ठी हवई ऐसो।। द. प्रा. 24।।

जो स्वाभाविक नग्न रूप को देखकर उसे नहीं मानता उल्टा ईर्ष्या भाव रखता है। वह संयम को प्राप्त होकर भी मिथ्या दृष्टि हैं। दिगम्बरत्व को ग्रहण करना विवेक, शून्यता नहीं विवेकपूर्णता है, लंगोट वही लगाता है जिसके मन में कोई खोट होता है नग्नता ब्रह्मचर्य की पराकाष्ठा है। अपनी इन्द्रियों पर नियन्त्रण हैं।

नग्ना अपि न ते नग्ना ये ब्रह्मांशुक भूषिता।
वस्त्रा वृत्राश्य ते नग्न ये ब्रह्मव्रतः दुरगाः।।

जो मुनि ब्रह्मचर्य रूपी वस्त्रो से सुशोभित है। वे नग्न होकर भी नग्न नहीं कहलाते हैं तथा जो ब्रह्मचर्य व्रत से दूर है वे वस्त्राभूषण धारण करते हुए भी नग्न हैं इसलिए जिन्होंने अपनी इन्द्रियों को जीत लिया, वे ही जीत के प्रतीक बन जाते हैं, उनका दर्शन मात्र ही कार्य सिद्धि में कारण हो जाता है। श्रीकृष्ण भी अर्जुन से यही कहते हैं कि-

आरोह स्वरथे पार्थ गाण्डीव करे करु।
निर्जिदा मेदिनी में ये निग्रन्थो यस्य सन्मुखे।।

अर्जुन युद्ध के लिए तैयार हो जाओ। रथ पर सवार हो गाण्डीव उठा लो देखो। सामने निर्ग्रन्थ मुनि (दिगम्बर मुनि) आ रहे हैं। आज तेरी विजय निश्चित है। बन्धुओ ! यह नग्नता अचेलपना तीर्थंकर का रूप है, वन्दनीय है। इस मुद्रा में आवरण ओंढा नहीं जाता मात्र छोडा जाता है जहाँ सम्पूर्ण राग एवं अग के विकारों का आभाव है वही निर्ग्रन्थता है वही अचेलकपना है वही दिगम्बरत्व है।

दूसरे नम्बर पर **'केश लोंच'** नामक शेष गुण को रखा है। अर्थात् दो तीन चार माह के अन्दर अपने सिर दाढी एवं मूँछ के बालों को उखाडना केश लोंच है। बाल शरीर के सौन्दर्य का केन्द्र है। बालो के माध्यम से शरीर की सुन्दरता दुगुनी हो जाती है। लेकिन आत्म-सौन्दर्य को बढाने के इच्छुक साधक अपने प्रिय केशों को अहिंसा व्रत के रक्षणार्थ आत्म-गौरव की सुरक्षा के लिए, स्वावलंबन के लिए, स्वशक्ति की परीक्षा के लिए निर्ममत्व वीतरागता की पुष्टि के लिए फेंक देते हैं। जहाँ भोगी इन्सान एक बाल को उखाडने से डरता है, वहाँ योगी शरीर को पर समझकर अपनी निस्पृह वृत्ति का परिचय देते हैं। बालो को कैची आदि से बनवाने में स्वावलम्बीपना नहीं रह जाता है। साधु स्व अथवा पर हस्त द्वारा समस्त सिर दाढी मूँछों के बालो को अलग कर देते हैं तो सूक्ष्म जीवो की रक्षा हो जाती है। आत्मिक-शक्ति प्रगट होती है तथा दीनता-हीनता परिग्रह

की याचना और अपमान से सुरक्षा हो जाती है। मूलाचार में वटकेर स्वामी कहते हैं कि–

"जीव समुर्च्छनादि परिहरार्थं रागादिनिराकरणार्थम् स्ववीर्यप्रगटनार्थं सर्वोत्कृष्ट तपस्वरणार्थं लगादिगुणज्ञापनार्थं च हस्तेन लोचः।"

अर्थात्–दिगम्बर मुनिराज समुर्च्छन जीव की रक्षा के लिए केशलोंच करते हैं; क्योंकि केशों के आश्रित अनेक सूक्ष्म जीव विद्यमान रहते हैं। अगर उन केशों का लोच न किया जाये तो उसमें लीक, जूँ आदि जीवों की वृद्धि होने लगती हैं। वे न होंवे–इसलिए फिर साबुन सफाई अधिक जलकाय की हिंसा आदि अनेक दोष एवं आरंभ करने पड़ते हैं। इसके साथ ही ये जीव जब सिर में चलते हैं और काटते हैं तो ध्यान, स्वाध्याय आदि में उद्विग्नता उत्पन्न हो सकती है। खुजाने से उसका घात भी हो सकता है। सिर से बाहर करने पर एक जीव के घर छुडाने का पाप भी लगता है। इसलिए मुनिराज जीवों की सुरक्षा के लिए केशों का लोंच करते है। केश लोंच करने सेशरीर के प्रति राग–भाव कम होता है और आत्म–शक्ति का जागरण होता है। केशलोंच करने से धीरता, वीरता, वीतरागता, निर्ममत्वता, अयाचकता, स्वावलम्बन, सहनशीलता, अप्रमाद, जिनाज्ञापालन, तपश्चर्या की उत्कृष्टता एवं जिन लिंग की साधना प्रगट होती है। दिगम्बर मुनिराज केशलोच करते वक्त किसी औषधि आदि का प्रयोग नही करते अपितु बाल के चिकने पन को दूर करने के लिए राख का प्रयोग करते हैं। तथा केश लोंच के दिन प्रायश्चित स्वरूप जीव हिसा के दोषों की क्षमा याचना करते हुए उपवास करते हैं। मुनिराज की यह साधना है। सच है–दिगम्बर मुनि साधनों से नहीं, साधना से महान होते हैं।

तीसरे नम्बर पर **'अस्नान'** नामक शेष गुण है। अर्थात् शरीर के अशुद्ध भाग मल–मूत्र द्वार तथा मुख एवं घुटने तक हाथ–पॉव को छोड़कर सर्वांग स्नान को न करना अस्नान शेष गुण है। अर्थात् निज स्वरूप में निमग्न मुनिराज आत्म स्नान में इतने आनन्दित रहते हैं कि उन्हे बाह्य स्नान की आवश्यकता ही नहीं रहती है। शरीर तो स्वभाव से अपवित्र है। इस लिए मुनिराज स्नान को नहीं व्रत को शुद्धि में कारण मानते हैं। इसलिए दिगम्बर मुनिराज मन्त्र–स्नान, व्रत–स्नान, सूर्यस्नान, वायु–स्नान को छोड़कर जल से सर्वांग स्नान का त्याग करते हैं। हॉ–कदाचित् चण्डाल मल हड्डी मासिक–धर्म युक्त स्त्री शूद्र आदि का स्पर्श हो जाये तो मुनि दण्ड स्नान करते हैं। जब शरीर और आत्मा की भिन्नता का भान हो जाता है, तब पुद्गल का सौन्दर्य नगण्य नजर आता है। पुद्गल को श्रृंगारित करने का भाव उत्पन्न नहीं होता है, मात्र आत्मा के श्रृंगार की ही भावना रहती है। मुनियों की प्रवृत्ति अन्तर्मुखी होती है, बहिर्मुखी नहीं होती है। बाहरी सौन्दर्य बढाने वाले समस्त साधनों को तिलाज्जलि दे देते हैं। स्नान न करने मात्र से शरीर पसीना आदि मलों से भर जाता है। जिससे शरीर की मोहकता घट जाती है।

इससे इन्द्रिय संयम एवं प्राणी संयम का स्वभावतः पालन हो जाता है।

चौथे नम्बर पर **'भूमि शयन'** नामक शेष गुण को रखा है। अर्थात् स्वस्वरूप की कोमल शय्या पर विश्राम करने वाले मुनिराज पलंग, डनलप–गद्दा–बिस्तर आदि का प्रयोग किये बिना तखत, भूमि, शिला, चटाई आदि पर विश्राम करना भूमि शयन नामक शेष गुण है। दिगम्बर मुनिराज उत्कृष्ट साधना के रूप में एक करवट से पैरों को सिकोड़े हुए धनुषाकार से अन्तिम पहर में निद्रा लेते हैं। लेकिन मध्यम जघन्य साधना करने वाले साधक पिच्छी से स्थान परिमार्जित कर करवट बदलते हुए कुछ अधिक निद्रा लेते हैं; क्योंकि हीन संहनन होने के कारण निद्रा न लेने पर दिन की साधना स्वाध्याय ध्यान आदि की क्रिया मे सहज स्वाभाविक–शिथिलता का आगमन हो जाता है। वैसे दिगम्बर मुनिराज निद्रा भी लेते हैं तो श्वान के समान अल्प निद्रा लेते हैं या चोरों की बस्ती में फँसे नये मुसाफिर के समान जाग्रत होते हुए निद्रा लेते हैं। वे सोचते हैं कि मेरे आत्म–धन को चुराने वाले कर्म–रूपी चोर है उससे मुझे आत्मा की सुरक्षा करनी है। वे आत्मधन रत्नत्रय की सुरक्षा की भावना से ओत–प्रोत परमात्मा का स्मरण करते हुए अल्प निद्रा लेते हैं। आत्म साधक को विशेष ध्यान रखना चाहिए कदाचित् सूखी घास आदि का प्रयोग करे तो शरीर को सुखी करने की चाहना से अधिक गद्देदार संस्तर को न स्वीकारें अन्यथा साधना में हीनता आने लगेगी जो संसार में दिशा को अम्बर, भूमि को शय्या, आकाश को चद्दर बनाने वाले साधक हैं। वे दिगम्बर मुनिराज हैं। उन्हीं के भूमि शयन नामक शेष गुण होता है।

पाँचवें नम्बर पर **'अदन्तधावन'** नामक शेष गुण को रखा है। दाँतों को चमकाने–ब्रुश मंजन, दातोन आदि का प्रयोग न करना अदन्त धावन शेष गुण है। अर्थात् दिगम्बर मुनिराज आहार के पूर्व एवं पश्चात्, पेस्ट, मजन, दातोन, नमक आदि से घिस–घिस कर दाँतों की सफाई नही करते हैं। साधक साधना की वृद्धि के लिए एवं मुख में फँसे अन्नकण को निकालने के लिए सादे पानी या नमक नींबू औषध फिटकरी मिले पानी से मुख की सफाई करते हैं। अन्न कण को निकालने अँगुली या सींक का सहारा भी ले सकते हैं।

संसार शरीर भोगों से विरक्त साधक वैराग्य रूपी मन्दिर मे विराजमान रहते हैं और शरीर चलाने के लिये अल्प भोजन ग्रहण करते हैं, क्योंकि अल्प भोजन करने से अप्रमाद के साथ दाँतों में मल का सचय भी नहीं होता है। प्रायः पशुओं के दाँत साफ रहते हैं; क्योंकि पशु पेट की पाचन शक्ति से कम भोजन ग्रहण करते हैं और चलने–फिरने का पुरुषार्थ अधिक करते हैं, जिससे मल का जमाव दाँतों में नहीं हो पाता है। उसी प्रकार निरीह वृत्ति वाले साधक भी अल्प भोजन कर दाँतों की सुरक्षा करते हैं। दाँत केश की

भाँति आकर्षण में भी कारण हैं। सुन्दर चमकीले दाँत हो तो चेहरा हँसी के समय खिल जाता है और एक आकर्षण पैदा होता है। मुनिराज मुक्ति रानी को आकर्षित करने वैराग्य धारण करते हैं। इसलिए वे दाँतों की नहीं आत्मा की सफाई करते हैं।

छटवें नम्बर पर–'**एकभुक्ति**' नामक शेष गुण को रखा है। दिगम्बर जैन मुनिराज सूर्योदय के तीन घडी बाद एवं सूर्यास्त के तीन घड़ी पूर्व सामयिक स्वाध्याय का काल छोड़कर दिन में एक बार ही शुद्ध प्रासुक पर हस्त द्वारा प्रदत्त आहार ग्रहण करते हैं। आहार में दो भाग भोजन एक भाग पानी एवं एक भाग खाली रखते हैं। मुनिराज खाने के लिए नहीं जीते अपितु जीने के लिए खाते हैं ताकि शरीर रूपी गाड़ी से मोक्ष–मार्ग तय कर सकें। एक बार भोजन ग्रहण करने से ब्रह्चर्य का पालन अप्रमाद की अवस्था, स्वाध्याय, सामायिक की स्थिरता का आगमन होता है कहा भी गया है–"**एक बार खायें सो योगी, दो बार खायें सो भोगी, बार-बार खायें सो रोगी होता है।**"

अन्तिम सातवें नम्बर पर–'**स्थितिभोजन**' नामक शेष गुण को रखा है। अर्थात् सावधान ! दोनों पैरों के मध्य चार अँगुल का फासला रखकर खडे होकर कर पात्र में भोजन ग्रहण करना, स्थिति भोजन शेष गुण है। दिगम्बर मुनिराज किसी भी परिस्थिति में बैठकर भोजन ग्रहण नहीं करते हैं। जो मुनि होकर, बैठकर भोजन ग्रहण करते हैं। वे अपने चरित्र से च्युत होते हैं तथा जो ग्रहस्थ खड़े होकर भोजन ग्रहण करता है वह अपने चरित्र से भ्रष्ट होता है। मुनिराज की वीतरागता का सर्वाधिक परीक्षण आहार के समय ही होता है; क्योकि आहार के समय सुन्दर–असुन्दर बाला, युवती, प्रौढ़ा सभी नारी मुनिराज के समक्ष रहती हें और बडे स्नेह भाव से आहार कराती हैं। अगर मुनिराज निर्विकार होते हैं तो स्त्रियों के हाव–भाव, स्नेह को देखते हुए भी उनके मन में एवं शरीर में किंचित भी विकार के लक्षण प्रदर्शित नहीं होते हैं। दूसरी बात यह है कि बैठकर भोजन ग्रहण करने से अधिक भोजन होता है। खड़े होकर भोजन ग्रहण करने से पूर्ण उदर की पूर्ति नहीं होती है। इसलिए इस शेष गुण का उद्देश्य अल्प भोजन ग्रहण करना भी है। तीसरी बात मुनिराज इसलिए खड़े होकर भोजन ग्रहण करते हैं कि जब तक पाँव में स्थिर खडे होने की शक्ति है तब तक भोजन ग्रहण करेंगे। पाँवों की शक्ति क्षीण होने पर समाधि ग्रहण कर लेंगे। इस भावों से भी खड़े होकर भोजन ग्रहण करते हैं। मुनिराज खडे होकर भोजन ग्रहण करते वक्त दाता द्रव्य, करपात्र एवं उच्छिष्ट गिरने का पात्र ही देखते हैं। कौवे की भाँति चंचल नेत्र करके आहार ग्रहण नहीं करते हैं। ऐसे मुनिराज के अन्तिम शेष गुण स्थिति भोजन नामक मूल गुण होता है।

इस प्रकार 28 मूल गुणों के पालक साधक विषय आशा से रहित निरारम्भी अपरिग्रही

ज्ञान–ध्यान में लवलीन मुनिराज ही प्रशंसनीय एवं गुरु होने के योग्य होते हैं। ऐसे मुनिराज ही

"तन शृंगार रहित वे होकर बाइस परिषह सहते हैं"

अर्थात् मोक्ष के इच्छुक मुनिश्वर शरीर के प्रति पूर्ण निर्ममत्वता बरतते हुए बाइस परिषहों को सहन करते हैं जब भीतर से भेद विज्ञान प्रगट होता है तथा बाहर के उपसर्ग उपहार नजर आते हैं और साधक चारों ओर से दु:ख को सहन करने में अपनी शक्ति को लगा देते हैं तभी परिषह जय की चर्या कर्मों को दग्ध करने में कारण होती है आचार्य उमास्वामी ने कहा है–

मार्गच्यवन निर्जरार्थम् परिषोढ्व्या परिषहाः मार्ग से च्युत न होने के लिए और कर्मों की निर्जरा करने के लिए जो सहन करने के योग्य हो उसे परिषह कहते हैं वे परिषह हैं क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, दंशमसक, नग्नता, अरति, स्त्री, चर्या, निषद्या, शय्या, आक्रोश, वध, याचना, अलाभ, रोग, तृणस्पर्श, मल, सत्कार पुरस्कार प्रज्ञा अज्ञान और अदर्शन ये 22 परिषह हैं। जिसे साधक स्वयं की परीक्षा के लिए समता जागृत करने के लिए शरीर के प्रतिनिर्ममत्वता के लिए विचारो की शुद्धि के लिए कर्मो की निर्जरा के लिए मुक्ति की प्राप्ति के लिए सहन करते है परिषह सहन करने से अतीत के कर्म शीघ्र ही निर्जरीत हो जाते हैं यह परिषह सहन की परम्परा तीर्थंकर आदीनाथ से लेकर भगवान महावीर स्वामी तक एवं भगवान महावीर स्वामी से लेकर वर्तमान विद्यमान मुनिराजों तक निर्बाध रूप से चली आ रही है चरित्र मे उतार–चढाव अवश्य आये पर मुनिराजों ने अपनी क्षमता व सहन के अनुसार कुछ हीनाधिकता को लेकर परिषह सहन कर जीवन को तपाया हैं जो दिगम्बर मुनिराज है वे चतुर्थकाल की बज्रवृषभ नाराच संहनन की क्षमता वाले साधक के समान वर्तमान मे हीन सहनन को धारण करते हुए पालन कर रहे हैं वे वर्तमान में साक्षात् अरहन्त के रूप हैं जो ऐसे मुनिराज को देखकर भी श्रद्धा नहीं करता वह धर्महीन है आचार्य जयसेन ने धर्मरत्नाकर ग्रन्थ मे कहा है–

वहन्ति चेतसा द्वेषं वाचा ग्रहन्ति दूषणं।
अनभ्रकायाः साधुनामधमा दर्शन द्विषः।।

जो मन से साधुओं से द्वेष करते हैं वचन से अनेक दोषों का प्रतिपादन करते हैं और साधुओं को देखकर काय से विनय प्रगट नहीं करते हैं वे नीच सम्यकदर्शन के द्वेषी हैं

इस दु:खम पंचम काल में मात्र पुलाक एव वकुश मुनिराज होते हैं जो दु:सम पंचमकाल में भी उत्कृष्ट मुनिचर्या का पालन करते हैं। कदाचित व्रतो में दूषण लगने पर भी प्रायश्चित भावना से भरे रहते हैं। वे छेदोपस्थाना चरित्र के धारक होते हैं निरन्तर छटवे, सातवे गुण स्थान के झुले मे झुलते हुए स्वस्थान मे आकर शुद्धोपयोग का आनन्द

लेते हैं इस दु:सम पंचम काल में भी मुनिराजों को शुद्धोपयोग का परम आनन्द प्राप्त होता है। प्रवचनसार ग्रन्थ में गाथा 9 की टीका करते हुए कहा है–**मिथ्यात्व सासादन मिश्र गुणस्थान त्रये तारतम्येना अशुभोपयोग: तदनन्तरम संयत सम्यकदृष्टि देश विरत प्रमत्तविरत पर्यन्त संयत गुणस्थान त्रये तारतम्येन शुभोपयोग: तदनन्तरम् प्रमत्तादि क्षीणकषायान्त गुणस्थान षट्के तारतम्येन शुद्धोपयोग: तदनन्तरं संयोगयोगिजिन गुण स्थान द्वये शुद्धोपयोग फलमिति भावार्थ**/मिथ्यात्व सासादन मिश्र गुणस्थानों में तारतम्य से कमती कमती अशुभोपयोग हैं इसके बाद असंयत सम्यक् दृष्टि देश विरत तथा प्रमत्त संयत ऐसे तीन गुण स्थानों में तारतम्य से शुभोपयोग है उसके पीछे अप्रमत संयत से लेकर क्षीण कषाय पर्यन्त छ: गुणस्थानों में तारतम्य से शुद्धोपयोग है तथा संयोगि जिन और अयोगिजिन इन दो गुणस्थानों में शुद्धोपयोग का फल है और वर्तमान में जब जीव जिन दीक्षा स्वीकारता है तब प्रथम अप्रमत्त गुणस्थान में जाता है फिर प्रमत्त गुणस्थान में आता है और यह क्रम निरन्तर चलता रहता है साधक इस गुणस्थान में रहते हुए अपनी आत्म साधना को वृद्धिगत करते रहते हैं। ये मुनिराज भाव–लिंगी होते हैं। ये स्वयं तरते हैं और आश्रित भव्य जीवों को भी तारते हैं। ऐसे मुनिराज ही–

"स्व आतम कल्याण करे और पर को मार्ग बताते हैं।
सुलझाते जो मन की ग्रन्थियाँ सद्‌गुरु वे कहलाते हैं।"

गुरु स्वयं की आत्मा का कल्याण तो करते हैं पर 'गु' यानी गुण रु यानी रूबरू और भव्य जीवों को संबोधित करते स्वयं के गुणो से रूबरू भी कराते हैं ताकि पर का कल्याण हो सकें क्योकि गुरू गुणातीत और रूपातीत होते है जो शिष्य समर्पित होकर उन्हे स्वीकारते है उन्हे गुरू भी गुणो से रूबरूँ कराते हुए उसे अपने जैसा पद प्रदान कर साक्षात् आत्मा का आनन्द कराकर मुनि पद पर स्थिर कर देते हैं। इसलिए शास्त्रकारों ने गुरु का अर्थ भारी कहा। इतना भारी है गुरु की दुनिया उनके देन की सदैव आभारी है। उनका आभार मानती आ रही है; क्योंकि गुरु ही आत्मा में गुणारोपण करके धर्मात्मा बनाते हैं और दीक्षा देकर परमात्मा से मिला देते हैं। आज जैन शासन जीवित है। वह मुनियों की बदौलत ही जीवित हैं दिगम्बर जिनधर्म की पहचान भी उन्ही से ही है। उनके पास अथाह शास्त्र ज्ञान का भण्डार है। वर्तमान के समस्त शास्त्र गुरुओं की ही देन है। संसार से मुक्ति की यात्रा करने के लिये गुरु की अंगुली थाम लेनी चाहिए; क्योंकि सद्‌गुरु ही हमारे मन की ग्रन्थियों को सुलझाते हैं, बुरे विचारों को, दुराचरण को समाप्त करते हैं और स्वपर कल्याण करते हैं। इसलिए सद्‌गुरु कहलाते हैं। इस पंचम काल में दिगम्बर वीतरागी देव और वीतरागी गुरु में कोई अन्तर नहीं होता है। तारणहार गुरु को स्वीकार करने वाला ही परमात्मा को प्राप्त करता है। जो वर्तमान में दिगम्बर गुरु

की उपासना, आराधना, वन्दना आदि नहीं करता है, वह मिथ्या दृष्टि होता है। कहा भी है–

"ये गुरु नैव मन्यन्ते तदुपास्ति न कुर्वते
अन्धकारो भवेन्तेशामुदितेऽपि दिवाकरे।"

जो गुरु को नहीं मानते हैं और न उनकी उपासना करते हैं उनके सूर्योदय होने पर भी अन्धकार बना रहता है अर्थात् सम्यक्त्व का साधन मिलने पर भी वे मिथ्यादृष्टि बने रहते हैं।

वैसे तो गुरु का स्थान एक दष्टि से देव से भी बढकर होता है, क्योंकि वर्तमान काल में गुरु ही परमात्मा से परिचय कराते हैं। गुरु की सम्यक् वाणी ही संसार का यथार्थ चित्रण करती है और राग के पथ पर भटके इंसान को वैराग्य के पथ पर ले जाती है; जो समता–करुणा प्रेम–दया–क्षमा, वात्सल्य की मूर्त्ति गुरु महाराज का आश्रय लेते हैं। वे ही आत्मानुभूति कर पाते हैं। गुरु ससार में फँसाते नहीं संसार से बचाते हैं। गुरु जीवन को साक्षर नहीं सार्थक करते हैं। जो जैन कुल मे जन्म लेने के उपरान्त किसी दिगम्बर मुनि को अपना गुरु स्वीकार नहीं करता है। वह दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रमण करता है। आचार्यो ने कहा है कि इस पचमकाल के अन्तिम समय तक वीरागंज आदि मुनिराज रहेंगे जो भाव–लिगी सम्यक् दृष्टि होगे, मोक्ष प्राभृत गाथा 77 में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं कि–

अज्जवितिरयण शुद्धो अप्पा झाएवि लहदिइंदन्तं
लोयंतिय देवन्तं तत्थ चुआणिण्दु द जंति।। 77 ।।

आज भी रत्नत्रय से शुद्ध हुए मनुष्य (मुनि) आत्मा का ध्यान कर इन्द्र पद तथा लौकान्तिक पद को प्राप्त कर रहे है। वहॉ से च्युत होकर निर्वाण को प्राप्त होते हैं। सोम देव आचार्य ने भी यशशतिलक चम्पू में कहा है कि–

"काले कलौ चले चित्ते देहेचान्नादि कीटके
एतच्यित्रं यथाद्यापि जिन रूप धरा नराः।।"

इस कालिकाल में देह अन्न का कीडा है, चित्त चंचल है फिर भी जिनेन्द्र भगवान के समान रूप को धारण करने वाले मनुष्य मुनि रूप मे दिखाई पडते है। वास्तव में ये श्रद्धा के पात्र है। जो द्रव्य श्रावक (जैन) बनने का इच्छुक है उसे देव–शास्त्र एवं गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धा, आस्था रखनी चाहिए। जो देव–शास्त्र–गुरु की पूजा वन्दना, आराधना नहीं करता है वह तीन काल में भी सम्यक्त्व का पात्र नहीं होता है। इसलिए पात्रता उत्पन्न करें और उनकी चरण वन्दना कर अपना आचरण सुधारें। गुरु को स्वीकारें भविष्य को सवारें।

'श्रावक'

देव गुरु के शब्द श्रवण कर उस पर जो श्रद्धान करें।
उनके द्वारा कथित मार्ग पर चलकर जो कल्याण करें।।
उनको श्रावक सदा कहो जो श्रद्धा व विवेक धरे।
क्रियावान होकर भक्ति में रात-दिवस को एक करे।। 5 ।।

अर्थ :

जो देव गुरु के वचन श्रवणकर उस पर श्रद्धान करता है, उनके द्वारा कथित मार्ग पर चलकर अपनी आत्मा का कल्याण करता है। या जो श्रद्धावान हो, विवेक को धारण करने वाला हो तथा क्रियावान होकर रात–दिन भक्ति में तल्लीन रहता है, उसे श्रावक कहते हैं।

विवेक विकासिनी विवेचन :

प्रथम तीन श्लोको के माध्यम से देव–शास्त्र–गुरु का परिचय कराया गया। मात्र देव–शास्त्र–गुरु का परिचय होने से जीवन की परिचर्या नहीं बदलती है। जीवन को परिवर्तित करने के लिए देव एवं गुरुओं के वचनों का श्रवण करना आवश्यक है। जब तक इसान धर्म श्रवण नहीं करता तब तक उसके जीवन में कोई परिवर्तन नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द ब्रह्म है। जब शब्द कानों के माध्यम से हृदय में प्रवेश करता है, तो जीवन में नियम से धर्म त्याग, दया, करुणा का आगमन होता है। सुनना जीवन की महत्वपूर्ण कला है। सुनकर ही व्यक्ति शंकाओं का समाधान कर सकता है। श्रद्धापूर्वक ज्ञानियों की, गुरुओं की वाणी को सुनकर ही ज्ञान पाया जाता है। और आध्यात्मिकता की ओर कदम बढाया जाता है। बालक सुनकर ही वर्णमाला का ज्ञान करता है। वस्तुओं का एव व्यक्तियों का नाम जान लेता है। सुना हुआ ज्ञान कभी व्यर्थ नहीं जाता। वह सद्संस्कारो के रूप में हृदय में बैठ जाता है तथा अवसर पाकर वह ज्ञान स्वयंमेव प्रस्फुटित हो जाता है। इसलिए शास्त्रों में कहा है–'**श्रुणोति इति श्रावकः**' जो सुनता है, वही श्रावक है। पर सुनने का भी एक तरीका होता है। सुना–कानों से नहीं प्राणों से जाता है। कानों से सुनी बात विस्मृत हो जाती हैं, पर प्राणों से सुनी बात हृदय में स्थिर रह जाती हैं। हमें धर्म श्रवण ऐसे ही करने चाहिए जैसे गाली को सुनते हैं। जैसे कोई इंसान सडक पर गुजरता है। उसे कोई गाली बक देता है तो वह उसे प्राणों से सुनता

है और जैसे ही वह गाली दिल को चुभती है तुरन्त उसके मुख से चार गालियॉ निकल जाती हैं। उसी प्रकार धर्म शब्द को जो प्राणों से सुन लेता है, उसके भीतर से चार आचरण सहज ही प्रगट हो जाते हैं।

धर्म के शब्द आपकी आत्मा को चोट करे और आपकी खोट तुरन्त बाहर आ जाये तभी सुनने की सार्थकता है। जहाँ देव–गुरु के शब्द प्राणों से सुनने की क्षमता आ जाती है; वहा धर्म को सुनने की भावना भी प्रगट हो जाती है। इसलिए शास्त्रों में श्रवण को बहुत महत्व दिया है। चारो गतियों मे सम्यक् दर्शन प्राप्ति में एक कारण धर्मश्रवण भी माना है। इसलिए धर्म देने के पूर्व इंसान को श्रोता बनाया गया है। श्रोता में सुनने की जिज्ञासा होती है। श्रवण से ही शुभ संस्कार प्रगटते है। जो शुभ आचार, शुभ विचार, शुभ व्यवहार में परिवर्तित करते हैं, जो कहते है सुनने से कुछ नहीं होता, वे बहरे हैं। साधारणतया देखने में आता है–शुभ समाचार से प्रसन्नता, अशुभ समाचार से दुख, खेद, प्रगट होता है; उसी प्रकार शुभ वाणी से आचरण प्रगटता है और जहॉ धर्म श्रवण में आलस्य नहीं, घड़ी की तरफ ध्यान नहीं–वहॉ धर्म श्रवण जिन्दगी के प्रत्येक क्षण को पहचानने की प्रेरणा देती हैं।

धर्म श्रवण करने वाले इंसान को पूर्वाग्रह से रहित होना चाहिए। धर्म श्रवण करने का अर्थ उदास होकर उपदेशकों के पास, सन्तो के पास बैठना नही, स्वयं के निकट, शब्दो के निकट बैठने का प्रयास है। जो शब्दों के निकट बैठने का प्रयास करता है वही सच्चा श्रोता है। दुनिया की तमाम बातो को सुनने की भावना तो सभी मे होती है, पर वीतराग वाणी को सुनने की योग्यता आत्म–कल्याण की भावना के बिना नहीं होती। अत वे ही शास्त्र के वास्तविक श्रोता हैं जो आत्म–कल्याण के इच्छुक हैं। बाकी सब सोता है यानि धर्मसभा मे बैठकर भी सोते है या फिर सरोता है। जो धर्म की वाणी सुनकर भी मात्र तर्क–कुतर्क करते हुए धर्म की बात को काटने की या अन्यथा रूप, अनर्गल प्रलाप करने की होती है। इसलिए वह श्रोता नहीं सरोता है। आचार्य जिन सेन ने श्रोता के कई लक्षण दिये हैं और कहा है–

मृच्चालिन्य मार्जार शुक कङग् शिला हिमिः।
मो हंस महिषच्छिद्र घट दंश जलौककैः।।

मिट्टी, चलनी, बकरा, बिलाव, तोता, बगुला, पाषाण, सर्प, गाय, हंस, भैसा, फूटा घडा, और जोंक के समान श्रोता समझना चाहिए।

मिट्टी : जैसे मिट्टी पानी का संसर्ग रहते हुए कोमल रहती है, बाद में कठोर हो जाती है; उसी प्रकार जो श्रोता शास्त्र सुनते समय कोमल परिणामी होते हैं, बाद में कठोर परिणामी हो जाते हैं। वे मिट्टी के समान श्रोता है।

चलनी : जिस प्रकार चलनी सारभूत ऑटे को नीचे गिरा देती है और चोकड़ (छोक) को बचा लेती है; उसी प्रकार जो श्रोता वक्ता के उपदेश से सारभूत तत्व को छोड़कर निस्सार तत्व को ग्रहण करते हैं वे चलनी के समान श्रोता है यानि–

धर्म श्रवण प्रतिदिन करे ना धारे हिय माँहि।
समझो चलनी जल भरे श्रद्धा उनके नाँहि।।

बकरा : जो अत्यन्त कामी है, शास्त्र के वर्णन में श्रृंगार का वर्णन आने पर उत्सुक हो, तदनुरूप परिणाम हो जाते हैं, वे बकरे के समान श्रोता हैं। वे धर्म के शब्द को न सुनते हैं, न समझते हैं पर कामुक शब्दों मे ही मन को रंजायमान करते हैं वे स्वयं को धोखा देते हैं।

बिलाव : जैसे बिलाव अनेक उपदेश मिलने पर भी अपनी हिंसक प्रवृत्ति नहीं छोडता, सामने आते ही चूहे पर आक्रमण कर देता है। उसी प्रकार जो श्रोता बहुत समझाने पर भी क्रूरता को नहीं छोडता, अवसर आने पर क्रूर–उग्रप्रवृत्ति करने लगता है वह बिलाव के समान श्रोता है।

तोता : जैसे तोता स्वयं ज्ञान से रहित है, दूसरों के समझाने पर कुछ शब्द मात्र ग्रहण करते हैं और आचरण न कर दूसरों को सुनाते हैं। वे तोता के समान श्रोता हैं।

बगुला : जो बगुले के समान बाहर से भद्र परिणामी मालुम होते हैं; परन्तु जिनका अन्तरंग दुष्ट अभिप्राय वाला होता है वे बगुला के समान श्रोता हैं।

पाषाण : जिनके परिणाम हमेशा कठोर रहते हैं तथा जिनके हृदय में समझाये जाने पर भी जिनवाणी रूप जल का प्रवेश नहीं हो पाता, वे पाषाण के समान श्रोता हैं।

सर्प : जैसे साँप को पिलाया हुआ दूध भी विष रूप हो जाता है वैसे ही जिनके सामने उत्तम से उत्तम उपदेश भी बुरा असर करता है वह सर्प के समान श्रोता है।

गाय : जैसे गाय घास खाकर दूध देती है वैसे ही जो थोडा उपदेश पाकर बहुत लाभ लिया करते हैं वे गाय के समान श्रोता हैं।

हंस : जो केवल सार वस्तु को ही ग्रहण करते हैं, वे हंस के समान श्रोता हैं।

भैंसा : जैसे भैंसा पानी तो थोडा पीता है पर समस्त पानी को गन्दा कर देता है; उसी प्रकार जो श्रोता उपदेश तो अल्प ग्रहण करते हैं पर अपने कुतर्को से समस्त सभा में क्षोभ पैदा कर देते हैं। वे भैंसा के समान श्रोता हैं।

फूटा घड़ा : जिनके हृदय में कुछ भी उपदेश नहीं ठहरता वे फूटा घडा/चिकना घड़ा के समान श्रोता हैं।

डॉस : जो उपदेश तो बिलकुल ग्रहण न करें, इधर–उधर घुमकर हरकतें कर सारी सभा को व्याकुल कर दें, वे डॉस के समान श्रोता हैं।

जोंक : जो गुणों को छोडकर सिर्फ अवगुणो को ही ग्रहण करते हैं यानि गाय के थन में रहकर भी दूध को नहीं रक्त को ही ग्रहण करते हैं वे जोंक के समान श्रोता हैं।

इन श्रोताओं में गाय और हंस के समान श्रोता ही श्रेष्ठ, उत्कृष्ट, विवेकी धर्म ग्रहण के पात्र होते हैं। मिट्टी व तोता के समान श्रोता मध्यम है जो तत्क्षण परिणामों को अवश्य ही निर्मल बनाते हैं। बाकी सभी श्रोता अधम है फिर भी श्रोता अगर विवेक युक्त हो धर्म श्रवण करता है तो नियम से कल्याण का पात्र होता है, क्योंकि श्रवण ही आचरण के जागरण में कारण हैं और जो

''देव-गुरु के शब्द श्रवण कर उस पर जो श्रद्धान करें''

जो व्यक्ति देव एवं गुरु की वाणी को श्रवण करके उस पर श्रद्धान करता है, वह नियमतः जैन होने का अधिकारी है।

जैन कोई सम्प्रदाय नहीं, एक स्वस्थ जीवन शैली का नाम है। जहाँ आचरण की पवित्रता है, वीतरागता के प्रति रुझान है वही जैनतत्त्व है। वह जैन भी दो प्रकार के हैं–*1 **द्रव्य श्रावक***–जिन्हें कच्चा जैन कहा जा सकता है। दूसरा है–***भाव श्रावक***–जिसे पक्का जैन कहा जा सकता है। कच्चे जैन के चार लक्षण होते हैं। पक्के जैन के छः लक्षण होते है। द्रव्य श्रावक चार लक्षण मे प्रथम–मद्य–मॉस–मधु का त्याग होता है। वह जैन कुल मे जन्म लेने के उपरान्त जब बालक 45 दिन का हो जाता है तब माता–पिता, परिवार वाले जिन वन्दना को ले जाते है और जिन प्रतिमा का अवलोकन कराकर कानों में 9 बार णमोकार मन्त्र सुनाकर तीन मकार का त्याग कराते है और उसके नियम का पालन 8 वर्ष पर्यन्त माता–पिता कराते हैं ताकि बालक के अन्दर जैनत्व के संस्कार प्रगट हो सकें। एक बार भी जैनत्व के सस्कार उभर जाते है तोपाप स्वत ही बहिर्गमन का मार्ग खोजने लगते हैं फिर वह बालक 8 वर्ष का होता है तब उसे तीन गुण और प्रदान किये जाते हैं ताकि सच्चा जैन हो सके। आचार्यो ने कहा है–

धोयं सदा जिनदेव दर्शनं
पेयं सुपाथ पटगालितंयथा
हेयं निशाया खालु जनंहदा
एत्तानि चिन्हानि भवन्ति जैना : (श्रावकैः)

अर्थात् जैनत्व का गुण प्रगट करने सर्वप्रथम जिनेन्द्र भगवान के दर्शन का संकल्प होना चाहिए। पानी छानकर पीना चाहिए एवं रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए यही जैनत्व की पहचान है और शान है। इस पथ पर चलने में ही आत्म का कल्याण है। **'उनके द्वारा कथित मार्ग पर चलकर जो कल्याण करें'** देवगुरु ने जो मोक्ष मार्ग बताया है, उस पर चलें और आत्मा का कल्याण करें। कहा है ना– **''प्रातः उत्थाय कर्त्तव्य देवता गुरु दर्शनम''**, अर्थात् प्रातःकाल दूरदर्शन नही देव दर्शन करे। देव प्रतिमा के दर्शन

करने से आत्म देव के दर्शन के संस्कार आत्मा में पढ़ते हैं, क्योंकि जिनेन्द्र भगवान की प्रतिमा आत्मा की प्रतिभा को जाग्रत करने की सतत् प्रेरणा देती है। वह मुस्कुराती हुई कहती है कि–हे इंसान ! तू चैतन्य होकर जड़ को प्रणाम कर रहा है। सोच–मैं भी तेरे जैसे अपूज्य थी, लात खाती थी, मेरे ऊपर सभी मल–मूत्र करते थे, मैं अस्तित्वहीन थी लेकिन जैसे ही मैंने अपने आप को शिल्पी के हाथों में सौंपा, उसने मेरा उद्धार कर दिया। समस्त अतिरिक्त पाषाण हटाकर मुझे परमात्मा बना दिया। हे भक्त ! तू भी अपने आप को गुरु के हाथों में सौंप दे। तेरा समस्त अतिरिक्त परिग्रह गुरु दूर कर देंगे और तुझे भी परमात्मा बना देंगे। यह प्रतिमा का मूक उपदेश जीवन को मुखर करने में कारण है। दर्शन का अर्थ परमात्मा को देखना नहीं अपितु भक्ति भाव पूर्वक नमन्, वन्दन एवं गुण स्मरण ग्रहण की भावना है। **''वन्दे तद्गुण लब्धये''** की भावना है।

आत्म पिपासु के मन में सहज ही प्रश्न उठ सकता है कि दर्शन करे तो किस प्रतिमा के करें ? प्रतिमा तो अनेक हैं, लेकिन आत्म प्रतिभा को जागृत करने कौन सी प्रतिमा कारण है ? समाधान सहज है–स्व–स्वरूप की प्राप्ति हेतु अस्त्र–शस्त्र–वस्त्र से युक्त नहीं बल्कि यथा जात सौम्य वीतराग नग्न प्रतिमा के दर्शन ही आत्म–प्रतिभा के दर्शन में कारण है। क्योंकि इस प्रतिमा की जीवन्त आकृति वीतरागी सर्वज्ञ हितोपदेशी है एवं जन्म मरणादि 18 दोषो से रहित है। इनकी प्रतिकृति प्रतिमा के दर्शन करना ही साक्षात् जिन वन्दना है, देवदर्शन है, क्योंकि साक्षात् देव के अभाव में तद्योग आकृति ही साक्षात् उपस्थिति का एहसास कराती है और तद्योग फलदायी होती हैं।

किसी बुद्धिवादी के मन में प्रश्न उठ सकता है कि–जब साक्षात् जिनेन्द्रदेव नहीं हैं तो उनकी प्रतिमा पूजने से क्या लाभ है ? ऐसे बुद्धिवादियों से मेरा प्रश्न है कि घर में साक्षात् पिताश्री नहीं हैं, उनका देहावसान हो गया है फिर उनकी तस्वीर को घर में टॉगने से क्या लाभ है ? फूल–माला पहनाने से क्या लाभ है ? मात्र इसका एक ही उत्तर है–पिताश्री तो नहीं हैं पर उनकी तस्वीर उनका स्मरण कराती है। शिक्षा को याद दिलाती है और वैसे ही गुणवान बनने की प्रेरणा देती है। उसी प्रकार आज साक्षात् जिनेन्द्र भगवान तो नहीं हैं मात्र उनकी प्रतिमा है, वह उनका स्मरण कराती है, गुण बताती है और वैसे ही शान्त, सौम्य, निष्परिग्रही, वीतरागी बनने की शिक्षा देती है; क्योंकि उस प्रतिमा में भी साक्षात् अरहन्तदेव का गुणावरोपण किया गया है। उस गुणावरोपण के कारण उसमें साक्षात् अरहन्त देव के समान कर्म क्षय की शक्ति विद्यमान है। वह बिना फल दिये न जाने वाले क्रूर निधत्त और निकाचित् कर्म को भी समाप्त करने में कारण होती है।

प्रतिमा की आकृति ही परिणामों में परिवर्तन लाती है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति साक्षात् फिल्मी अभिनेता को नहीं देख पाता, पर उसके चित्र को देखता है तो उसके मन में उसी के समान बनने का भाव उत्पन्न होता है। उसी प्रकार साक्षात् जिनेन्द्र भगवान तो नहीं हैं पर उनकी प्रतिमा को देखकर निज प्रतिभा को जागृत करने का भाव उत्पन्न होता है। जिस प्रकार फिल्म के पर्दे पर मुस्कुराती स्त्री परिणामों को विकृत करती है, कुपथ पर ले जाती है। पर शान्त साध्वी स्त्री का चित्र शान्तिपूर्ण विचारों को उत्पन्न करने में कारण होता है। उसी प्रकार डरावनी प्रतिमा भय उत्पन्न करती है और शान्त प्रतिमा शान्ति की ओर ले जाती है। वीतरागी जिनेन्द्र देव की सौम्य प्रतिमा सौम्यता का सन्देश देती है। मूर्त्ति और मूर्त्तिवान में मात्र जड चेतन का भेद है। शान्त वीतराग मुद्रा समझने के लिहाज से कोई भेद नहीं है।

असली परमात्मा की आकृति को मूर्त्ति में स्थापित करने से नकली नहीं हो जाती है। कभी–कभी असल से नकल की उपयोगिता ज्यादा हो जाती है। उदाहरण के तौर पर यूँ समझे–गवाह के असली वचनों का उतना महत्व नहीं है जितना लिखित बयानों का है लिखित बयान कहे हुए वचनो का प्रतिबिम्ब मात्र है। यानि असल की नकल है। जड है पर चेतन से ज्यादा विश्वसनीय व माननीय है। वहॉ असली व नकली की दृष्टि नहीं बल्कि उपयोगिता की दृष्टि है। उसी प्रकार परमात्मा व साक्षात् अरहन्त में असली व नकली की बात नही अपितु श्रद्धा व भावना की बात है। भावना ही पाषाण को भगवान बनाती है। श्रद्धाहीन ऑखें पाषाण की होती है जो मूरत को नहीं पाषाण को ही देखा करती है और श्रद्धायुक्त ऑखे भाव विह्वल हो पाषाण में भगवान के दर्शन करती है। किसी कवि ने कहा है–

"लिख दीजिये यह नोट है स्टाम्प टिकिट है
मानेगा कौन कह देगा धोखा है कपट है
सिक्का हो साथ कौन फिर कीमत पे झगड़ता
सूरत का जो मतलब है मूरत से निकलता"

अर्थात् सादे कागज पर नोट लिख देने से, स्टाम्प लिख देने से, टिकट लिख देने से वह वास्तव में नोट नहीं बन जाता है लेकिन–उसी कागज पर सरकार की मुहर लग जाती है तो वह पूर्ण कीमत वाली बन जाती है। उसी प्रकार एक पाषाण में प्रतिमा की आकृति मात्र देने से वह परमात्मा की प्रतिमा नहीं बन जाती अपितु प्राण प्रतिष्ठा कर मन्त्रोच्चारण पूर्वक शुद्ध कर देने से वह परमात्मा की मूरत बन जाती है। वास्तविक परमात्मा की सूरत को मूरत में झलका देती है। जिस प्रकार खेत में लगे नकली ठूंठ

रूपी मानव पुतले को देखकर पक्षीगण भाग जाते हैं और अन्न की सुरक्षा हो जाती है उसी प्रकार जिन प्रतिमा को देखकर भयभीत हो कर्मपक्षी भाग जाते हैं और आत्मा की सुरक्षा हो जाती है। जिस प्रकार कैसेट में आवाज नकली है पर असली आवाज की भाव भासना कराती है, उसी प्रकार परमात्मा की प्रतिमा नकली है, पर असली अरहन्त परमात्मा की भावभासना कराती है। इसलिए कहा–'प्रतिमा से प्रतिभा जगे' ग्रहस्थ को प्रथम अवस्था में प्रतिमा के दर्शन कर आत्म प्रतिभा को जागृत करना आवश्यक है। देव दर्शन, सम्यक् दर्शन की प्राप्ति में कारण है। अतिशय पुण्य बन्ध में कारण है, कर्म क्षय में कारण है। कहा भी है–

दर्शनेन जिनेन्द्राणां साधुनां वन्दनेन च।
न चिरं तिष्ठते पापं छिद्रहस्ते यथोदकम।।

जिनेन्द्र भगवान के दर्शन करने से, साधुओं की वन्दना करने से पाप चिरकाल तक नहीं टिकते जैसे हाथ में रखा गया जल शीघ्र समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार जिन प्रतिमा के दर्शन से पाप शीघ्र समाप्त हो जाते हैं। कर्म भी उन्हीं के समाप्त होते हैं जो भगवान के चरणों में आत्म दर्शन की भावना से जाते हैं, प्रदर्शन की भावना से नहीं। आत्म–दर्शन की भावना से दर्शन करने वाला जीव मन्दिर में कभी भी समय बॉधकर नहीं जाता, स्वतन्त्र होकर जाता है। प्रायः कई लोगों की आदत होती है कि वे घर से मन्दिर जाने को निकलते हैं और रास्ते में कोई मित्र, सम्बन्धी या परिचित मिल जाता है तो कह देते हैं पॉच मिनट रुकना मैं मन्दिर होकर आता हूँ। इस प्रकार विकल्प के साथ मन्दिर जाने वाले जीवों को कदापि परमात्मा के दर्शन नहीं होते हैं।

परमात्म दर्शन करने का इच्छुक व्यक्ति कदाचित् जूता लेकर आ जाये तो कोई हानि नहीं है पर मन्दिर में घडी लेकर आता है तो बहुत बडी हानि हो जाती है। क्यों ? क्योंकि जूता लाने वाले का मन अगर चलायमान होगा तो मन्दिर की देहरी तक अर्थात् जूते तक ही जायेगा लेकिन कहीं मन्दिर में घडी लेकर (समय की सीमा में बॅधकर) आ गया है तो मन में पूरा संसार आ जायेगा। घड़ी का कॉटा कहने लगेगा–अरे ! तुम्हें वहाँ जाना है, अभी वह व्यक्ति आने वाला है, बच्चों को स्कूल पहुॅचाना है, दुकान खोलना है। इस प्रकार के कई विकल्प सामने आ जायेंगे। यह विकल्प भगवान के दर्शन करने नहीं देगा। बल्कि पूरे संसार, घर, दुकानादि के दर्शन करा देगा। इसलिए मन्दिर में समय की सीमा में बॅधकर कभी नहीं आना चाहिए। जब तक मन लगे मन्दिर में रहें, प्रतिमा के दर्शन करें, प्रतिभा को जागृत करें, नमन् करें, वन्दन करें, ध्यान लगायें और मन न लगे तो वन्दना करके रवाना हो जायें। लेकिन एक बात और विशेषरूप से ख्याल रखें कदाचित् मन विकल्प में है तो भी भगवान के दर्शन न छोडें उस स्थिति में भी दर्शन करें ताकि काय एवं वचन से दर्शन, वन्दन, स्तुति का पुण्य प्राप्त हो सके।

भव्यात्माओं ! षट्खण्डाधिपति भरत चक्रवर्ती भी प्रभातकाल को सुप्रभातमय बनाने के लिए अपने महल के छटवें खण्ड में जाकर सूर्य के विमान में जो आकृतिम जिन प्रतिमा है उसके दर्शन करता है और कहता है–

पुण्य नहीं कीना है मैंने पूर्व जन्म में हे भगवान।
वर्तमान भी ऐसे बीता जैसे ढ़लता सूर्य महान्।।
बीते आगामी भव कैसा कब होगा मेरा उद्धार।
देव तुम्हें मैं आज पुकारूँ कर दो मुझको भव से पार।।

हे भगवान् ! पूर्व जन्म में मैंने इतना श्रेष्ठ पुण्य कार्य नहीं किया कि आपके जैसा बन जाता। कुछ पुण्यकार्य किया तो चक्रवर्ती की विभूति मिली है, पर हे भगवान् ! वर्तमान मेरा व्यर्थ बीता जा रहा है, सूर्य की भॉति मैं भी ढलता जा रहा हूँ। हे प्रभु ! आगामी भव मेरा कैसा बीतेगा, मेरा उद्धार कब होगा ? हे दीनानाथ ! मैं तुम्हें पुकार रहा हूँ। आओ–मुझे भव सागर से पार कर दो। इस प्रकार जिन प्रतिमा के दर्शन कर आत्म प्रतिभा को जागृत करने की भावना भाता हुआ, वन्दना करता हुआ गद्‌गद् स्वरों में कहता है–

धन घड़ी यो धन दिवस यो ही धन जनम मेरो भयो।
अब भाग्य मेरो उदय आयो दरश प्रभु जी को लख लयो।।

हे प्रभु ! आज की यह घडी धन्य है, आज का यह दिवस धन्य है, आज मेरा जन्म धन्य हो गया, आज मेरे भाग्य का उदय हुआ है–इसलिए आपके दर्शन हुए हैं। इस प्रकार कहता हुआ वह भाव विभोर हो जाता है और अपने जन्म को सफल मानता है। चक्रवर्ती की यह भावपूर्ण दर्शन की भावना इस बात को सूचित करती है कि जो व्यक्ति मनुष्य जन्म पाकर जिन प्रतिमा के दर्शन कर आत्म–प्रतिभा को जागृत करने की कोशिश नहीं करता है। उसका मनुष्य जन्म पाना व्यर्थ है, सार्थक नहीं है, उसका जीवन धन्य भी नहीं है, वह महापापी व दुर्गतिगामी जीव है। वह जीव नारकी जीव के समान ही अपना जीवन व्यतीत कर रहा है क्योकि–

भगवान् के समवशरण मे देव, मनुष्य और तीर्यञ्च गति के जीव जाते हैं और दर्शन करते हैं। मात्र नरक गति के जीव ही जिनेन्द्र भगवान के दर्शन नही कर पाता है। उसी प्रकार जो मनुष्य जन्म पाकर भी जिनेन्द्र भगवान के दर्शन नहीं करता है तो वह नारकी जीव के समान नारकी मनुष्य हैं।

देव दर्शन न करने वाले गृहस्थ को धिक्कारते हुए आचार्य कह रहे हैं–

ये जिनेन्द्रं न पश्यन्ति पूज्यन्ति स्तुवन्ति न।
निष्फलं जीवनं तेषां तेषांधिक च गृहाश्रमम्।।

जो प्रतिदिन जिनेन्द्र देव का दर्शन पूजन या स्तवन नहीं करता है, उसका जीवन निष्फल है, उसके गृहस्थाश्रम को धिक्कार है।

मित्रो ! सच कहूँ जिनेन्द्र भगवान की शान्त मुद्रा अपूर्व शान्ति प्रदान करती है, भीतर की शान्ति से परिचय कराती है। जो एक बार भी उनकी वीतरागता को निष्कांक्ष–भाव से निहार लेता है। उसका उद्धार हो जाता है। उसकी आत्मा में अपूर्व निर्मलता का आगमन होता है। रोम–रोम पुलकित व प्रसन्नचित हो जाता है। ऐसा भीतरी उल्लास दर्शन से ही प्रगट होता है।

कई लोगों से दर्शन की बात कही जाती है तो वे कहते हैं कि पत्थर के भगवान क्या देते है ? जब वे कुछ देते ही नहीं तो वहाँ जाने से क्या फायदा है ? सबसे पहली बात–भगवान से कुछ पाने की आकाक्षा ही मूढता है। भगवान तो वीतरागी है न लेते हैं, और न देते हैं, न निन्दा से नाराज होते हैं, न प्रशंसा से प्रसन्न होते हैं, वे तो तटस्थ भाव से सिद्धालय में विराजमान हैं। लेकिन इतना अवश्य है जो भाव सहित जिनेन्द्र देव की वन्दना करता है उसे तीव्र पुण्याश्रव होता है, मन निर्मल होता है, पाप कट जाते हैं, पुण्य बढ जाता है वही पुण्य की वृद्धि मनोकामना पूर्ति में कारण बन जाती है। जैसे एक व्यापारी व्यापार करने हेतु तराजू खरीदता है और नाप–तौल करता है। तराजू उसे पैसा नही देता है पर तराजू के माध्यम से कमाई हो जाती है। उसी प्रकार एक भक्त भगवान की पूजा करता है, भक्ति करता है तब भगवान कुछ भी नहीं देते, पर भगवान के माध्यम से पुण्य का उपार्जन होता है और मनोकामना की पूर्ति हो जाती है।

भक्त भगवान के सामने उपासक बनकर जाता है, याचक बनकर नहीं। पुजारी बनकर जाता है, भिखारी बनकर नही। वह भगवान के पास किसान की भॉति श्रद्धा की धान लेकर जाता है और परमार्थ की भूमि पर मोक्ष रूपी चावल की प्राप्ति हेतु छोड देता है। कुछ समय बाद उसमे जो फसल आती है उसमें चावल भी होता है और भूसा भी होता है किसान का लक्ष्य भुसा प्राप्ति का नही चावल प्राप्ति का होता है पर भुसा उसे स्वंयमेव प्राप्त हो जाता है उसी प्रकार भक्त का लक्ष्य भौतिक सम्पदा का नहीं आत्मिक सम्पदा की प्राप्ति का होता है। आत्मिक सम्पदा की प्राप्ति का पुण्य भौतिक सम्पदा को स्वयमेव ही उपलब्ध करा देता है। लक्ष्य सदैव गुणों की प्राप्ति का होना चाहिए, विभूति की प्राप्ति का नहीं होना चाहिए।

सांसारिक कामना को लेकर किया गया दर्शन, पूजन ससार में ही कारण है तथा आत्म–दर्शन की इच्छा से किया गया दर्शन पूजन मुक्ति में कारण हैं। अत: परमात्मा के पास कभी भी कामना, वासना को लेकर न जायें और परमार्थ प्राप्ति की भावना से भरकर विनयपूर्वक साष्टांग नमन्, पूजन, वन्दन करें। क्योंकि ये विनम्रता सहित किया गया प्रणाम पाप रूपी मल को बहाने जल का कार्य करता है। कल्याण रूपी पुष्प को खिलाने सूर्य के समान कार्यकारी है। मन रूपी बन्दर को वश में करने के लिए साँकल

के समान उपयोगी है। मोक्ष ले जाने के लिए रथ के समान है। देव दर्शन की महिमा का गुणमान करते हुए आचार्य रविषेण जी ने पद्म पुराण में कहा है–

जब चिन्तो तब सहस फल लक्खा गमन करेय।
कोड़ा कोड़ी अनन्तफल जब जिनवर दरशेय।।

अर्थात् देव दर्शन का मात्र मन में विचार करने से दो उपवास का, तैयारी करने से तीन उपवास का, आरम्भ करने से चार उपवास का, घर से दर्शन हेतु निकलने से पॉच उपवास का, कुछ दूर पहुँचने पर पन्द्रह उपवास का, मन्दिर व घर के मध्य पहुँचने पर तीस उपवास का, मन्दिर के दर्शन से छः माह के उपवास का, मन्दिर के द्वार पर प्रवेश करने पर एक वर्ष के उपवास का तथा जिन प्रतिमा का मुखावलोकन करके भक्ति करने से करोड उपवास का फल प्राप्त होता है।

मित्रों ! सच है हजारों वर्षो के अन्धकार को दूर करने के लिए एक दीप ही काफी है और हजारों वर्षों के कर्म कल्मष को समाप्त करने के लिए जिन प्रतिमा के दर्शन ही काफी है। करोडों उपवास के पुण्य की प्राप्ति सामान्य भावों से दर्शन करने से नहीं होती अपितु शुद्ध समर्पण की भावना से, वीतरागता की प्राप्ति की भावना से, स्वप्रतिभा की जाग्रति की भावना से किया गया दर्शन ही तीव्र पुण्य प्राप्ति में कारण है।

दर्शन करने के इच्छुक गृहस्थ को छने जल से स्नान करके हाथों में चावल, बादाम, लवंग, श्रीफल या अन्य शुभ सामग्री लेकर घर से निकलना चाहिए खाली हाथ कभी भी परमात्मा के दर्शन नहीं करने चाहिए। सामग्री का हाथ नाभि के नीचे नहीं होना चाहिए। नंगे पाव चार हाथ आगे की भूमि को देखते हुए मन्दिर की ओर बढें। मार्ग मे व्यर्थ की वार्ता न करे, हो सके तो मौन रहे या मध्यम स्वर में कोई भी विनती, णमोकार, स्त्रोतादि का पाठ पढते हुए चलें। मन्दिर मे रेशमी–वस्त्र, कोसे के वस्त्र, चमडे की बेल्ट आदि पहनकर, लिपिस्टिक आदि लगाकर न जायें। मार्ग से मन्दिर जी का शिखर या द्वार दिखाई पडे तो विनय भावों से नयन वन्दनाकर, गर्दन झुकाकर अप्रत्यक्ष प्रणाम करें थोडे झुके हुए, मन्दिर के द्वार में प्रवेश करें। मन्दिर जी के द्वार पर छना जल रखा हो तो छने जल से अपने ऐडी व पंजो को अच्छी तरह से धोवें फिर मन्दिर में विनम्रभावों से **"ॐ निःसहि निःसहि निःसहि जय जय जय"** की ध्वनि के साथ प्रवेश करें और घन्टे की ध्वनि करे। घन्टा बजाने से भीतर ऊँकार नाद प्रगट होता है। पुराने विचार समाप्त होते हैं, नये विचारों का जन्म होता है। घण्टे की ध्वनि के साथ आगे बढकर वेदी के दायें या बाये खडे हो जायें या ऐसे स्थान पर खडे होवें कि आगन्तुक दर्शनार्थियों को दर्शन में व्यवधान उत्पन्न न हो फिर हाथ जोड़ कर ऑखें खोलकर जिन प्रतिमा के दर्शन करें। णमों कार मन्त्र, मंगल–उत्तम–शरण पाठ पढें फिर नमन् करें। और उनकी सौम्य शान्त

वीतरागमुद्रा का अवलोकन करते वक्त भावना भायें।

धन्य हुए प्रभु नयन हमारे आज तुम्हारे दर्शन से।
धन्य हुआ है दिवस हमारा आज तुम्हारे वन्दन से।।
धन्य होगा जीवन मेरा तेरे पद को पाऊँगा।
कर्म रहित हो सिद्धालय जा निज का जिन पा जाऊँगा।।

हे प्रभु ! आज हमारे नयन आपके दर्शन कर धन्य हो गये। आज आपकी वन्दना कर मेरा दिवस धन्य हो गया। हे प्रभु ! जब आपके पद को पाऊँगा तब मेरा जीवन धन्य हो जायेगा। मैं कर्म रहित होकर स्वयं के जिनत्व को प्राप्त कर लूँगा। हे प्रभु ! मात्र आपके दर्शन से ही मुझे अपूर्व शान्ति की अनुभूति हो रही है। प्रभु आपकी प्रभावान छवि देखकर अन्य देवी–देवता की छवि प्रभाहीन लगने लगी है। हे प्रभु .....

मिट गयो तिमिर मिथ्यात्व मेरो उदय रवि आतम भयो।
मो उर हरष ऐसो भयो मनु रंङ्क् चिन्तामणि लयो।।

हे वीतरागी परमात्मा ! आपके दर्शन करने मात्र से मिथ्यात्व रूपी अन्धकार नष्ट हो गया, आत्म–दर्शन की भावना रूपी सूर्य का उदय हुआ है। मेरा हृदय, मेरा रोम–रोम रोमांचित हुआ है। मुझे ऐसा महसूस हो रहा है जैसे किसी रंङ्क् को चिन्तामणि रत्न मिल गया हो। धन्य हो प्रभु ....

तुम्हारे दर्शन बिन स्वामी मुझे न चैन पड़ती है
छवि वैराग्य मूरत सामने आँखों के रहती है

इस प्रकार गद्‌गद् भावों से प्रभु के दर्शन करे फिर .....

उदक चन्दन तन्दुल पुष्पकैश्चरु सुदीप सुधुप फलार्घकैः
धवल मंगल गान रवाकुले जिन गृहे जिननाथ महंयजे

इस श्लोक का उच्चारण कर "**ॐ ह्रीं श्री देव शास्त्र गुरुभ्यो अनर्घ पद प्राप्ताये अर्घं निर्वपामिति स्वाहा**" कहकर 1–3–5 पुंज भगवान के चरणों में समर्पित करें (मूल नायक प्रतिमा का भी अर्घ बोलकर द्रव्य चढ़ा सकते हैं) फिर नमस्कार करें। अगर मन्दिर जी में परिक्रमा लगाने का स्थान हो तो तीन परिक्रमा लगायें और कोई भी विनती पाठ पढें। वेदी की एक परिक्रमा लगाकर नमन् करें और मन ही मन कहें–"**ॐ ह्रीं श्रीं जिन प्रतिमाभ्यो जन्म जरा मृत्यु विनाशनाय नमः।**" दूसरी परिक्रमा में–"**ॐ ह्रीं श्रीं जिन प्रतिमाभ्यो सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्र प्राप्ताय नमः।।**" तीसरी परिक्रमा में–"**ॐ ह्रीं श्रीं जिन प्रतिमाभ्यो केवल ज्ञान मोक्ष लक्ष्मी प्राप्ताय नमः।**" इस प्रकार तीन बार विनय पूर्वक नमस्कार करें और एकाग्रचित्त होकर ऑखें बन्दकर कल्पना में परमात्मा की आकृति बना नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़े। यदि स्वाध्याय या जाप्यादि की इच्छा हो तो

विनय पूर्वक शास्त्र का स्वाध्याय करें और जिस स्थान से शास्त्र उठाया है उसी स्थान पर रख देवें। माला फेरे तो नाभि से ऊपर माला हाथ मे लेकर जाप करें। माला न हो तो हाथ पर हाथ रखकर मध्यमा या कनिष्टा अंगुली से जाप करें। यदि जाप्य स्वाध्यायादि की इच्छा न हो तो भगवान को पीठ न दिखाते हुए–**''आसहि-आसहि-आसहि''** बोलकर बाहर निकलें फिर अपना कोई अन्य कार्य करें।

मित्रों ! जिनेन्द्र देव का दर्शन महापुण्यकारी है, जीवन को मंगलमय बनाने के लिए प्रत्येक गृहस्थ को प्रभातकाल में जिन प्रतिमा के दर्शन अवश्य करना चाहिए। कहा भी है–

''सुप्तोत्थितेन सुमुखेन सुमंगलाय
द्रष्टव्य मस्ति यदि मंगल मेव वस्तु
अन्येन किं तदिह नाथ तवैव वक्त्रम्
त्रैलोक्य मंगल निकेतन मीक्ष्णीयम्''

यदि किसी को सोकर उठते ही मंगल जनक पदार्थ देखना हो तो वह अन्य पदार्थ को न देखकर तीन लोक के समस्त मंगलकारक पदार्थो के स्थान भूत जिनेन्द्र देव के मुख का अवलोकन करें ताकि समस्त दिवस मगलमय व्यतीत हो सके।

मित्रो ! वास्तव मे देखा जाय तो परमात्मा कोई व्यक्ति नहीं, एक अदृश्य शक्ति है। ''परमात्मा पहले व्यक्ति था, साधना के मार्ग पर चलकर वह स्वयं शक्ति बन गया।'' उस शक्ति को समझने के लिए प्रतिमा बनायी जाती हैं। प्रतिमा केवल अस्तित्व की बाह्य रेखा है, उसका अन्तस्तल नहीं है और न ही कोई आकार है मात्र उसे जानने समझने के लिए एक इशारे के रूप मे प्रतिमा बनाई गयी है। इशारे को पकड़ने वाला परमात्मा नहीं बनता, इशारे को समझकर उस दिशा की ओर बढने वाला ही परमात्मा को उपलब्ध होता है।

ख्याल रखियेगा कॉच मे वस्तु दिखाने की क्षमता नहीं है पर जिस प्रकार डॉक्टर कॉच में पावर डाल देता है तो वही कॉच कमजोर ऑखों वालों को पदार्थ दिखाने लग जाता है। शक्ति कॉच में नहीं पावर मे है, उसी प्रकार प्रतिमा तो पाषाण की है उसमें परमात्मा नहीं है, पर दिगम्बर मुनिराज पच कल्याणक प्रतिष्ठा के माध्यम से सुरिमन्त्र देकर प्राण प्रतिष्ठा करते हैं। उसी प्राण प्रतिष्ठा से मुर्ति की दिव्यता जाग्रत होती है और परमात्मा की शक्ति स्थापना निक्षेप से प्रगट हो जाती हैं। शक्ति मुर्ति में नहीं प्राण प्रतिष्ठा में है। जैसे दिखाने की क्षमता कॉच में नहीं पावर में है। धर्म शास्त्र तो मनुष्य के चरम विकास को ही परमात्मा कहता है।

जब वह अपना पूर्ण विकास कर लेता है तब वह निर्वाण के बाद अन्तिम शरीर से कुछ कम हो सिद्ध पद पर आसीन हो जाता है। सिद्ध होने के पूर्व जब परमात्मा कैवल्य

अवस्था में समवशरण में विराजमान होते हैं तो निर्दोष मनुष्य के रूप में ही होते हैं। सामान्य मनुष्य के अन्दर उनकी भक्ति की भावना जागृत होती है तो वह परमात्मा के अभाव को दूर करने के लिए पाषाण में उपचार से परमत्मा का आरोपण कर लेता है और उसकी पूजा आराधना करता है।

वर्तमान में "बिना प्रतिकृति के दर्शन किये प्रतिरूप के दर्शन असंभव है"। साध्य की प्राप्ति के लिए साधन की अत्यन्त आवश्यकता है लेकिन साधन को साधन की तरह स्वीकारा जाये अन्यथा साधन परमात्मा बनने में बाधक भी हो सकते हैं। प्रतिमा साधन है प्रतिभा को जाग्रत करने का; क्योंकि जिनेन्द्र देव की नग्न प्रतिमा कहती है कि तुम भी ऐसे ही निर्दोष हो जाओ जैसे मैं हूँ। जैसे बालक निर्विकार नग्न रहता है उसके मन मे स्त्री–पुरुष का भेद नहीं रहता है और न ही स्वयं को छुपाने का भाव होता है; क्योंकि छिपाने का भाव छल है, कपट है, वासना है, अहंकार है, सदोषता है, जब व्यक्ति बालक को भाँति नग्न निर्दोष निर्विकार हो जायेगा उस दिन वह स्वयं परमात्मा हो जायेगा।

वैसे तो परमात्मा की प्रतिमा दृश्य काव्य है और परमात्मा की वाणी अर्थात् शास्त्र श्राव्य काव्य है। शास्त्र को पढ़ने व समझने के लिए विद्याध्ययन आवश्यक है, ज्ञानी होना आवश्यक है लेकिन परमात्मा के दर्शन करने के लिए श्रद्धालु होना, भक्त होना आवश्यक है। भीतर की श्रद्धा परमात्मा के अमृत द्वार को खोल देती है। संसार में श्रद्धा के वशीभूत हो मनुष्य ही परमात्मा का मन्दिर बनाता है और उत्साहपूर्वक परमात्मा की प्रतिमा स्थापित कर उसकी आराधना करता है; क्योंकि वह जानता है साधारण सा स्टेचु जब व्यक्ति को खींच सकता है अपने रूप बताने का भाव उत्पन्न करा सकता है तो क्या परमात्मा की प्रतिमा मन को नहीं खींच सकती, आकार से निराकार की प्रेरणा नहीं दे सकती। अवश्य दे सकती है।

प्रतिमा में परमात्मा छुपा है उसका दर्शन सब कर सकें, ऐसा निश्छल हृदय सभी के पास नही है। निश्छल हृदय की प्राप्ति श्रद्धालुओं को ही होती है, क्योंकि श्रद्धालु की ऑखें मूर्ति को नहीं, मूर्त्तिमान को देखती है और अश्रद्धालु की ऑखें मूर्त्तिमान कोनहीं। मात्र मूर्त्ति (पाषाण) को देखती हैं। आज साक्षात परमात्मा हमारे बीच नहीं है। हम उनकी प्रतिमा के ही दर्शन कर अपनी प्रतिभा को जागृत करें, और जीवन सफल करें। जिस प्रकार दूरदर्शन केन्द्र दिल्ली में है, परन्तु वहॉ से प्रसारित चित्र विद्युत किरणों के साथ सारे वायुमण्डल में विद्यमान हैं वह हमें न दिखाई पड़ती है और न पकड़ में आती है लेकिन डिस्क एन्टीना के माध्यम से, टेलीविजन के माध्यम से वह पकड में आ जाती है और समस्त चित्र को प्रदर्शित कर देती है। यद्यपि चित्र मृत है पर चैतन्य का बोध करा देती है, उसी प्रकार साक्षात् परमात्मा विदेह क्षेत्र में विद्यमान है। उनके द्वारा दिव्य

ध्वनि के रूप से प्रसारित पुण्य किरणें सारे वायु मण्डल में विद्यमान है, उसे हम नहीं पकड़ सकते। उसे पकड़ने का, देखने का माध्यम मात्र परमात्मा की प्रतिमा है। उस जड़ प्रतिमा को श्रद्धा, विश्वास, समर्पण से, देखने मात्र से स्वयं के चैतन्य प्रतिभा का बोध हो जाता है। शिल्पी तो मात्र मूर्ति बनाता है पर भक्त उसे मूर्तरूप दे देता है। भक्त पूजा–पाठ–आराधना–उपासना आदि करके मूर्ति को जागृत कर देता है और स्वयं को मिटाकर साकार में निराकार का अमृत निर्झर प्रवाहित करता है।

आत्मा का छिपा परमात्मा जाग्रत हो उसके लिए प्रत्येक ग्रहस्थ को प्रतिदिन जिन मन्दिर अवश्य ही जाना चाहिए। बिना मन्दिर जाये घर बैठे परमात्मा का स्मरणमात्र करने से, घर में पूजागृह बनाकर सन्तुष्ट नहीं होना चाहिए। यह तो अपवाद मार्ग है। घर से दूर मन्दिर हो तो कदाचित उसे स्वीकारे अन्यथा मन्दिर जाकर ही जिन वन्दना करें। आपके मन में प्रश्न उठ सकता है कि क्या घर मे बैठे–बैठे परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता ? जैन आचरण कहता है कि प्रारम्भिक अवस्था में घर में बैठे–बैठे परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता मन को घर में कितना भी पवित्र बनाने की चेष्टा करें पर घर के वातावरण की अपवित्रता मन को अपवित्र कर ही देती है। जिस प्रकार भोजन पाखाना में नहीं किया जा सकता चाहे वहाँ कितनी भी बाहरी सफाई हो। उसी प्रकार परमात्मा का दर्शन भी घर में नहीं किया जा सकता चाहे घर में कितनी ही शान्ति क्यों न हो ? भोजन व मन कितना भी शुद्ध क्यों न हो, पर पाखाने की अशुद्धि मन व भोजन दोनो को अशुद्ध कर देती है उसी प्रकार मन कितना भी शुद्ध क्यों न हो ? घर की अशुद्धि मन को अशुद्ध कर देती है। घर विकल्पों का ढेर है, घर राग का स्थान है, मन्दिर शान्ति का केन्द्र है, निवृत्ति का स्थान है।

इसलिए घर से निकालकर मन्दिर में दर्शन करने की प्रेरणा दी जाती है। विलासिता के युग में देव दर्शन का स्थान दूरदर्शन ने ले लिया है। यही कारण है कि आज का इंसान प्रातःकाल उठकर अपनी आत्मा की खबर लिये बिना दुनिया की खबर लेने दौड पडता है आत्मा की खबर लिये बिना दुनियां की खबर लेने वाला महामूर्ख होता है। दुनिया की खबर लेने से जीवन नहीं सुधरता, स्वयं की खबर लेने से जीवन सुधरता है। आज का इंसान मूर्खता के शिखर पर बैठ चुका है। जिस कुल में जन्मा है उस कुल के कुलाचार को भूल चुका है। एक समय वह था जब व्यक्ति उठता था तो सबसे पहले णमोकार मन्त्र पढता था, भक्तामर पढ़ता था, विनती पाठ पढता था और जीवन में नये सत्य का, नयी स्फूर्ति का अनुभव करता था। आज वह णमोकार, भक्तामर, विनतीपाठ नहीं पढ़ता और न ही स्वयं का चिन्तन करता है। बल्कि टी वी., रेडियो चालू करके फिल्मी गीत सुनेगा, अखबार पढेगा और गन्दी राजनीति आदि घटनाओं को सुनकर,

पढ़कर अपने मस्तिष्क की तिजोरी में कचरा डालेगा। यह समझदारी का प्रतीक नहीं, विवेकहीनता का प्रतीक है। मनुष्य को तो ब्रह्ममुर्हूत में उठकर मन और मुख को शुद्ध करना चाहिए था; वह न करके टी. वी., अखबार आदि के माध्यम से मन को एवं चाय–नाश्ता के माध्यम से मुख को गन्दा करता है।

जैन आचरण कहता है कि मन को परमात्म चिन्तन से शुद्ध करें एवं मुख को स्तुति विनती पाठ णमोकार आदि के जाप से शुद्ध करें। लेकिन बडे शर्म की बात है कि तथाकथित जैन मन को टी. वी., अखबार, समाचार आदि से शुद्ध करते हैं। यह कृत्य पाप रूप है। हड्डी के चूरे से बने पेस्ट, निकोटिन नामक नशीले पदार्थ से युक्त चाय, बासी अभक्ष्य ब्रेड एवं बिस्किट से मुख की शुद्धि नहीं होती अपितु अशुद्धि का आगमन होता है, हिंसात्मक प्रकृति का जन्म होता है। जैन आचरण को स्वीकार करने वाला प्रातः भोजन नहीं–भजन करता है। नाश्ता पर आस्था नहीं, मुक्ति से वास्ता रखता है ताकि मुक्ति का रास्ता खुला रहे। जीवन को समझे, समय नहीं पाप काटे और ब्रह्ममुहूर्त में उठकर परमात्मा का स्मरण करे ताकि देवता तुल्य जिन्दगी हो सके। आज के मनुष्य की सम्पूर्ण क्रियायें धर्ममुक्त है। प्रातःकाल से सन्ध्याकाल तक का समय हिंसा, पाप, दुर्विचार, लूट, घृणा, राग–द्वेष में ही बीतता है। आज का इंसान समय काटने को जीता है, पाप काटने को नहीं। आज का इंसान प्रातःकाल उठकर नहाता है, धोता है, खाता है, हँसता है, टी. वी. देखता है, रेडियोसुनता है, पार्क जाता है, दौड लगाता है, खेल खेलता है, यहाँ तक की तीर्थयात्रा करता है, मन्दिर जाता है, स्वाध्याय करता है। ये सभी क्रियाये मात्र समय काटने के उद्देश्य से करते हैं, पाप काटने के उद्देश्य से नहीं। लेकिन इस बात का सदैव ख्याल रखें–"हम समय को नहीं काट रहे हैं बल्कि समय हमें काट रहा है। जीवन समय काटने को नहीं पाप काटने को मिला है। समय काटने वाला व्यक्ति अपने अन्तिम समय को मातमपूर्ण बनाता है और पाप काटने वाला व्यक्ति अपने अन्तिम समय को महोत्सवपूर्ण बनाता है।" जीवन का मूल्यांकन करने वाला व्यक्ति समय के मूल्य को समझकर समय सार (आत्मा) को पाने का प्रयास करता है; **Time once lost can not be regaine** अर्थात् गया वक्त दुबारा नहीं आता अर्थात् डाल का चूका बन्दर, आषाढ़ का चूका किसान जिस प्रकार पछताता है–उसी प्रकार समय का चूका इंसान सदैव पछताता है। इसलिए प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह अपने जीवन में मिले प्रत्येक समय का सदुपयोग करे, दुरुपयोग नहीं। समय का सदुपयोग करने वाला प्रत्येक व्यक्ति सूर्योदय के पूर्व उठे, क्योंकि सूर्योदय के पूर्व उठने वाला प्रत्येक व्यक्ति स्वयं के परमात्मा रूपी सूर्य का दर्शन करता है। सूर्योदय के बाद भी सोने वाला व्यक्ति स्वयं के परमात्मा रूपी सूर्य का दर्शन कभी नहीं कर सकता है। नीतिकारों

ने कहा है कि–

प्रातः चार बजे से पाँच बजे के बीच उठने वाला देवता होता है। पॉच से छः बजे के बीच उठने वाला मनुष्य होता है। छः बजे से सात बजे के बीच उठने वाला जानवर होता है। और सात बजे के बाद सोकर उठने वाला व्यक्ति राक्षस होता है। पहले हम स्वयं निर्णय करें कि हम कौन हैं ? देवता या राक्षस।

देवता बनने का इच्छुक मनुष्य ब्रह्ममुहूर्त में उठकर स्वयं के ब्रह्म का स्मरण करता है। वह भावना भाता है कि जिस प्रकार ब्रह्म मुहूर्त मे पक्षी घोंसले छोडने को तैयार हुए हैं, कमल खिलने को तैयार हुए हैं, अन्धकार जाने को तैयार हुआ है उसी प्रकार मैं भी तुम्हें पाने को तैयार हुआ हूँ। यह रात्रि के अन्तिम पहर का अन्तिम समय घोर अन्धकार से युक्त है पर नियम से दिव्य प्रकाश को देने वाला है। उसी प्रकार हे परमात्मा ! मेरे पाप का अन्तिम पहर आये ताकि मैं दिव्य परमात्मा का दर्शन कर सकूँ। देवता होने का इच्छुक परमात्मा से पदार्थ नहीं परमार्थ ही मॉगता है क्योकि परमात्मा हृदय की धडकन है उस धड़कन को पाना प्रत्येक जीव का स्वभाव है। परमात्मा कहीं बाहर नही है, परमात्मा आत्मा के अन्दर ही विराजमान है लेकिन आज तक हमने परमात्मा को बाहर ही ढूँढा है। आत्मा के भीतर जो परमात्मा छुपा है उसे नहीं ढूँढा, न ही उसे पाने का प्रयास ही किया 'इस नश्वर शरीर के भीतर ही ईश्वर विद्यमान है।' उसे प्रगट करके उसका सतत् स्मरण करना है, उस दिशा की ओर चलना है। मन्जिल को प्राप्त करने के लिये मार्ग पर चलना आवश्यक है। मार्ग में चलने हेतु सर्वप्रथम ब्रह्ममुहूर्त में उठें।

ब्रह्ममुहूर्त में उठने के उपरान्त दोनों हथेलियों को देखें। हाथों की रेखाओं मे चन्द्रमा बनाकर अंगुलियों की चौबीस पौरों में चौबीस तीर्थंकरों को विराजमान करें और उन्हें अप्रत्यक्ष रूप से प्रणाम करे और भावना भावे कि–हे परमात्मा ! मैं आपकी कृपा से ही जाग्रत हुआ हूँ।

मृत्यु मेरे पीछे लगी हुई है, मृत्यु से पीछे छुडाने मे सतत् आपका स्मरण करता हूँ। हे प्रभु ! आपके दिव्य प्रकाश के सामने मौत का अन्धकार कभी नहीं आ सकता। इस प्रकार भावना भाता है और अपने हाथों को देखकर कहता है–हे प्रभु ! मेरे इन छोटे–छोटे हाथों से किसी का अपकार न हो, किसी का अपमान न हो, किसी की मृत्यु न हो। यह हाथ किसी को ऊपर उठाने के काम आये, किसी को गिराने के नहीं, यह हाथ किसी को बचाने के काम आये मारने के नहीं, यह हाथ सदैव वरदान में उठे अभिशाप में नहीं, यह हाथ सृजन के भाव से उठे, विध्वस के भाव से नहीं। हे परमात्मा ! इन हाथों से ईमानदारी पूर्वक कमाऊँ, बेईमानी से नहीं। हे प्रभु ! ये हाथ सदैव दान को उठे, माँग को नहीं। इतनी भावना भाकर पुन विनय पूर्वक परमात्मा को प्रणाम करें

और नौ बार णमोकार मन्त्र पढ़कर स्वयं के ब्रह्म का चिन्तन करता है और विचार करता है।

हे आत्मन ! तू अनादिकाल से विलासिता की गोद में चैन से सो रहा है। तेरे भीतर विलासिता का गहन अन्धकार है। तू व्यर्थ की कल्पना कर स्वद्रव्य को भूल गया और परद्रव्य को ग्रहण कर पतित हो रहा है। हे आत्मन् क्या तुझे कल्पना की उड़ान भरने से कभी शान्ति मिली है ? क्या तुझे परिवार, बीबी, बच्चे, रिश्ते–नातेदार शान्ति देते हैं ? नहीं ! नहीं !! नहीं !!! तो फिर तू क्यों पर द्रव्य की चाह कर रहा है ? क्यों हिरण की भाँति रेगिस्तान में पानी की चाह से दौड रहा है ? हे आत्मन ! कुछ क्षण सोच, विचार कर चाह–मात्र में आह है सम्यक राह नहीं ! हे आत्मन ! तू एक क्षण स्वयं में विश्राम कर–तेरे भीतर भी अनन्त आनन्द का सागर उत्ताल तरंगें ले रहा है लेकिन तू मूर्छा में फँसा स्वयं को भूल चुका है। उठ–जाग, आत्मदेव को पहचान, स्वयं की खबर ले व्यर्थ की कल्पना छोड, धर्म की ओर अपना मुख मोड़। देख तुझे तेरा परमात्मा बुला रहा है, वह बैचेन है, तुझसे मिलने को लेकिन तेरे कषाय, राग–द्वेष के पहरेदार उसे आने नहीं दे रहे हैं। छोड दे उसे और पहचान ले अपनी शक्ति को ताकि मुक्ति की प्राप्ति हो सके और भावना भाये–

प्रभु मेरी इन आँखों में वही तासीर हो जाये
नजर जिस चीज पर डालूँ तेरी तस्वीर हो जाये।

हे परमात्मा ! मुझमें वह शक्ति प्रदान करें कि मै जिसे भी देखूँ जिधर भी नजर डालूँ उधर आप ही आप नजर आयें। कोई पाप नजर न आये। इस प्रकार वह स्वयं ही स्वयं को आत्मा से कहें ताकि स्वयं के द्वारा स्वयं को सम्बोधन मिल सकें। स्वयं के द्वारा स्वयं को सम्बोधित करने वाला विवेक शील मनुष्य प्रभात काल जाग्रत हो करके जाप्य, चिन्तन आदि करके शरीर की शुद्धि अहिसात्मक तरीके से करता है।

सुखे मंजन से दॉत साफ करता है, छने हुए जल से स्नान करता है, चर्बी मुक्त साबुन व शैम्पू का प्रयोग करता है। जीवों की रक्षा करता है और पाप काटने तन–मन पवित्र करने, परमात्मा के दर्शन करने घर से मन्दिर की ओर चल पड़ता है। रानी मनोवती ने केवल गजमोती चढ़ाकर देव दर्शन की ही प्रतिज्ञा की थी। घर से निकाल दी गयी, पर बिना देव दर्शन के मुख में अन्न–जल भी नहीं डाला। जंगल में पहुँची और वृक्ष के नीचे परमात्मा का स्मरण करने लगी। देवता प्रगट हुए, वहीं भूमि के अन्दर मन्दिर प्रगट किया गजमोती दिये और देव वन्दना कर मनोवती ने अपना जीवन सार्थक किया। आचार्यों ने शास्त्रों में लिखा है–

यस्मिन देशे न तीर्थाणी न चेत्यानि न धार्मिकाः।
तास्मिन् देशे न गन्तव्यं स्वधर्म प्रतिपालकैः।।

जिस देश में तीर्थ न हो, जिन प्रतिमाये न हो उस देश में स्वधर्म के पालन करने वाले श्रावक को नहीं जाना चाहिए। कदाचित पहुँच जाये तो 108 बार णमोकार मन्त्र पढ़ कर अन्य कार्य करना चाहिए। देव दर्शन के संस्कार माता–पिता को बचपन से ही अपने परिवार में देना चाहिए।

ग्रहस्थ जीवन में बाल्यावस्था में था, जब तक मन्दिर के दर्शन नहीं कर लेता था तब तक परिवार जन चाय–नाश्ता नहीं देते थे। घर के बच्चे मन्दिर होकर आये या नहीं आये। इस बात की पहचान थी चन्दन का टीका। जब हम बच्चे मन्दिर से चन्दन का टीका लगाकर घर आते तो परिवार वाले कहते अब मन्दिर हो आया इसे पहले चाय नाश्ता दो। वह संस्कार मन में बैठ गये और प्रभु वन्दना का क्रम चल पडा। अगर जैन कुल में जन्म लेने के उपरान्त माता–पिता संस्कार नहीं देगे तो एक दिन ऐसा आयेगा कि माली प्रतिमा लेकर जैनियों के घर आयेगा और कहेगा अरे ! जैनियों उठो दर्शन कर लो मैं प्रतिमा ले आया। ऐसी स्थिति आये उसके पूर्व ही जैनत्व का प्रथम लक्षण **"देव दर्शन"** इस संकल्प को स्वीकारे, क्योंकि जिस प्रकार सूर्य की किरणों को पाकर कमल विकास को प्राप्त हो जाता है, खिल जाता है, उसी प्रकार जिन प्रतिमा के दर्शन पाकर भक्त का मन भी प्रसन्नचित हो खिल जाता है। यह जिन प्रतिमा आत्म शान्ति का निकेतन है। जिन प्रतिमा परम सुख सरिता है। जिन प्रतिमा निष्कन्टक राजमार्ग है।

जिन प्रतिमा स्वयं को निहारने का दिव्य दर्पण है। जिन प्रतिमा स्वयं को शान्तिपूर्ण जिन्दगी जीने की सलाह देती है। जिन प्रतिमा कर्मरूपी पहाडों को तोडने में सशक्त वज्र है। जिन प्रतिमा कल्पवृक्ष है। जिन प्रतिमा अलौकिक काम कुम्भ है। जिन प्रतिमा एक भव्य चिकित्सक है जो कर्म रूपी रोग को दूर करती है। जिन प्रतिमा आत्म प्रतिभा की जाग्रति का उद्गम स्थान है।

आप ग्रहस्थ हैं। पाप से बचने, पुण्य में रचने–पचने प्रतिदिन देव दर्शन करें। सम्भव हो सके प्रातःकाल करें या 24 घण्टे में एक बार जब समय मिले तब देव वन्दना करें। स्वयं निर्णय करें–मानव जन्म क्यों मिला है ? दुनिया के दर्शन कर समय काटने या देवता के दर्शन कर पाप काटने के लिए ? निर्णय आपके हाथ में है।

"करे प्रतिदिन जिन प्रतिमा दर्शन
ताकि होंवे निज प्रतिमा का जागरण।"

जब यह प्रथम लक्षण अवतरित हो जाये, तो दूसरा लक्षण है– **"पेयं सुपाथः पटगालितं सदा"** यानिः जल छान कर पिये। जैन आचरण अहिंसा प्रधान आचरण है।

जैन आचरण को स्वीकार करने वाला व्यक्ति किसी भी जीवों की प्रत्यक्ष रूप से घात नहीं करता और अप्रत्यक्ष रूप से किसी जीव का घात न हो इस बात का विशेष ख्याल रखता है। वह सम्यक् दर्शन की प्राप्ति हेतु प्रतिदिन देव दर्शन करता है और सम्यक् चारित्र की प्राप्ति हेतु प्रत्यक्ष संकल्पी हिंसा को छोड़कर अप्रत्यक्ष समस्त हिंसाओं से बचता है। अप्रत्यक्ष हिंसा से बचने हेतु जल छानकर पीता है।

जैन आचरण को स्वीकार करने वाले के अन्दर जीव रक्षा की तीव्र भावना रहती है। संसार में सर्वत्र जीव ही जीव है। वह अपने प्रयास के अनुसार जीव की सुरक्षा करते हुए मानवधर्म का निर्वाह करता है और जल छानकर पीता है। यद्यपि जल एकेन्द्रिय जीव है। लेकिन जल के अन्दर हजारों त्रस जीव (दो तीन चार पाँच इन्द्रिय सूक्ष्म जीव) विद्यमान हैं। जो आँखों से दिखाई नहीं पडते हैं मात्र उसे सूक्ष्मदर्शी यन्त्रों द्वारा ही देखा जा सकता है। 'वैज्ञानिकों ने शोध करके बताया है कि एक बूँद अनछने जल में 36450 जीव पाये जाते हैं।' यदि हम अनछने जल का प्रयोग करते हैं तो एक बार में अरबों–खरबों जीवों का घात करते हैं और अगर पीते हैं तो लाखों करोड़ों जीवों को पी जाते हैं और तीव्र पाप का उपार्जन करते हैं तथा अनेक रोगों को निमन्त्रण देते हैं। ग्रहस्थों को पाप से बचने सदैव जल छानकर पीना चाहिए। हो सके तो स्नानादि भी जल छानकर करना चाहिए आगम में कहा गया है–

वस्त्रेणाति सुपीनेन गालितं तत्पिवेज्जलम्,
अहिंसा व्रतरक्षायै माँस दोषाप नोदने।
अम्बु गालितं शेषं तन्नक्षिपेन्क्वचिदन्यतः
तथा कूप जलं नद्यां तज्जलं कूप वारिणि।।

सूर्य का प्रतिबिम्ब भी दिखाई न पडे ऐसे मोटे कपड़े से जल छानना चाहिए। ऐसा करने से अहिंसा व्रत की रक्षा होती है। अर्थात् त्रस जीव कपडे में रह जाते हैं जिससे वह जल त्रस जीव रहित माना जाता है। इस प्रकार छने जल के उपयोग से त्रस जीवों के भक्षण का पाप ग्रहस्थ को नहीं लगता है। वह मॉस भक्षण के दोष से बच जाता है। ग्रहस्थ को इतना और विशेष ध्यान रखना चाहिए कि पानी छानने के उपरान्त जिवाणी अर्थात् जिस कपडे से पानी छाना जाता है उस कपड़े को पात्र में उल्टा करें और छना पानी लेकर उसमें डालें। जब जिवाणी निकल जाये तो उसे पुनः उसी कुएँ, नदी, जलाशय, बावड़ी में डाल देवें ताकि उसके जीव वहीं पहुँच जायें। हेण्ड पम्प आदि के पानी का उपयोग करते हैं तो हो सके तो उसी में एक पाइप और ऊर्ध्वमुखी लगवा देवें

जिवाणी उसी में डाली जा सके ताकि जीवों की रक्षा हो सके। हेण्डपम्प में चमडे का वायसर या वॉल लगा हो तो उसके पानी का उपयोग न करें।

ग्रहस्थ को पानी छानने का वस्त्र पात्र से तिगुना बडा रखना चाहिए ताकि अच्छी तरह से पानी छन सके। पतले कपडे से पानी छानने पर पूर्णतः जीवाणु नहीं बच पाते हैं। क्योंकि "वैज्ञानिकों ने शोध करके बताया है कि–पानी में दो प्रकार के कीटाणु होते हैं (1) बैक्टिरिया (2) वायरस। पतले छन्ने से मात्र बैक्टिरिया कीटाणु छनते हैं, वायरस विषाणु रह जाते हैं, जो अनेक प्रकार के नारू रोग हैजा आदि उत्पत्ति में कारण है। अतः मोटे कपडे से पानी छानें।"

मोटे कपडे से छने पानी की मर्यादा 48 मिनट की है तथा सौफ लवंग इलायची या अन्य पदार्थ मिले हुए पानी की मर्यादा छः घण्टे की। एक बार उबले पानी की दस घण्टे की, दो बार उबले पानी की सोलह घण्टे की एवं तीन बार उबले पानी की चौबीस घण्टे की मर्यादा है। आजकल के ग्रहस्थ एक बार पानी छानकर मटके में या बर्तन मे रख लेते हैं और चौबीस घण्टे उसका उपयोग करते हैं। वे निश्चित रूप से पाप के भागी होते हैं। समझदार ग्रहस्थ बिना छना जल नहीं पीता है और बिना छने जल से स्नानादि भी नहीं करता; क्योंकि पानी पीने में तो मात्र जग दो जग आता है पर नहाने में कई बाल्टी पानी व्यर्थ में फिकता है। नहाने में, वस्त्र, आंगन, गाडी–मोटर आदि धोने में भी जीवदया की भावना से छने जल का ही उपयोग करें। पीने मे तो नियम से करें। शास्त्रो में कहा है–

एक बिन्दू द्यवाजीवाः कापोतवन्समायदि
भूत्वाचरन्तिचेज्जम्बू द्वीपोदि पूर्यते चतैः

एक बूँद अनछने जल में इतने जीव हैं कि वे अगर कबूतर के बराबर हो जाये तो सारा जम्बू द्वीप भर जावें।

अब आप स्वयं विचार करें कि कितने जीवों का घात जरा से आलस्य के कारण प्रतिदिन करते हैं।

छने जल के प्रयोग की बात मात्र जैन धर्म में ही नहीं कही गई है अपितु अन्य ग्रन्थों में भी छने जल के प्रयोग की बात कही गई है।

"वस्त्रपूतं जलं पिवेत्" वस्त्र से छानकर जल पीवें। अन्य ग्रन्थों में यहाँ तक कहा गया है कि–धीवर मछली मारकर जितना पाप कमाता है उतना ही पाप एक मनुष्य बिना छना जल का उपयोग कर कमाता है। अतः धीवर और अनछने जल का उपयोग करने वाले व्यक्ति में पापोपार्जन की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है।

दया पालक इंसान को **"जीयो और जीने दो"** का सूत्र अपनाना चाहिए। किसी भी प्रकार की शरम न करके सर्वत्र छने जल का उपयोग करना चाहिए। संसार में शर्म व संकोच के कारण भी कई प्रकार के पाप होते है। पर धर्म के नाम पर शर्म करने वाले को कभी भी शिव शर्म की प्राप्ति नहीं होती है। जहाँ कहीं भी रहे दया पाले। अपने साथ रूमाल रखें और छान कर पानी पीवें। प्राचीन जैन आचरण तो लोटा छन्ना डोर के धारक व्यक्ति को जैन स्वीकारता था और इसी कृत्य से जैनत्व का पूर्णतः सम्मान करते थे लेकिन आज हम अपनी संस्कृति और सम्मान को भूल चुके हैं। जागे और आगे बढ़े। संस्कृति की रक्षा करने से स्वमेव जीव रक्षा होगी।

मित्रो ! अन्तिम बात ध्यान रखें–

जिस प्रकार स्टोव में तेल भरने वाला व्यक्ति तेल छानकर भरता है। वह जानता है कि बिना छना तेल डालने से नोजल में कचरा आ जायेगा और कचरे के कारण स्टोव बुझ जायेगा। इसलिए वह शर्म छोडकर सावधानीपूर्वक कार्य करता है। कदाचित स्टोव में कचरा आ भी जाये तो उसे अलग करने पिन का भी प्रयोग कर लेता है। लेकिन कहीं पेट में बिना छना जल डाला और कोई कचरा (कीटाणु) शरीर के किसी नोजल में (नसों में) प्रवेश कर जाये तो फिर जीवन सुरक्षा की कोई गारन्टी नहीं है और नहीं ऐसी कोई पिन है जो आपको मौत से बचा सके। दूसरे की मौत स्वयं की मौत बनती है। इसलिए सावधान रहें। जैन आचरण का पालन करें ताकि जल छानकर पीने की अहिसात्मक शैली समस्त अभक्ष्य शराबादि पेय पदार्थो से बचाकर आपके जीवन को सुरक्षित रख सकें। जब दूसरा आचरण प्रगट हो जाये उसी के साथ–**"हेयं निशाया खलु भोजनं इदा"** अर्थात् रात्रि भोजन का भी त्याग कर देना चाहिए।

भोजन प्रत्येक जीव की अनिवार्य आवश्यकता है। भोजन के बिना कोई जीव जीवित नहीं रह सकता है लेकिन भोजन भी किसे किस समय करना चाहिए यह विचारणीय महत्वपूर्ण प्रश्न है। पृथ्वी में इंसान एवं जानवर ये दो प्रकार के जीव हैं। दोनों अपना अलग–अलग आस्तित्व रखते हैं। जानवरों की स्वतन्त्र प्राकृतिक व्यवस्था है। कुछ जानवर दिवा भोजी होते हैं एवं कुछ जानवर निशा भोजी होते हैं। इनमें भी जो दिवा भोजी होते हैं वे निशा भोजी नहीं होते, जो निशा भोजी होते हैं वे दिवा भोजी नहीं होते हैं। वे अपने स्वाभाविक प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन नहीं करते हैं। कुछ पालतू जानवर हैं जो मनुष्यों की संगति में आने के कारण अपने स्वाभाविक नैसर्गिक नियमों का उलंघन कर दिन और रात दोनों समय खाते हैं। यह उनकी मजबूरी है न कि भोजना शक्ति।

इंसान प्रकृति का सर्वश्रेष्ठ प्राणी है लेकिन वह अपने प्राकृतिक नियमों का उल्लंघन कर विकृति पूर्ण जिन्दगी जीने लगा है। प्रकृति ने मनुष्य को दिवा भोजी बनाया है लेकिन उसकी भोजनासक्ति ने उसे दोनों तरफ से भ्रष्ट कर दिया है। न वह दिवा भोजी रहा न वह निशा भोजी। उसकी भोजनासक्ति न दिन देखती है न रात, भक्ष्य देखती है न अभक्ष्य। उसकी जिह्वा सदैव लपलपाती रहती है, लेकिन जैन आचरण और वर्तमान विज्ञान कहता है कि भोजन का हमारे तन मन पर विशेष प्रभाव पडता है। अभक्ष्य भक्षण न करने वालों का एवं दिन में भोजन करने वाले का मन एवं तन स्वस्थ्य होता है। रात्रि में भोजन करने से दोनों अस्वस्थ हो जाते हैं। रात्रि स्वयं अन्धकार रूप है रात्रि में खाने वाला भी जीवन को अन्धकार पूर्ण बनाता है। अत इसान को किसी भी परिस्थिति में रात्रि में भोजन नहीं करना चाहिए।

रात्रि भोजन के दोषों का गम्भीरता से अध्ययन किया जाय तो उसमें आरम्भ व हिंसा की बहुलता पायी जाती है। रात्रि में भोजन बनाने से सर्वप्रथम अग्नि जलाने का आरम्भ करना पडता है, जो अनेकों जीवों के घात में कारण है। वैज्ञानिकों ने सिद्ध किया है कि सूर्य के प्रकाश में **''अल्ट्रावाइलेट''** नाम की बैंगनी किरणें होती हैं जो सूक्ष्म कीटाणुओं को उत्पन्न होने नहीं देती है। सन्ध्या होने के उपरान्त उन किरणो का प्रभाव समाप्त हो जाता है। जिससे रात्रि के समय अनेक सूक्ष्म जीवो की उत्पत्ति होने लगती है जो उसी विद्युत व दीपक के प्रकाश के रंग की होती है। इस बात का हम स्वयं परीक्षण कर सकते हैं। सूर्य के प्रकाश में बिजली एवं दीपक जलाने से कभी भी कीट–पतंगें आदि उत्पन्न नहीं होते लेकिन रात्रि में बिजली या दीपक जलाने से निश्चित ही सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। वे जीव अपने दिवानगी का परिचय देते हैं और बनने वाली खाद्य–सामग्री में गिर जाते हैं और भोजन को विषाक्त कर देते हैं जिसका सभी दयालु इंसान को प्रत्यक्ष अनुभव भी है। अत ऊपरी पापों से बचने रात्रि में भोजन सम्बन्धी आरम्भ भी न करें।

दूसरी बात सूर्यास्त होने के उपरान्त पाचन शक्ति मन्द पड जाती है। भोजन का पूर्णतः पाचन नहीं होता जिससे पेट फूलना, गैस बनना, मस्तिष्क का अस्थिर रहना, भारीपन महसूस होना, स्वप्नदोष का होना, चिन्ता का होना, गहरी डकारे आना आदि अनेक शारीरिक बिमारियों का आगमन होता है। आयुर्वेदिक शास्त्रों में तो यहाँ तक कह दिया गया है कि–जिस प्रकार सूर्य के प्रकाश में कमल खिलता है उसी प्रकार सूर्य के प्रकाश में मनुष्य की आहार थैली भी पूर्णता के साथ खुलती है सक्रिय होती है तथा जिस प्रकार सूर्य के अभाव में कमल मुरझा जाते हैं उसी प्रकार आहार की थैली भी सिकुड जाती है, निष्क्रिय होती है। इसे आयुर्वेदिक शास्त्रों में कमल नाड कहा है। अतः रोग

रहित रहने के लिए दिवस में सूर्योदय के 48 मिनट बाद एवं सूर्यास्त के 48 मिनट पूर्व ही भोजन कर लेना चाहिए। आचार्य सोमदेव ने कहा है–

अहिंसा व्रत रक्षार्थं मूल व्रत विशुद्धये
निशाया वर्जयेत भुक्ति मिहामुत्रा च दुखदाम्

अहिसा व्रत की रक्षा के लिए आठ मूल गुणों की निर्मलता के लिए इस लोक सम्बन्धी दुःखों से बचने के लिए परलोक सम्बन्धी दुर्गति से बचने के लिए रात्रि भोजन का त्याग करना चाहिए।

जैन आचरण में सर्वप्रथम अहिसा के प्रति पालनार्थ जीव रक्षा हेतु रात्रि भोजन को वर्जित बताया है, क्योंकि रात्रि के आरम्भ में जीवोत्पत्ति एवं जीव विनाश सर्वाधिक होता है। दूसरे नम्बर पर आठ मूल गुणों की निर्मलता के लिए कहा गया है; क्योंकि मद्य (शराब), मॉस और मधु (शहद) तीनों महानिद्य हैं। बहुजीव घात पूर्ण है। इसके सेवन से मानवता समाप्त होती है। अतः रात्रि में भोजन करने से भोजन में स्थूल एवं सूक्ष्म जीव पड जाते हैं। अतः वह मॉस युक्त हो जाता है। इसलिए रात्रि में भोजन कर मांस खाने के समान दोषपूर्ण होने से भी त्याज्य बतलाया गया है। तीसरे नम्बर पर इस लोक सम्बन्धी दुःख से बचने के लिए त्याग कराया गया है; क्योंकि रात्रि भोजन करने से कदाचित् धोखे से भी विषैले जन्तुओं का भक्षण हो गया तो शरीर अनेक रोगों से ग्रसित हो जाता है। वह सदा पीडित बिमार व दुःखित रहता है; क्योंकि ऐसा कहा गया है कि–भोजन में यदि चीटी खाने में आ जाये तो बुद्धि विकृत हो जाती है। जुँयें खाने में आ जाये तो जलोदर रोग हो जाता है। बाल खाने में आ जाय तो स्वर भंग हो जाता है। मकड़ी खाने में आ जाये तो कोढ हो जाता है। मक्खी खाने में आ जाये तो उल्टी हो जाती है। बिच्छू खाने में आ जाये तो तालु खराब हो जाते है और सर्पखाने में आ जाये तो प्राण ही चले जाते हैं। इसलिए इस लोक सम्बन्धी दुःखों से बचने के लिए भी रात्रि भोजन छुड़ाया गया है। चौथे नम्बर परलोक–सम्बन्धी दुर्गति के दुःखों से बचने के लिए रात्रि में भोजन त्याग कराया गया है। आगम में बडी प्यारी कथा आती है–

वनमाला नाम की एक कन्या ने संकल्प कर लिया कि मैं विवाह करूँगी तो लक्ष्मण से ही करूँगी अन्य किसी से नहीं करूँगी। कुछ समय बाद उस कन्या को पता चला कि राम लक्ष्मण को वनवास हो गया है। इस बात को सुनकर उस कन्या ने सन्यास लेना श्रेष्ठ समझा पर माता–पिता के समझाने पर वह कुछ समय तक इन्तजार किया शायद राम और लक्ष्मण इस नगर से होते हुए गुजरे। काफी समय तक इन्तजार करने पर भी राम–लक्ष्मण का पता नहीं चला और न ही वे वहाँ से गुजरे। तो वनमाला ने गुप्त रूप से आत्म हत्या करने का विचार किया और एकान्त जंगल में चली गई। अर्ध रात्रि के

सन्नाटे में मरने को उद्यत हुई और एक वृक्ष में रस्सी बाँध कर कहती है कि–हे वृक्षो ! हे लताओ ! हे सरिताओ ! हे पृथ्वी ! हे वन्य पशुगण ! यदि यहॉ से लक्ष्मण गुजरे तो कह देना तुम्हारी याद में एक कन्या ने अपने प्राणों की आहुति दे दी।

किस्मत से राम–लक्ष्मण और सीता उसी वन में थे। लक्ष्मण पहरा दे रहे थे। जैसे ही उन्होंने रात्रि के सन्नाटे में करुण पुकार सुनी तो वे उस दिशा की ओर दौड़ पड़े। देखा तो एक सुन्दर सी कन्या फॉसी लगाकर मर रही है। लक्ष्मण उसे मरने से रोकता है और मरने का कारण पूछता है। वनमाला का उत्तर सुनकर लक्ष्मण मन ही मन प्रसन्न होकर बाहर लज्जा को प्रगट करता है और उस कन्या को रामचन्द्र जी के पास ले जाता है। रामचन्द्र जी सारी बातें सुनते हैं और लक्ष्मण से कहते हैं–लक्ष्मण मेरे साथ सीता है तेरे साथ वनमाला। इसे स्वीकार लो। लक्ष्मण कहने लगे भैया ! मै आपकी सेवा को आया हूँ इसकी नहीं। अगर ये मेरे साथ रहेगी तो मैं आपकी सेवा नहीं कर पाऊँगा इसलिए क्षमा चाहता हूँ। वनवास काल पूर्ण होने के उपरान्त मैं इसे स्वीकार करूँगा। राम ने तथास्तु कह दिया। वनमाला फिर बिछुडने की–सम्भावना देख लक्ष्मण को राम के सम्मुख वचनबद्ध करने लगी और कहने लगी अगर आपने वचन पूरा नहीं किया तो .....। तब लक्ष्मण ने कहा–अगर मैंने वचन पूरा नहीं किया तो मेरी वही दशा हो जो रात्रि भोजन करने वाले की होती है। वनमाला ने पूछा–रात्रि भोजन करने वाले की क्या दशा होती है ? तब लक्ष्मण ने कहा–

उलूक काक मार्जारः गृद्ध सांभर सूकराः
अहि वृश्चिक गोधाया जायते निशिभोजनात्

जो रात्रि में भोजन करता है वह तीव्र पाप के कारण मरकर अगले जन्म में उल्लू, कौआ, बिल्ली, गिद्ध, सांभर, सूअर, सर्प, बिच्छू, चील एव चमगादड़ आदि निंद्य पर्याय को पाते हैं, दुःख उठाते है, मल खाते हैं, मार खाते हैं और तरह–तरह के कष्टों को झेलते हैं इसलिए इस प्रकार की दुर्गति से बचने के लिए चौथे नम्बर पर रात्रि भोजन का त्याग कराया गया है।

मित्रो ! मरना श्रेष्ठ है, रात्रि भोजन करना श्रेष्ठ नहीं है ? क्योंकि मरने से तो मात्र स्वयं के प्राणों का घात होता है लेकिन रात्रि भोजन करने से स्वयं का एवं पराये सैकडों जीवों के प्राणो का घात होता है। अतः हो सके तो रात्रि में खाद्य (रोटी दाल सब्जी) स्वाद्य (स्वादिष्ट वस्तु) लेय (रबडी, चटनी आदि) पेय (दूध, पानी एवं रस) इन सभी का त्याग करें; क्योंकि रात्रि में खाने से मॉस खाने का एवं पीने से खून पीने का पाप लगता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ में रात्रि भोजन त्याग का अचिन्त्य फल बताया गया है।

जो निशि भुक्ति वज्जदि सो उववासं करे छम्मासम्।
संवच्छरस्स मज्मे आरंभ चरदि रयणीय।।

जो मनुष्य रात्रि भोजन का एक वर्ष तक के लिए त्याग करता है वह छः माह के उपवास का फल पाता है; क्योंकि उसमें रात्रि–भोजन त्याग कर सम्पूर्ण आरम्भ व हिंसा का त्याग किया है।

छः माह के उपवास का फल उसी को प्राप्त होता है जो सम्पूर्ण आहार पानी का त्याग करता है। अन्यथा यथाशक्ति आरम्भ जनित पाप न हो, मादकता तामसिकता गरिष्टता पूर्ण भोजन न हो। ऐसे अन्नादि का तो नियम से त्याग कर ही देना चाहिए। जीवन खाने–पीने को नहीं–त्याग–तपस्या को मिला है। प्रकृति ने मनुष्य को दिवा–भोजी बनाया है। उसे कायम रखे। न दिन का बना रात में खाये, न रात का बना दिन में खाये, न दिन का बना रात में खाये, अपितु दिन का बना दिन में ही खायें और सभी को दिन में ही खिलाये। ताकि आप भी इंसान से भगवान बन सकें। अन्यथा दिन और रात चरते रहेंगे तो इंसान कहलायेंगे न जानवर अपितु शैतान कहलायेंगे, पापी कहलायेंगे।

मित्रो ! आप मन मे इतना ही विचार करें कि हमारा कोई उपकारी व्यक्ति या परिवार का सदस्य मरण को प्राप्त हो जाता है तो उस दिन न घर में चूल्हा जलता है और न ही कोई भोजन करता है सब उदास हो भगवान का नाम लेते हैं, उसी प्रकार मन में सोचें कि सूर्य हमारे परिवार का सदस्य है हम सबका उपकारी है यह अस्त हो चुका है अब हम शान्ति से भगवान का नाम लेंगे, भोजन नहीं करेंगे और खाना–पीना बन्द कर देवे, जब तक सूर्य देवता पुनः आकाश में न चमचमाने लगे। मनुष्य को बुद्धि का भण्डार प्राप्त करने के लिए, आपत्तियों को हटाने के लिए, सन्मार्ग में गमन के लिए, कीर्ति को प्राप्त करने के लिए, धर्म का सेवन करने के लिए, पापों के फल और दुःखों को हटाने के लिए, स्वर्ग और मोक्ष की लक्ष्मी प्राप्त करने के लिए, रात्रि भोजन का सदा–सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।

इस प्रकार जिसे द्रव्य श्रावकत्व (जैनत्व) का भान हो जाता है वह चारों संकल्पों का दृढतापूर्वक पालन करता है। उसी को श्रावक कहते है।

उसको श्रावक सदा कहो जो श्रद्धा व विवेक धरे।
क्रियावान होकर भक्ति से रात-दिवस को एक करें।

वही श्रावक देव गुरु की आज्ञा पर श्रद्धा करता है। विवेक का पालन करते हुए हेय उपादेय को समझकर सम्यक् क्रिया करता है और देव–शास्त्र–गुरु की भक्ति में तल्लीन होकर दिन–रात पाप को काट कर अपने इष्ट परमात्मा को प्राप्त करता है। अपने जन्म व जीवन को सार्थक करता है।

"जुआ खेलना"

हार जीत की शर्त लगाकर खेलें सट्टा जुआ ताश।
शतरंज चौपड़ से क्रीड़ा कर करता वह जीवन धन नाश।।
है अनर्थ का मूल कर्म यह चीर हरण करवाया है।
पाण्डव जैसे बलशाली को वन-वन में भटकाया है।।6।।

अर्थ :

हार–जीत की शर्त लगाकर सट्टा ताश चौपड शतरंज आदि से खेल करना जुआ खेलना कहलाता है। यह जीवनरूपी धन का नाश करता है। समस्त अनर्थों की जड़ है। यह जुआ ही भरी सभा में द्रोपदी का चीरहरण करवाया था और पाण्डव जैसे बलशाली को वन–वन मे भटकाया था।

विवेक विकासिनी विवेचन :

अतृप्त आकांक्षाओं की तृप्ति के लिए भागता हुआ इसान क्षणिक सुख की प्राप्ति के लिये अनेक दुर्व्यसनो को स्वीकार करता है। व्यसन की स्वीकृति उसे सुख नहीं अपितु शारीरिक, मानसिक, सामाजिक व आर्थिक रूप से दुःख ही प्रदान करती है। मनुष्य अपने जीवन का महत्व नहीं समझता और अपनी हवस को बुझाने व्यसन रूपी अग्नि में अपने जीवन को झोंक देता है एवं अन्त में उसके पास पश्चाताप के अलावा कुछ भी शेष नहीं रहता है।

आचार्यो ने कहा है कि–जो मनुष्य दुर्लभ नर–जन्म को पाकर सयम, सदाचरण को न धारण कर व्यसनो से युक्त हो जाता है वह जड बुद्धि का इंसान महल में लगे कल्प वृक्ष को उखाड कर धतूरे के वृक्ष को बोता है। चिन्तामणि रत्न को दूर फेंक कर काँच के टुकडे को स्वीकार करता है। हाथों मे रखे गुलाब–जामुन को फेंक कर घोडे की लीद को खाना चाहता है। सोने की थाल को पाकर उसमें धूल भरता है, अमृत को पाकर पैर धोने का कार्य करता है। वह मूर्ख कव्वों को उडाने के लिये चिन्तामणि रत्न को फेंकता है।

वास्तव में यह यथार्थ सत्य है कि जिस मनुष्य के पास सयम, सदाचरण है तो संसार की समस्त विभूतियॉ बल, बुद्धि, वैभव, शांति, सुख सभी उसके चरणों में लेटने लगती

हैं और यदि मनुष्य का जीवन व्यसनों का घर हो जाता है तो वे समाज में निन्दा और अपमान के पात्र ही बने रहते हैं तथा भविष्य में दुर्गति के मेहमान होते हैं। व्यसनी व्यक्ति अपने साथ परिवार, खानदान, समाज को भी पाप के गड्डे में गिरा देता है। व्यसन मनुष्य के जीवन को अंधकारपूर्ण करता है। इस सदी का सबसे बडा दुर्भाग्य है कि मानव का मन अस्वच्छ हुआ है और व्यसन की ओर उसके कदम शीघ्रता से गतिशील हुए हैं। जिसका दुष्परिणाम परिवार, समाज, नगर, राज्य, देश सभी को भोगने पडे हैं, पड रहे है। यह व्यसन संयम का शत्रु है, पाप का मित्र है, आपत्तियों का स्थान है, खोटे ध्यान का पार्क है, क्रीडा वन है, व्याकुलता का भण्डार है, शोक का कारण है, कलह का गृह है। जो इन्सान व्यसनों को सुख का घर मानता है, वह इंसान विक्षिप्त है, भीतर से रुग्ण है, सोचने समझने की क्षमता नष्ट हो चुकी है, बुद्धि का विपर्यय हो चुका है। इसी कारण वह जहर को अमृत, अग्नि को जल, अंधकार को प्रकाश, शत्रु को मित्र, नाग को पुष्पमाला, पत्थर को चिन्तामणि रत्न के समान मानता है और उसे स्वीकार कर जश्न मनाता है।

व्यसन मनुष्य की सुखाकांक्षा का मिथ्या रूपांतरण है। व्यसन बाहर से पारे जैसी चमकाली व आकर्षक है, मन को लुभाती है पर इसका भक्षण (स्वीकृति) मृत्यु का साक्षात आलिंगन है। व्यसन एक खाज है, इसे जितना खुजलाया जाये उतनी ही वृद्धि को प्राप्त होती है। व्यसन मनुष्य की इन्द्रिय लौलुपता का दुष्परिणाम है। व्यसन मनुष्य की भीतरी ऑखों पर पट्टी बॉध देती है और धीरे–धीरे बाहरी ऑखों की भी रोशनी छीन लेती हैं। व्यसन रूपी नाग जिसे डस लेता है, उसकी जिन्दगी वासना की नीलिमा से परिपूर्ण हो जाती है और पाप की डोरियाँ उसकी अर्थी कसने लगती हैं।

शास्त्रों में कहा है–

''काव्य शास्त्र विनोदेन कालो गच्छति धीमताम्।
व्यसनेन तू मूर्खाणां निद्रया कलहेन वा।।''

अर्थात् इस संसार में काव्य शास्त्र के आनन्द में बुद्धिमानों का समय व्यतीत होता है तथा मूर्खो का समय व्यसन निद्रा या कलह में व्यतीत होता है।

व्यसन युक्त इन्सान की जिन्दगी राख लिपटे अंगारे के समान है, जो बाहर से शीतल पर भीतर से ज्वाला युक्त है, जो जीवन को जलाने में ही कारण है। व्यसन मनुष्य को स्वभावतः नाश की ओर ले जाता है। व्यसन एक ऐसा मरुस्थल है, जहाँ सदाचरण के वृक्ष नहीं उगते। व्यसन स्वाभाविकता का क्षरण है। व्यसन मनुष्य को प्रभु नही पशु बनाता है। जगदीश्वर नहीं जानवर बनाता है, इंसान नहीं शैतान बनाता है। राम नहीं रावण

बनाता है, महावीर नहीं मारीचि बनाता है, कृष्ण नहीं कंस बनाता है। शिवयात्रा नहीं शव यात्रा कराता है। जैसे–बाढ युक्त नदी के धार तटों को काटती है, उसी प्रकार व्यसन मनुष्य के जीवन रूपी तटों को काटता है। धन, वैभव, संगति, परिस्थिति के कारण विलासिता में फॅसना, व्यसनों में जीवन गॅवाना महामूर्खता है। व्यसनियों के जीवन से निर्व्यसनियों का मरण श्रेष्ठ है। कहा भी है–

व्यसनस्य च मृतयोस्य व्यसनं कष्ट मुच्यते।
व्यसनस्यधोऽधः व्रजते स्वर्गस्य व्यसनं मृतः।।

अर्थात् व्यसन युक्त जीवन जीने से मरणश्रेष्ठ है, क्योंकि व्यसन युक्त जीवन कष्टमय है। व्यसनी मरने के पश्चात् नीचे से नीचे नरक में पतित होता है। निर्व्यसनी जीव मरणोपरान्त स्वर्ग की ओर गमन करता है। इसलिए दु.खदाता व्यसनों का त्यागकर सभ्यता–संस्कृति, सौहार्द्र, समन्वय, समर्पण, स्वास्थ्य को कायम रखें।

मनुष्य जीवन एक स्वर्णिम अवसर है। इसका हमें पूरा–पूरा लाभ उठाना चाहिए। हमें अपने जीवन को आनन्दित करने के लिए समस्त निन्दित कर्मो का सदा–सदा के लिए त्याग करना चाहिए। जीवन एक यात्रा है। इसमें व्यसनों के स्टेशनों पर विश्राम न करते हुए अनवरत चलते रहना चाहिए। जीवन की सफलता का चरम–उद्देश्य व्यसन–मुक्ति होना चाहिए। मनुष्य को सदैव विचार करना चाहिए कि हम मृत्यु के जाल में फॅसकर विचर रहे हैं। किसी भी क्षण मृत्यु अपना ग्रास बना सकती है। शरीर नित्य रहने वाला नहीं, है, रोग का कभी भी आक्रमण हो सकता है। मृत्यु हमेशा सिर पर मंडराती रहती है। शेर के समान भयभीत करने वाला बुढ़ापा सामने खडा है। जिन्दगी बर्फ के समान गलती व मोम के समान पिघलती जा रही है। आयु के मटके से श्वास का जल निरन्तर रिसता जा रहा है। ऐसी जिन्दगी के भीषण क्षण में अनेक प्रकार की कामना, वासना व्यसन के चक्कर मे फॅसकर मै जिन्दगी को तबाह करना नहीं चाहता।

मैं व्यसनों से मुक्त होकर सत्य साधना को स्वीकार कर धर्म का आलिगन कर आत्म–कल्याण का उत्तम कार्य करूँगा। मैं सद्बुद्धि का भण्डार भरने के लिए आपत्तियों को हटाने के लिए सन्मार्ग मे गमन करने के लिए, कीर्ति को प्राप्त करने के लिए, पापों के फल दु:खों को हटाने के लिए, स्वर्ग तथा मोक्ष की लक्ष्मी को प्राप्त करने के लिए व्यसनमुक्त जीवन व्यतीत करूँगा। यह व्यसन मेरे जीवन की प्रतिष्ठा रूपी कमल को नष्ट करने के लिए तुषार के समान है। यह व्यसन दया रूपी उपवन को उजाड़ने के लिए हाथी के समान है। यह व्यसन कल्याण–रूपी पर्वत को चूर्ण करने के लिए वज्र के समान है। यह व्यसन कुबुद्धि रूपी अग्नि को प्रज्जवलित करने के लिए लकड़ी के

समान है। इसलिए मैं इस व्यसन को स्वीकार कर दर–दर की ठोकरें नहीं खाना चाहता हूं। अपना भविष्य नहीं बिगाड़ना चाहता हूँ। मैं अपनी आत्मा के चरित्र को पवित्र करना चाहता हूँ; क्योंकि यह व्यसन सर्वप्रथम चारित्र को नष्ट करता है जिससे स्वास्थ्य भी नष्ट होता है और धन भी नष्ट होता है। इसलिए हमें अगर अपना जीवन स्वर्ण–शिखर के समान सर्वोच्च बनाना है, समाज में प्रतिष्ठा पानी (प्राप्त करनी) है, आत्म–कल्याण के साथ समाज व देश का कल्याण करना है, सुख एवं समृद्धि की वृद्धि करनी है; तो एक–एक अवगुणों को छोडते हुए आगे बढना चाहिए। अन्यथा ये सात व्यसन हमें क्रम से सात नरकों को प्रदान करने वाले सिद्ध होंगे। ये व्यसन 'शूलों की सेज' है। इसमें आराम किचित भी नहीं है। संसार में व्यसनों से युक्त वातावरण मिलने पर भी व्यसनों से मुक्त रहना ही हमारा ध्येय बने। जब तक हम व्यसनों से मुक्त नहीं होवेंगे तब तक हम द्रव्य श्रावक कहलाने के अधिकारी भी नहीं हैं। आचार्यो ने कहा है–

"यः सप्त स्वेकमप्यत्र व्यसनं सेवते कुधीः
श्रावकं स्वं ब्रुवाण स जने हास्यास्पदं भवेत्।।"

अर्थात् जो दुर्बुद्धि सात व्यसन में से एक भी व्यसन का सेवन करता है, वह अपने आप को श्रावक कहता हुआ मनुष्य मे हास्य का पात्र होता है।

आजकल यह ससार समस्त संसारी जीवों को अत्यन्त सुहावना लगता है। इसीलिए आज संसारी जीवों को धर्म का उपदेश दिया जाऐ। संसार त्यागने का उपदेश दिया जाये, पाप न करने का उपदेश दिया जाये; तो वह संसार नहीं त्यागना चाहेगा, पाप नहीं छोडना चाहेगा। अनादि काल से संसार में भटकता हुआ मनुष्य संसार की ही आकांक्षा करेगा। संसार की आकांक्षा के लिए किया गया धर्म, धूलयुक्त पात्र में खीर रखने के समान व्यर्थकारी है। क्षणिक धन, वैभव, पद, यश, प्रतिष्ठा एवं सासारिक सुख पाने का इच्छुक मनुष्य इन्हें पाने के लिए अपने निर्दोष जीवन को दोषपूर्ण कर लेता है। भगवान् महावीर स्वामी ने कहा है कि–"दोष पूर्ण जीवन महाअनर्थकारी है एवं घोर अंधकार की ओर ले जाने वाला है तथा संसार–समुद्र में डूबाने वाला है।"

संसार मे एक से–बढकर एक अनेक दोष है, जो हमें निरन्तर पतन की ओर ले जा रहे हैं। हमारे जीवन की उज्जवलता को मलिन कर रहे हैं, पग–पग पर अपार दुःखों को प्रदान कर रहे हैं एवं हमारी दुर्गति के कारण है।

इन दोषों मे सात महादोष बताये गये हैं। जिन्हें भगवान महावीर स्वामी ने 'व्यसन' के नाम से पुकारा है। व्यसन एक महापाप है। व्यसन का अर्थ है–बुरी आदत अर्थात् जिस क्रिया से वर्तमान आनन्दित होता है और भविष्य खण्डित होता है, उसे व्यसन

कहते हैं। कहा भी है–**'व्यसनेन तु मूर्खाणां'** व्यसनों में समझदार मूर्खों का एवं अत्यन्त ना समझों का जीवन अधिक व्यतीत होता है। समझदार मुर्ख व्यसन को अपनी शान समझते हैं और ना–समझ इसे मनोरंजन का साधन समझते हैं। व्यसन को अपने जीवन की शान समझना स्वय को परेशान करना है। यह जीवन व्यसनों में फँसकर मनोरंजन करने के लिए नहीं आत्म–रंजन करने के लिए मिला है। आत्मरंजन करने के इच्छुक व्यक्ति को सर्वप्रथम व्यसन मुक्त होना चाहिए, क्योकि कंकड़–पत्थर को त्यागे बिना हीरे–मोती का मिलना असम्भव है और व्यसन को छोडे बिना स्वधन (धर्म) को पाना असम्भव है।

आज की विडम्बना यह है कि इसान आज ऊपर से धार्मिकता का लबादा ओढता चला जा रहा है और भीतर से नैतिकता से शून्य होता चला जा रहा है। बाहर से धार्मिक होना बहुत सरल है। बाहर से चोर भी धार्मिक हो जाता है, वेश्या भी धार्मिक हो जाती है, शिकारी भी धार्मिक हो जाता है, क्योंकि बाहर से धार्मिक होने से सम्मान की प्राप्ति होती है, लेकिन नैतिक होना बडा कठिन कार्य है। नैतिक होने के लिए भीतर से प्रलोभनों का त्याग व निष्कपटता का होना अनिवार्य है। जब तक इंसान नैतिक आचरण को नहीं सुधारेगा, तब तक उसका धार्मिक होना उसी प्रकार है जैसे किसी गधे का शेर की खाल ओढ लेना। गधा शेर की खाल ओढ लेवें तो गधा शेर नहीं हो जाता है और अनैतिक व्यक्ति धर्म की चादर ओढ लेवें तो धार्मिक नहीं हो जाता है। धार्मिकता को जन्म देने के लिए पूर्णतया व्यसन मुक्त होना आवश्यक है। ये व्यसन मुख्य रूप से सात हैं। जो निम्न हैं–

1. जुऑ खेलना
2. मॉस खाना
3. मदिरा (शराब) पीना
4 वेश्या गमन
5 शिकार खेलना
6 चोरी करना
7. परस्त्री सेवन करना

इन सात व्यसनो मे सर्वप्रथम जुऑ खेलना व्यसन को रखा गया है, क्योंकि इंसान धन को पाने में नैतिकता से पतित होता है या धन को गॅवाने के कारण नैतिकता से पतित होता है।

व्यसनों मे जुआँ गाडी के धुरे के समान है। जिस प्रदेश में अग्नि प्रज्जवलित होती है। उस प्रदेश में वृक्षों की जातियॉ नही होती हैं। उसी प्रकार जिसके जीवन में जुऑ नाम का व्यसन होता है उसके जीवन में अन्य सद्गुण भी नहीं रहते हैं। जुऑ एक हुताशन है जिसकी भीषण ज्वाला मे सर्वधर्म कर्म होम हो जाते हैं।

आखिर जुआ खेलना किसे कहते हैं ?

हार-जीत की शर्त लगाकर, खेल सट्टा-जुआँ तास।
शतरंज-चौपड़ से क्रीड़ाकर, करता वह जीवन धन नाश।।

हार जीत की शर्त लगाकर कोई भी खेल खेलना जुआँ खेलना कहलाता है। सोचिए ! क्या आप बात–बात में शर्त नहीं लगाते हैं ? ऐसी शर्त लगाते हैं जिसका सम्बन्ध न जीवन से है न धर्म से। लेकिन ख्याल रखिये–व्यर्थ के हास्य व्यंग्य में, सांसारिक क्रियाकलापों में, हाथ मिलाकर वचन देकर धन–मकान एवं सामान आदि को सौंपने का–संकल्प करना अपनी ओछी बुद्धि को प्रदर्शित करना है। इस व्यसन में फँसा व्यक्ति अपनी आन–बान–शान के पीछे लाखों रुपये दाँव पर लगा देता है पर हाथों में पश्चाताप के अतिरिक्त कुछ भी शेष नहीं रहता है। तत्काल का वाणी विलास जीवन भर के लिए त्रास सिद्ध हो जाता है। इसलिए किसी भी ग्रहस्थ को शर्त नहीं लगानी चाहिए। आज के इस आधुनिक समाज में जुऑ खेलना एक शौक सा हो गया है। जिस कारण जुआँ खेलने का दिन–प्रतिदिन प्रचलन बढता जा रहा है। जब पाप को राजकीय संरक्षण मिलने लग जाता है तो वह निडर होकर देश, राज्य, नगर एवं घर को नष्ट करने पर उतारू हो जाता है। आज इस जुऑ रूपी पाप को राजकीय (सरकारी) संरक्षण मिल गया है। इसलिए जुऐं के कारण हजारों करोड़पति रोडपति बन गये हैं। सरकार ने जुआँ को बढावा लाटरी के रूप में दिया है।

जब से सरकार की बुद्धि का हास हुआ है, तब से सरकार एक व्यक्ति को अमीर बनाने के लिए अनेक व्यक्तियों के जीवन को नष्ट करने पर उतारू हो गयी है। मनुष्य भी स्वयं अपनी बुद्धि का प्रयोग न करके भाग्य के सहारे अमीर बनने की आकांक्षा से दरिद्रता को निमंत्रण दे डालता है। पलक झपकते ही अमीर बनने के सपने संजोये लोग अन्त में कंगाली के दल–दल में फँसकर आत्महत्या के लिए मजबूर हो जाते हैं। इस लाटरी ने पूरे देश में मौत का/दरिद्रता का ताण्डव मचा रखा है। अक्सर लाटरी के पीछे लोगों की मानसिकता रहती है कि भले ही दूसरे लोग कंगाल हो जाएं आत्महत्या कर लें पर एक न एक दिन लाटरी मेरे घर छप्पर फाडकर धन की बरसात करेगी। वास्तव में यही रंगीन भ्रम पैदा करने के कारण लाटरी दिन–दूरी, रात–चौगुनी फैल रही है।

आज पूरा देश एक ही बीमारी से ग्रस्त है। वह बीमारी है बिना मेहनत किये धन कमाने की आदत। जिन पुरूषों को बिना परिश्रम किये धन प्राप्त करने की तीव्र तृष्णा होती है, ऐसे ही पुरूष विशेषतया जुआँ खेलते हैं। लाटरी के टिकट खरीदते हैं। इस आदत ने कई घरों व जीवनों को नष्ट कर दिया है तथा जिसके घर को भर दिया है,

उसे पाप बुद्धि देकर धर्म से रहित (विमुख) कर दिया है। लाटरी सिर्फ एक खेल नहीं है, एक भयंकर साजिश है। लोग अपने अधिकारों के लिए लडने की बात न सोच सकें और दिन रात लाटरी नशाखोरी के चक्कर में फॅसे रहें। यही तो चाहते हैं सत्ताधीश और अय्याशी भोगने वाले दलाल। बहुराष्ट्रीय गुलामी ने जिस भोगवादी वृत्ति को उकसाया है उसके वशीभूत होकर लोग बिना कुछ किये रातों–रात–माला–माल होने की चाह (फिराक) में लाटरी के पीछे अन्धाधुन्ध भाग रहे हैं। यह लाटरी लुभावने सपने बेचकर लोगों के दिमाग (मस्तिष्क) को खोखला, अकर्मण्य और भाग्यवादी बना रही है। लाटरी बिना श्रम के धन पैदा करने की प्रवृत्ति प्रदान कर नैतिक बल को कमजोर कर रही है। धार्मिक आस्थाओं को तोड रही है। धार्मिक–क्रियाओं को भी पाप रूप में ग्रहण करने को मजबूर (विवश) कर रही है।

मुझे इटावा नगर की एक घटना याद आती है–मैं आचार्य गुरूवर पुष्पदन्त सागर जी महाराज के साथ प्रवचन हेतु पाण्डाल मे जा रहा था कि आचार्य श्री किसी कार्यवशात् रूक गये और मै नीचे आकर एक स्कूटर के सामने खडा हो गया। एक युवक ने कागज पेन निकाला और कुछ लिख लिया। मैने कहा भैया क्या लिख रहे हो ? वह बोला कुछ नहीं महाराज। आप तो बस आशीर्वाद दे दीजिए ताकि नम्बर लग जाये। मैंने कहा किस बात के नम्बर लगने का आशीर्वाद दूँ तुम्हे ? वह बोला–महाराज जो मैंने लिखा है उसी का आशीर्वाद दे दीजिए। मैंने कहा–भैया क्या लिखा है जरा मुझे भी तो बताओ ? बिना सोचे समझे कैसे आशीर्वाद दे दूँ। बडी मुश्किल से उसने मुझे लिखी हुई संख्या बतायी। मैंने कहा मुझे देखकर तुमने यह संख्या लिखी है और नम्बर लगने का आशीर्वाद मॉग रहे हो–मामला क्या है जरा स्पष्ट करो ? मुझे उलझन मे मत डालो। वह बोला–महाराज आपसे क्या छिपाना दरअसल यह लाटरी का नम्बर है और आज सौभाग्य से आप इस स्कूटर के पास खडे हुए है उसका नम्बर नोट कर लिया है, अगर आप आशीर्वाद दें तो निश्चित ही यह नम्बर निकलेगा और मेरी किस्मत खुल जायेगी। मैंने कहा–वाह ! तुमने तो गजब कर दिया तुम्हारी खोटी–बुद्धि ने तो मेरा खड़ा होना भी दूभर कर दिया। अरे ! इस नम्वर को देखकर यह सोचते की मैं इतने साल या इतने दिन बाद महाराज (मुनि) बन जाऊँगा। तो मैं समझता कि तुम मेरे सानिध्य का यथार्थ लाभ ले रहे हो। तुम स्वयं पाप में डूब रहे हो और मुझे भी डुबाने का प्रयास कर रहे हो। धिक्कार है ! तुम्हारी इस खोटी और सडी बुद्धि को ...।

ऐसी खोटी (दूषित) बुद्धि का जागरण केवल जुएँ ने किया है। लोभ–युक्त बुद्धि धर्म को धन–प्राप्ति का कारण मानकर ही धर्म का सहारा लेती है। लाटरी का नशा गजब

का नशा है। इस नशे में धुत् ऐसे लोग मिल जायेंगे जो रोज पैसा गँवाते हैं और रोज तौबा करते हैं कि कल से नहीं खेलेंगे लाटरी ...... । पर लाटरी की दुकान से गुजरते ही सारे संकल्प कपूर की भाँति उड़ जाते हैं। मन बेकाबू हो जाता है और कहता है कि आज ही तो किस्मत चमकनी है तेरी--बस फिर क्या ? तत्क्षण जेब में रुपयों का स्थान लाटरी का टिकट ले लेता है। इससे बर्बादी का दौरा प्रारंभ होता है और वह कर्ज के बोझ से लेकर आत्महत्या में ही विराम लेता है... । अक्सर जुऑरी की दृष्टि गिद्ध की दृष्टि हो जाती है, वह उडता आसमान में है, पर निगाहें धरती पर पडे माँस के लोथडे पर रहती है। इसी प्रकार जुऑरी रहता है धर्म के पास, पर आकांक्षा धन की ही रहती है। इसलिए कहा गया है कि पाप बुद्धि को जन्म देने वाले जुएँ रूपी लाटरी के टिकट खरीदने एवं बेचने का त्याग कर देना चाहिए अन्यथा दुर्गति का टिकट सहज ही कट जायेगा। ध्यान रखो।

जुऑ व्यसन से मुक्त होने वाले व्यक्ति को शर्त लगाकर लूडो, कैरम, ताश, चौपड़, मटका, व्यापार आदि खेल भी नहीं खेलने चाहिए ? यह भी जुएँ का ही एक रूप है। क्रिकेट, हॉकी, फुटबाल, शतरंज आदि खेलों में शर्त नहीं लगानी चाहिए। गिट्टी, पिट्ठों, कंचा, गच्चा आदि खेल मे धन सामग्री आदि की शर्त लगाना भी जुआँ है। यह जुऐं का खेल जीत के समय ही शान और सम्मान को बढता है पर अपने पीछे अनन्त पश्चाताप को छोड कर चला जाता है। जब जेब खाली हो जाती है, तब वह कहीं का नहीं रहता है। कभी–कभी तो धनाभाव के कारण अपनी इज्जत बचाने के लिए घर, जेवर आदि भी बेचना पडता है या आत्महत्या कर पिण्ड छुडाया जाता है। फिर भी मनुष्य नहीं चेतता (जागता) है।

जुऑ एक मृग मरिचिका है। यह हारने वालों को उम्मीद की डोर में बॉधकर सर्वनाश के कगार पर पहुँचाता है और जीतने वालों को लालच के मकडी जाल में फॅसा कर सर्वस्व खो देने के लिए विवश करता है। जुएँ में जीत और हार दोनों ही बुरी है। जुएँ का खेल आग का खेल है, बर्बादी का खेल है, घर फूँककर देखा जाने वाला तमाशा है। जुऑ देता कुछ नहीं लेता सब कुछ है। प्रलोभन इसका विषय है, कुप्रवृत्तियॉ इसकी देन है और विनाश इसका कुपरिणाम है।

जुआ बुरी बलाय है मन तन धन की घात
मुफ्त खोर जीवन बने चिन्तामय दिन रात

जुआँ बहुत बुरी बला है यह तन–मन–धन का घात करती है और मुफ्त का खाने की आदत डालती है और मनुष्य को चिन्ता रूपी बेल से घेर कर दिन रात मन को दुर्बल करती रहती है।

आजकल तो जुएँ ने भी फैशन, शौक का रूप धारण कर लिया है। आज तो परिवार में ही भाई–भाई, पिता–पुत्र, पति–पत्नी, माँ–बेटी, चाचा–भतीजे, मामा–भांजे एक ही मेज (टेबिल) पर बैठकर ताश, लूडो, कैरम, हाउजी गेम्स आदि रुपये–पैसों की शर्त लगाकर मनोरंजन के रूप में खेलने लगे हैं। क्लब सोसायटी आदि में तो ये मनोरंजन के साधन बन गये हैं। जो निश्चित ही धर्म–घातक सिद्ध होंगे। हमें समय रहते हुए जुएँ के इस खेल को परिवार, मन्दिर, क्लब, सोसाइटी–मिलन, संघ मण्डल, मंच एवं शादी–ब्याह से खत्म करना होगा। अन्यथा यह खेल धीरे–धीरे आपसी भाई–चारे की भावना एवं मित्रता को समाप्त कर देगा और आपस में कौरव–पाण्डव जैसी फूट की स्थिति पैदा हो जायेगी। सोचो ! एक जुऍ ने भारत में महाभारत मचाया। पूरे देश में जुऍ होंगे तो भारत का क्या होगा ?

जिस प्रकार अहंकारी का यश, विषय मनुष्य की मित्रता, अर्थ लौलुपी का धर्म एवं प्रमाद से युक्त साधु नष्ट हो जाता है। उसी प्रकार जुऑ व्यसन से युक्त मनुष्य नष्ट हो जाता है, जो व्यक्ति एक बार भी जुआँ खेल को अपना लेता है यह नशे के समान उसके मस्तिष्क में प्रवेश कर मानसिक तनाव को उत्पन्न कर देता है। फिर जुऍ के अतिरिक्त उसका मन अन्यत्र नहीं लगता है।

आचार्यों ने कहा भी है–

विषादः कलहोबन्धः कोपो मानो मतिभ्रमः।
पैशुन्यं मत्सरं शोकः सर्वे द्युतस्य बान्धवाः।।

जुआँ खेलने वाले के पास जुऐं के दस भाई तथा एक बहन शीघ्र ही आ जाते हैं। जुआँ के विषाद, बन्धन, कलह, क्रोध, मान, बुद्धि–विभ्रम, चोरी चुगली, मत्सर एवं शौक ये नौ भाई तथा दरिद्रता नामक बहन दौड़ चली जाती हैं। इसलिए श्रेष्ठ मनुष्य को जुआ नहीं खेलना चाहिए।

जुऑ खेलना आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दृष्टि से अत्यन्त विनाशकारी है। आध्यात्मिक दृष्टि से इसलिए विनाशकारी है कि .....

जुआँ खेलने से सर्व प्रथम आत्मिक शान्ति नष्ट होती, कषायों में तीव्रता से वृद्धि होती है। आत्मा में शत्रुता की भावना का जन्म होता है, दुश्मनी की दीवारें खड़ी हो जाती हैं और सत्य एवं धर्म का नाश होता है।

व्यावहारिकता दृष्टि से जुऑ इसलिए विनाशकारी है कि इससे सर्वप्रथम धन नष्ट होता है। लोगो की दृष्टि में गिर जाता है। सबकी घृणा का पात्र होता है, समाज व शासन की दृष्टि में निन्दनीय होता है, कानून की दृष्टि में दण्डनीय होता है, अपयश का भागी होता है, धन की चिन्ता में सदैव जलता रहता है। समस्त प्रतिष्ठा धूल में मिल जाती है, लक्ष्मी के स्थान पर दरिद्रता डेरा डाल देती है। जुआँरी के हृदय से सत्य तथा शरीर से सुख कोसों दूर चला जाता है। इस प्रकार आध्यात्मिक एवं व्यावहारिक दोनों दृष्टियों से जुऑ महा अनर्थकारी है।

है अनर्थ का मूल कर्म यह चीर हरण करवाया है
पाण्डव जैसे बलशाली को वन-वन में भटकाया है।

इतिहास इस बात का साक्षी है। एक बार युधिष्ठिर ने जुआँ खेला तो उन्हें पाँचों भाईयों सहित वन–वन भटकना पडा। यह जुआँ महाराक्षस है। भरी सभा में इसी जुएँ के कारण द्रौपदी का चीर हरण हुआ था, इसी जुऍ ने महापुरुषों को दास बनाया है। इसलिए यह जुऑ दुःखों का भण्डार है। मान–सम्मान को मिटाने वाला है। साईकिल की चैन की भॉति संसार में निरन्तर घुमाने वाला है। इसलिए महा अनर्थकारी, विनाशकारी, मानसिक स्थिति को बिगाडने वाला, जुआँ खेलने का यह खेल हमेशा–हमेशा के लिए त्याग देना चाहिए।

जुआँ खेलने वाला सिर्फ इतना ही विचार कर लेवें कि यदि जुएँ सिर में उत्पन्न हो जाती हैं तो इससे सिर में खुजली एवं बेचैनी हो जाती है। रक्त (खून) नष्ट होता है। इसी प्रकार यदि एक बार दिल (हृदय) मे जुऑ व्यसन की लत पड़ जायेगी तो सम्मान को ठेस पहुँचेगी, बेचैनी होगी और आत्मा के धर्म का तथा बाह्य धन की हानि होगी। अतः मैं जिस प्रकार सिर में उत्पन्न हुई जुओ को अपने शरीर की सुरक्षा के लिए बाहर निकालता हूँ, उसी प्रकार अपनी आत्मा की सुरक्षा के लिए दिल से जुआँ व्यसन को बाहर करता हूँ। जुआँ खेलने का त्याग करता हूँ यही **जैनत्व का बोध** है यही विचार एवं आचार ही कल्याण का मार्ग है, शान्ति का सोपान है।

खेला जो भी जुआँ है।
उड़ाया धन का धुआँ है।।

"मॉस-खाना"

वृक्षों में न लगता है न भूमि से ही उपजता है
दीन-हीन-मूक प्राणी को मारे से ही बनता है
जो भी प्राणी प्राणों को हर रसना को करता है तृप्त
राजा बकसम नरकों में जा रहता है सदा संतप्त।।7।।

अर्थ:

मॉस न वृक्षों में लगता है न भूमि से ही उत्पन्न होता है यह मॉस दीन–हीन मूक प्राणी को मारकर ही बनता है (प्राप्त होता है) जो भी प्राणी अन्य प्राणियों के प्राणों को हरकर रसना इन्द्रिय को तृप्त करता है वह राजा 'बकासुर' के समान नरकों में जाता है और सदा दुःख को सहन करता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

मनुष्य को अपनी क्षुधा (भूख) शांत करने के लिए भोजन की अति आवश्यकता है। भोजन के बिना मनुष्य जीवित नहीं रह सकता है। लेकिन प्रश्न यह उठता है कि भोजन करे तो कौन सा करे ? शाकाहार या मॉसाहार ! शाकाहार एक मानवीय सुविकसित जीवन पद्धति है। लेकिन आज का मनुष्य भोजन में क्या खाता है ? क्या नहीं खाता ? वह विचारणीय तथ्य है। आज मनुष्य जीने के लिये कम, खाने के लिये ज्यादा जीता है। भोजन स्वाद के लिए नही स्वास्थ्य और साधना के लिए करना चाहिए। पशु खाता है केवल पेट भरने के लिए, मूर्ख खाता है केवल स्वाद के लिए, चतुर खाता है आरोग्य व शक्ति के लिए, सन्त खाते हैं केवल साधना के लिए। यदि आप अपने आपको चतुर समझते हैं तो भोजन पेट में डालने से पहले एक क्षण सोचिए क्या यह प्राकृतिक भोजन है ? क्या इसमें किसी प्राणी के अपवित्र खून, मॉस एवं चर्बी की गन्दगी तो नहीं मिली है ? इतना विचार करें फिर पेट में भोजन डालें–लेकिन इन्सान अपनी प्राकृतिक आहार पद्धति को भूल गया है और विकृत आहार पद्धति को स्वीकार कर लिया है। प्रकृति ने मनुष्य को किसी भी रूप मे मॉसाहारी नहीं बनाया है और न ही मॉसाहार की छूट दी है। प्रकृति ने मनुष्य को जन्म से ही शाकाहारी बनाया है। इसलिये जन्म लेते ही बालक सर्वप्रथम दुग्ध पान करता है, रक्त पान नहीं। लेकिन आज मनुष्य अपनी जिह्वा के

स्वाद के कारण माँसाहार को ही अपना प्रिय आहार समझता है और उसे बड़े चाव से खाता है। लेकिन मनीषियों ने कहा है–

'दीपोभक्ष्यते ध्वांत कज्जलं च प्रसूयते।
यदन्नं भक्ष्येनित्यं जायते तादृशी प्रजा'।

अर्थात्: दीपक अंधकार खाता है और काजल उत्पन्न करता है, उसी प्रकार जो मनुष्य जैसा खाता है उसकी वैसी ही संतान होती है। क्योंकि भोजन से ही शरीर में सभी धातुओं का निर्माण होता है। इसी से शुक्र तथा शुक्राणु का आर्तव (फूल अथवा मासिक स्राव) बनता है, जिसके संयोग से संतान की उत्पत्ति होती है। इसलिए संतान पर इसका प्रभाव अवश्य पडता है। मॉस खाने वाला व्यक्ति सदैव मन से भयभीत और तन से रोगी रहता है।

वैज्ञानिको के अनुसार माँसाहार से लकवा, गुर्दे में पथरी, प्रास्ट्रेट (पौरूष ग्रंथी कैंसर), सर्वाइकल कैंसर (गर्भाशय व ग्रीवा में कैंसर), अमाशय में वृण, डायबिटिज, हायरल, हर्निया (आमाशयिक आंत्र उभार), पित्राशय में पथरी, बड़ी आंत में रूकावट, उदर कैंसर, कब्ज, उच्च रक्तचाप, सायोनेलोसिस, अस्थियों की विरलता, त्वचा कैंसर, गुर्दे के रोग, मोटापा, दमा, कृमिरोग इत्यादि 160 रोग होते हैं। अतः मनुष्य का वास्तविक आहार मॉसाहार नही शाकाहार है।

अतीत में भारत की प्रशंसा केवल सादगी, दया, अनुकम्पा, परोपकार जैसे महान कार्यो के कारण ही थी, क्योंकि भारत जैसे देश में एक से बढकर एक परोपकारियों ने जन्म लिया है। जिनमें से एक परोपकारी ने एक प्राणी के प्राण बचाने के लिए अपने प्राणों की आहुति दे दी। राजर्षि मेघरथ ने एक कबूतर को बचाने के लिये पूरे शरीर को अहिसा की बेदी पर कुर्बान कर दिया। तीर्थंकर नेमिनाथ ने बाडे में माँस–भोजन के लिए पशुओं को बँधे देखा, तत्क्षण वैरागी हो गये और सन्यास धारण कर गिरनार पर्वत पर तपस्या करने लगे।

लेकिन आज की दुःखद कहानी का वर्णन करते हुये लेखनी भी कांपती है। आज उसी अहिसंक भारत–भूमि पर 3600 बडे और 36000 छोटे कत्लखाने हैं। जिसमें वैध कत्लखानों में प्रतिदिन 2,50,000 (दो लाख पचास हजार) पशुओं का निर्मम वध किया जाता है। ये कत्लखाने दिन–रात निर्दोष जीवों का खून रसना–इन्द्रिय (मुँह का स्वाद) की तृप्ति के लिए एवं अर्थोपर्जन के लिए करते हैं। इन माँसाहारियों में न विवेक है, न बुद्धि है, न जागरूकता है, न संवेदनशीलता है, न मानवीयता है और न दयालुता है। इनमें केवल निष्ठुरता, क्रूरता, रक्त–पात की भावना, बर्बरता एवं शोषण है। इंसान

विवेकहीन हो गया है। वह सोच नहीं पा रहा है कि शरीर के लिए भोजन है या भोजन के लिये शरीर। संसार के सभी दयालु व्यक्ति जानते हैं कि शरीर से भोजन नहीं बनता अपितु भोजन से तन–मन–बुद्धि के साथ सारा जीवन चलता है, लेकिन आधुनिक युग का दुर्भाग्य है कि वह शरीर से भोजन बना रहा है अैर बडे मजे से खा रहा है। माँसाहार अपने साथ अनेक बुराईयों को लेकर आता है और मनुष्य को विनाश की दिशा में ले जाता है। वह क्रूर मिठास के साथ जीवन का ह्रास कर देता है। भारत जैसे शांति–प्रिय देश में अपहरण, दंगा, युद्ध, हत्या, कलह, भुखमरी, शोषण, पाप तथा अत्याचार में बढ़ोत्तरी माँसाहार के कारण ही है। शास्त्रो में कहा गया है कि निर्दोष प्राणियों की हिसा (हत्या) करने से राजा और प्रजा दोनो का ही विनाश हो जाता है। मॉस खाने वाला जीव भव–भव में अल्पायु विकलांग, रोगी, नेत्रहीन, बहरा, दुर्जन, बौना, लंगडा और नपुंसक होता है। ग्रंथों में कहा गया है–

हंतादाता च संस्कर्तानुमंता भक्षस्तथा
क्रेतापलस्य विक्रेतायः स दुर्गति भाजनं ।।266।।

अर्थात् मॉस के लिए जीवो का वध करने वाला, मॉस का दान देने वाला, मॉस पकाने वाला, माँस भक्षण करने की अनुमति देने वाला, मॉस भक्षण करने वाला, खरीदने वाला और बेचने वाला अवश्य ही दुर्गति का पात्र होता है, क्योंकि यह मॉस–

वृक्षों में न लगता है ना भूमि से ही उपजता है।
दीन-हीन मूक प्राणी को मारे से ही बनता है।।

ससार के सभी मूर्ख एवं ज्ञानी जानते हैं कि माँस किसी वृक्ष से पैदा नहीं होता। यह तो जीव हत्या करने से प्राप्त होता है। असमय में पशुओं की हत्या करने से वह भयभीत हो जाता है। उस समय उसके मस्तिष्क से विशेष किस्म (तरह) के **''माइक्रोवेज''** (सूक्ष्म जीव या जीवाणु) उत्पन्न होते हैं, जो मॉस मे प्रवेश कर जाते हैं उस समय दुःख की पराकाष्ठा के कारण समस्त शरीर वेदनामय हो जाता है और मॉस में जहरीले परमाणु फैल जाते हैं, जो माँस खाने वाले के शरीर को रोग पूर्ण कर देते हैं। सामान्य रूप से भी देखा गया है कि क्रोधित होकर मॉ अपने बच्चे को दूध पिलाती है तो वह अमृत का काम नहीं करता वरन् जहर का काम करता है।

यदि पशु, क्रोधित होकर वेदना से परिपूर्ण होंगे तो उनका शरीर कितना जहरीला होगा यह आप स्वयं विचार करके देखें। अमेरिका आदि देशों में परिक्षणोपरान्त निर्णय निकाला गया है कि मांसाहारी अत्याधिक रोगी होते है जबकि शाकाहारी नहीं होते हैं। इस परीक्षण के बाद ही विदेशो मे शाकाहार के प्रति लोगो मे रूचि बढी है। वे जानते

हैं कि मॉंस में बिटामिन 'सी' नहीं होता है। इसलिए मॉंस खाने वाले अधिकतर ग्रास–नली में कैंसर के शिकार हो जाते हैं तथा शाकाहारी इस रोग से बचे रहते हैं; क्योंकि शाकाहार में बिटामिन 'सी' है और वह कैंसर अवरोधक है।

शाकाहार आहार शान्तिकारक एवं हानि रहित आहार ही शाकाहार है। शाकाहारी धरती के सभी प्राणियों के प्रति **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना रखता है। अर्थात् पृथ्वी पर जितने भी जीव हैं, वे हमारे कुटुम्ब (परिवार) के सदस्य हैं। सदस्य की रक्षा करना मेरा कर्त्तव्य है। इस प्रकार सोचकर वह सभी जीवो की रक्षा करता है। संसार में ऐसा कोई भी धर्म नहीं है जो मांसाहार की शिक्षा देता हो, जो धर्म मॉसाहार की शिक्षा देता है वह धर्म, धर्म नहीं अधर्म है, पाप है, भविष्य को विकृत करने वाला है एवं दुर्गतिदाता है।

संसार मे कोई भी प्राणी मरना नहीं चाहता है। सभी जीना चाहते हैं। अतः सभी को **'जीओ और जीने दो'** के सूत्र का सदैव पालन करना चाहिए। संसार के सभी धर्मावलम्बियो ने मॉस का त्याग कराया है; क्योंकि मॉस एक जीव का मृत शरीर ही है। उस शरीर के अन्दर भी इतनी शक्ति होती है कि उस मॉस को कितना भी पकाया जाये उसमें एक क्षणोपरान्त ही पुनः असंख्य सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। मॉस में सूक्ष्म जीवों की उत्पादन क्षमता बढ जाती है। इसलिए एक जीव के साथ करोडों जीवों के प्राण भी चले जाते हैं। इसलिये यह महापापकारी है। यह बडे आश्चर्य की बात है–जब मॉस पिण्ड शमशान में पडा होता है तब वह शव कहलाता है। लोग उसे मूर्दा या लाश कहते हैं, उसे छू जाने मात्र से ही नहाते हैं, लेकिन जब मृत शरीर मॉंस विक्रेता के यहॉं शोकेस में सजे, टंगे होते हैं तो वे जिह्वा लौलुपियों की खुराक बन जाते हैं हाय रे ! बुद्धि की विडम्बना ?

अन्य धर्मावलम्बी संसार के समस्त जीवों को परमात्मा की संतान मानते हैं। समस्त जीवों को परमात्मा की सतान मानने वालों को यह भी सोचना चाहिये कि–अगर एक पिता के चार पुत्र हैं, वे चारों पुत्र आपस में भाई–भाई हुए। अगर बड़ा भाई छोटे को मारे तो क्या माता–पिता प्रसन्न होंगे ? नहीं होंगे, अपितु दुःखी होंगे और पुत्र को कुपुत्र समझकर घर से बाहर निकाल देंगे। उसी प्रकार एक परमात्मा की हजारों, लाखों, करोड़ों संतानें हैं उनमें देखा जाये तो मनुष्य पशु–पक्षी, कीट–पतंगे आदि सभी आपस में बडे–छोटे पुत्र हैं अर्थात् सभी भाई–भाई हैं। अगर हम बड़े भाई मनुष्य होकर छोटे भाई पशु–पक्षी आदि को मारें, हत्या करें तो क्या परमपिता परमेश्वर प्रसन्न होंगे ? नहीं। अपितु दुःखी होंगे। हमें अपने घर से निकाल देवेगे। जो पुत्र आपस में लडकर पिता को

दुःखी करता है, वह पुत्र जीवन में कभी भी सुखी नहीं रह सकता। जो इंसान पशु–पक्षी का माँस खाता है, वह अपने ही भाई–बंधु का मांस खाता है। माँस खाने वाले सोचते हैं कि हम माँस खाकर बलवान हो जायेंगे, पर वे लोग ध्यान रखें कि माँस खाने से माँस ही बढ़ता है, बल व स्फूर्ति नहीं। मॉस खाने से वीरता नहीं बर्बरता आती है। क्योंकि माँस तामसी भोजन है। तामसी भोजन करने वाले के अंदर क्रूरता, बर्बरता, चिड़चिड़ापन सदैव बना रहता है। भोगों के प्रति तीव्र लालसा बनी रहती है, जो उसे दिग्भ्रमित कर देती है। भ्रम में भ्रमता हुआ मनुष्य मॉस खाकर अपने आपको सभ्य एवं सुसंस्कृत समझता है, परन्तु मॉस सभ्यता एवं संस्कृति का द्योतक नहीं है, बल्कि मति (बुद्धि) विभ्रम की जननी है। इसलिये ससार के समस्त धर्म संस्थापकों ने माँस खाने का निषेध किया है। उन्होंने मॉस को प्राणी घातक, प्राण घातक एवं दया, करूणा, मैत्री व वात्सल्य हन्ता तथा शक्ति–क्षीण कर्त्ता माना है। उन्होंने कहा भी है–

'परोपकाराय पुण्याय पापाय परपीड़नम्'
जहां रहम है वहाँ रहीम हैं।
जहां दया है वहाँ प्रभु कृपा है।।
'परहित सरस धरम नहि भाई।
पर पीड़ा सम नहि अधमाई।।'

आज तुम किसी को मारोगे तो वह कल तुम्हें मारेगा। जो कृत्य (मृत्यु) तुम्हे स्वयं के लिये पसंद न हो वह कृत्य कभी दूसरों के लिये नहीं करो। जैसे तुम सुख से जीना चाहते हो, वैसे ही वे भी सुख से जीना चाहते हैं।

पता नहीं मनुष्य अपने प्रकृति–प्रदत्त स्वभाव को क्यों भूल गया ? मनुष्य के पास–सोचने–समझने की शक्ति है, ज्ञान है, विवेक है, बुद्धि है फिर भी वह उसका सदुपयोग न कर दुरूपयोग ही कर रहा है। संसार में खाने के लिये सैकडों–हजारों वस्तुएं हैं, फिर भी वह ललचाई दृष्टि से माँस को ही देखता है। मॉस को ही खाना चाहता है। उसे स्मरण रखना चाहिए कि श्मशान में मुर्दे जलाये जाते हैं तथा कब्रिस्तान में मुर्दे गाडे जाते हैं। अब आप ठंडे दिमाग से सोचें ? आपके घर में या होटल में मॉस पकता है तो वह घर और होटल श्मशान है। अगर इंसान उसे खाता है तो उसका पेट कब्रिस्तान है। पशु पक्षियों के शव को पेट में डालना पेट को कब्रिस्तान बनाना है इसलिए कहा है :–

'है भला तेरा इसी में मांस खाना छोड़ दें
इस मुबारक पेट को तू कब्र बनाना छोड़ दे

हमें सदैव याद रखना चाहिये खादिरसार भील को, जिसने एक सन्त के उपदेश मात्र से कौवे के मॉस का त्याग कर दिया है। एक बार यमराज (मृत्यु) ने उसे घेर लिया, अर्थात् उसे असाध्य रोग हो गया। वैद्यराज ने कहा–'कौवे के मॉस से ही यह रोग ठीक होगा।' यह सुनकर भील ने कहा–**'मर जाऊँ मारूँ नहीं, अपने तन के काज।'** अर्थात् मर जाऊँगा लेकिन अपने तन के लिये किसी जीव को नहीं मारूँगा और हॅसता हुआ संत का स्मरण करता हुआ मृत्यु शैय्या पर लेट गया। इस प्रकार वह भगवान महावीर का प्रथम श्रोता राजा श्रेणिक बना। क्या राजा श्रेणिक की यह छोटी से घटना जीवन मोड़ने (बदलने) के लिये पर्याप्त नहीं है ? महाराणा प्रताप ने जंगल में घास की रोटी खाना स्वीकार किया मॉस खाना नहीं। क्या यह भारतीय अस्मिता की द्योतक नहीं है ? मित्रो ! जरा चेतो, अपने जिव्हा तृप्ति के लिये प्रकृति प्रदत्त मूल्यवान जीवों का वध न करो। मनुष्य की भांति जिओ और संसार के समस्त प्राणियों को सुख से जीने दो।

प्रकृति ने मॉसाहारी और शाकाहारी जीवों के शरीर की संरचना की विशेष बनावट ही दी है। जिसे वैज्ञानिकों ने निम्न प्रकार प्रदर्शित किया है–

मॉसाहारी जीवों के पंजे तेज नाखून वाले होते हैं, दॉत नुकीले होते हैं, जिससे वे आसानी से अपने शिकार को चीर–फाडकर खा सकें **शाकाहारी** जीवों के पंजे तेज नाखूनो वाले नहीं होते हैं, दॉत चपटी दाढ वाले होते हैं, जिससे वे चीर–फाड़ नहीं कर सकते।

मॉसाहारी जीव जीभ की सहायता से पानी चाट–चाटकर पीते हैं। **शाकाहारी जीव** मुॅह को पानी में डूबो कर होठों की सहायता से पीते हैं।

मॉसाहारी जीवों के भोजन का पाचन मुॅह से ही प्रारंभ हो जाता है। **शाकाहारी** जीवों के भोजन का पाचन अमाशय से प्रारंभ होता है।

मॉसाहारी जीवों के आंतों की लम्बाई कम होती है। **शाकाहारी जीवों** के आंतों की लम्बाई ज्यादा होती है।

मॉसाहारी जीवों की लार अम्लिय होती है। **शाकाहारी** जीवों की लार क्षारिय होती है।

मॉसाहारी जीवों में सूंघने की शक्ति अत्यंत तीव्र होती है, रात में ऑंखें चमकती हैं। **शाकाहारी** जीवों की सूॅंघने की क्षमता मन्द होती है। दिन की अपेक्षा रात में देखने की क्षमता भी कम होती है।

मॉसाहारी जीव के शब्द कर्कश एवं भयंकर होते हैं। **शाकाहारी जीवों** के शब्द कर्कश एवं भयंकर नहीं होते।

मॉंसाहारी जीवों के बच्चे पैदा होते ही मॉस खा सकते हैं। **शाकाहारी** जीवों के बच्चे कुछ माह/वर्ष तक अन्न व दूध पर ही जीते हैं।

मॉंसाहारी जीव कच्चा मॉस व हडियॉ खा सकते हैं व इनके शरीर से पसीना नहीं आता है। **शाकाहारी** जीव कच्चा मॉस व हड्डियॉ नहीं खा सकते व इनके शरीर से पसीना आता है।

इस प्रकार उपरोक्त लक्षणो से मॉसाहारी एवं शाकाहार जीवों की पहचान की जा सकती है, मॉंसाहारियों को प्रायः कब्ज की शिकायत रहती है यह शिकायत इन्हें धूम्रपान के लिये भी मजबूर कर देती है। इसलिये शाकाहार ही मनुष्य का वास्तविक भोजन है।

मॉसाहार से तामसी वृत्ति का जन्म होता है एवं काम, क्रोध, लोभ, आलस्य एवं जडता आदि अवगुणों में वृद्धि होती है तथा शुद्ध शाकाहार से स्फूर्ति, प्रसन्नता, पवित्रता, शक्ति तथा दीर्घ आयु प्राप्त होती है। शाकाहारी के मन, वचन, काय तीनों ही शुद्ध होते हैं। करूणा, अहिसा, दया, संवेदना, सहानुभूति, सौहार्द, मैत्री ये सब शाकाहार के गुण हैं। हत्या, क्रूरता, अपकारिता, अपराधीत्व ये सब मांसाहार के अवगुण हैं।

आप स्वयं विचार करें कि आप किसी मुर्दे को श्मशान में जलाने जाते हैं तो क्या आप बिना स्नान किए मंदिर/घर के कक्ष या रसोईघर में प्रवेश कर जाते हैं ? नहीं। क्यों ? क्योंकि मुर्दा अशुद्ध है। जरा सी बाह्य अशुद्धि मंदिर में प्रवेश नहीं करने देती, तो जो मॉस खाकर बाहर–भीतर दोनों से अशुद्ध है, उसे कैसे साक्षात् परमात्मा के द्वारा पर प्रवेश मिलेगा ? कभी नहीं मिलेगा। मॉसाहारी कभी भी इस भवसागर से नहीं तर सकता है, वह तो दुर्गति का ही पात्र होता है। इसलिये तो कहा गया है–

'तिल भर मछली खाय के, कोटि गो दे दान।
काशी करवट ले मरे, तो भी नरक निदान।'

अर्थात्–तिल भर मछली खाने वाला व्यक्ति प्रायश्चित स्वरूप करोडों गायों का दान कर अगर वह काशी में ही मरता है तो भी वह नरक का ही पात्र होता है। वह स्वयं ही नरक नहीं जाता यदि माता–पिता मॉस त्याग का उपदेश नहीं देते तो वे भी इसके पात्र होते हैं। और भी कहा है–

'मॉंस मछलियाँ खात है सुरापान सेवेत
वे नर नरक ही जायेंगे माता-पिता समेत

अर्थात् जो मॉस, मछली, अण्डा आदि खाते हैं/शराब पीते हैं वे जीव माता–पिता के साथ ही नरक के भागीदार होते हैं, क्योंकि माता–पिता ने उसे पाप कार्य से नहीं रोका

है और भी कहा गया है–

'जो रक्त लागे कापड़ा जामा होय पलित।
जो रक्त पीवे मानुषां तिन क्यों निर्मल चित ।।'

अर्थात्–कपड़े पर खून लगने से कपडा गंदा होता है, वही खून पी लिया जाये तो चित्त (हृदय) निर्मल कैसे हो सकता है ? अर्थात् रक्त–मॉस का सेवन करने वाला जीव निर्मल, दयालु–हृदय नहीं हो सकता है। पता नहीं मनुष्य की बुद्धि को क्या हो गया है? हजारों प्रकार के फल–सब्जियां आदि प्रकृति ने हमें दी हैं, फिर भी मनुष्य मॉस खाता है। जबकि मॉस में कोई स्वाद नहीं होता है। अगर मॉस में स्वाद होता तो उसे अधिक घी–मसालों में नहीं तला (पकाया) जाता। यदि मिट्टी को भी इतने ही घी–मसालो में तला जाये तो वह भी स्वादिष्ट हो जाये। यदि इतना ही घी–मसाला शाकभाजी में डाल दिया जाये तो वह दुगुना स्वादिष्ट हो सकता है। मॉसाहार अधिक खर्चीला एवं क्रूर प्रवृत्ति को बढाने वाला है। क्रूर व्यक्ति ही मॉस का भक्षण करता है।

मॉसाहारी जीव प्रायः क्रूर, अहंकारी, व्यभिचारी तथा अपराधिक प्रवृत्ति के होते हैं। मॉस पौष्टिक एवं मनुष्य के लिये उपयोगी खाद्य पदार्थ है इस मूढ़ मान्यता को खण्डित करने के लिये ससार के सर्वाधिक शक्तिशाली जानवर गैण्डा व हाथी को शुद्ध शाकाहारी के रूप में उपस्थिति किया गया है। शक्ति का माप भी 'हार्सपावर' अर्थात् शाकाहारी घोडे से किया गया है। मॉसाहार शक्तिवर्धक न होकर वह क्रूरता, खूंखारपन एवं वहशीपन को बढावा देता है। श्रम करने की दृष्टि से भी मॉसाहारी व्यक्ति शाकाहारी व्यक्ति का मुकाबला कभी नहीं कर सकता। मॉसाहार से आयु भी कम होती है और पर्यावरण पर भी दूषित प्रभाव पडता है। आज देश में बढते हुये अपराध दंगे, फूट, ईर्ष्या, भूखमरी, कलह, हत्या, अकाल, भूकंप, शारीरिक व मानसिक रोग, आत्म–हत्या आदि की प्रवृत्ति का एक मुख्य कारण मॉसाहार की ही बढती प्रवृत्ति है।

'मॉस शब्द स्वयं कहता है कि आज मै जिसका मॉस खाता हूँ, वह कल मेरा मॉस खायेगा, मा–मेरा, स–वह। वह मेरा मॉस खायेगा। अर्थात् जैसे को तैसा अवश्य प्राप्त होता है।' एक स्थान पर कहा है कि–

'यावन्ति पशु रोमाणि पशु गात्रेषु भारतः
तावद्वर्ष सहस्राणि पच्यते पशु घातकः।'

अर्थात्–पशु के शरीर में जितने रोम होते हैं, उस पशु घात से वह पशु घातक (मारने वाला) उतने ही हजार वर्ष तक नरक में कष्ट को प्राप्त होता है। अब आप स्वयं विचार करें कि एक जीव में कितने रोम होते हैं और एक जीव का घात कितना हमारे लिये

कष्टप्रद होता है। नरक में जब मॉसाहारी पहुँचता है तब वहां के अन्य नारकी शस्त्र लेकर दौड़ पडते हैं और तीव्र प्रहार के साथ स्वागत करते हैं। जब उसे भूख लगती है तब पुराने नारकी नवागंतुक नारकी के शरीर को ही काटकर उसी को खिलाते हैं। जब वह मुख फेरता है तो उसे प्रताडित किया जाता है और कहा जाता है–हे दुष्ट ! तूने पूर्व जन्म में बहुत मॉस खाया, ले अब खा। अगर वह फिर बचता है तो उस गर्म कढ़ाई में डाल दिया जता है और भाले की नोंक पर खौलते तेल में पीडित किया जाता है। यह दु:ख 1–2 वर्ष नहीं दस हजार वर्ष से 33 सागर पर्यन्त उसे झेलना पड़ता है। भविष्य के दु:खों से बचने के लिये मॉसाहार का त्याग अनिवार्य है।

आजकल रेडियो, टेलीविजन आदि कई माध्यमों से अण्डे का अधिक प्रचार–प्रसार किया जा रहा है कि अण्डा भी शाकाहारी है। वे नारा लगाते हैं कि सण्डे हो या मण्डे रोज खाओ अण्डे। वे तर्क देते है कि अण्डा अगर मॉसाहार है तो दूध भी मॉसाहार है; क्योंकि अण्डा और दूध दोनों ही पशु से प्राप्त होते हैं। हॉ उनका यह कहना अक्षरश सत्य है, परन्तु उन्हे यह बात सदा ध्यान रखना चाहिए कि एक वस्तु से दो प्रकार से पदार्थ उत्पन्न होते हैं–एक शुद्ध और दूसरा अशुद्ध। इसलिये गाय का दूध शुद्ध और गाय का मॉस अशुद्ध है।

गाय के दूध में शरीर के अशुद्ध अंशों का समावेश नहीं होता है। वह थन से बाहर होने के उपरान्त भी 48 मिनट तक जीव रहित रहता है, मर्यादा के बाहर होने के वातावरण के प्रभाव से जीवोत्पत्ति हो जाती है। लेकिन अण्डा तो रज–वीर्य का मेल है। रज का पिण्ड है। इसके भक्षण से अवश्य ही जीव–भक्षण का पाप लगता है। अण्डा तो एक माँ का बेटा है वीर्य का संयोग न लेने से वह चूजे को जन्म नहीं देता मात्र अण्डे के रूप में ही होता है। वह एक माँस का पिण्ड है। गर्भ से उत्पन्न होने वाला बच्चा मरा हो या जिन्दा, उसका भक्षण करने वाला मॉसाहारी ही कहलायेगा। उसी प्रकार मुर्गी से उत्पन्न हुआ अण्डा चूजा युक्त हो या रहित, उसका भक्षण करने वाला मांसाहारी ही कहलायेगा।

आधुनिक युग मे जब वास्तविकता के ऊपर झूठ का पर्दा डालकर सच को दबाने की कोशिश की जाती है। तब मन वेदना से भर जाता है शरीर–पुष्टि का बहाना लेकर कुछ ऐसी वस्तुओं का भक्षण का बहाना बना लिया जाता है, जो वास्तव में अभक्ष्य हैं एवं प्रतिरोध करने पर कुतर्क देकर कुछ भक्ष्य वस्तुओं के साथ उसकी तुलना कर ली जाती है। ऐसी स्थिति में भोली–भाली जनता असमंजस की स्थिति में आ जाती है।

वैज्ञानिकों के द्वारा शोध किए जाने के उपरान्त यथार्थ सत्य जनता के समक्ष प्रस्तुत

हुआ है कि प्रत्येक जीव का शरीर कोशिकाओं से बना होता है। प्रत्येक कोशिका के दो भाग होते हैं। एक द्रव (साइटोप्लाज्म) दूसरा–नाभिकी (न्यूक्लियस)। कुछ अपवादों को छोडकर सभी कोशिकाओं में नाभिक उपस्थित होता है। यह नाभिक समस्त क्रिया का केन्द्र बिन्दु होता है। नाभिक में गूणसूत्र (क्रोमोसोम्स) पाये जाते हैं। जिनकी संख्या, आकार प्रत्येक प्राणी में निश्चित होते हैं। भिन्न–भिन्न प्रजातियों के प्राणियों में इनकी संख्या एवं आकार भिन्न–भिन्न हो सकते हैं। इन गुणसूत्रों मे ही जीन्स पाये जाते हैं, जो कि एक पीढी से दूसरी पीढी में स्थानान्तरित होते हैं। जीन्स के अभाव में सन्तति असम्भव है।

मुर्गी का अण्डा भी एक बडे प्रकार की कोशिका होती है। यह अण्डा मुर्गी के अण्डाशय से बनता है। इन अण्डों में एक नाभिक होता है। पीले व सफेद रंग के योक की एक सतह होती है। अण्डाशय में यह अण्डा डिम्ब वाहिका में स्थानान्तरित हो जाता है। यदि शुक्राणु नहीं होते है तो अण्डा अनिषेचित ही रह जाता है। एक सूक्ष्म अण्डे को अण्डाशय तक आने एवं वहॉ परिपक्व होने में लगभग पच्चीस घंटे का समय लगता है। वैज्ञानिक पाईक (1986) के अनुसार ऊपरी कठोर आवरण और सफेद योक भ्रूण वृद्धि हेतु भोजन तत्व देता है। एक निषेचित अण्डे में चूजे नाभिक से ही बनते हैं। अतः सिद्ध है कि अण्डा चाहे निषेचित हो या अनिषेचित, उसमें समस्त जैविक क्रियाओं के संचालन की क्षमता होती है अनिषेचित अण्डे में से वे समस्त प्रकार के जीन्स उपस्थित रहते हैं, जो कि नई संतान को उत्पन्न कर सके जिसमें से चूजे उत्पन्न नहीं होते, वे अण्डे मात्र अनिषेचित हैं, पर उसमें भी मुर्गी का बच्चा विद्यमान है–मात्र द्रव के रूप में। लेकिन दूध में पशु निर्मित पदार्थ होने के उपरान्त भी न कोई कोशिका जैसी संरचना है न नाभिक या जीन्स आदि जीवित तत्व। विभिन्न जैविकी क्रियाएँ जैसे श्वसन, उत्सर्जन, निषेचन आदि दूध में नहीं होती है। दूध तो एक सफेद तरल द्रव्य है जो जीव रहित एक पोषक तत्व है।

इसलिये कहा कि पशु शरीर से निकलने मात्र से ही कोई वस्तु मॉसाहार नही हो जाती। शरीर से निकलने के बाद भी दोनों का अलग–अलग प्रभाव होता है। इसी बात को पुष्ट करते हुये आचार्य सोमदेव कहते हैं कि–

'हेयं पलं पयः पेयं समे सत्यपिकारणे
विषद्रोरायुषे पत्रां मूलं च मृतयेमतम्।'

अर्थात्–मॉस और दूध एक ही गाय के शरीर से घासादि खाने से पैदा होते हैं लेकिन दूध पीने योग्य है, पर मॉस खाने योग्य नहीं जैसे धतूरे की जड शरीर रक्षक होती है और

धतूरे का पत्ता शरीर भक्षक है।

दोनों का प्रभाव भिन्न–भिन्न है। अतः यह कहना ठीक नहीं है कि दोनों पदार्थ शरीरज़ हैं। अतः मॉसाहार ही है। इतना अवश्य ध्यान रखें जो मॉस है वह नियमतः जीव के शरीर का अंश है, किन्तु जो जीव के शरीर से निकला है, वह माँस भी हो सकता है और नहीं भी हो सकता। जैसे–दूध, फल, शाक आदि। अन्य उदाहरण लें जैसे–गन्ने से शक्कर (चीनी) व शराब दोनों बनती हैं। इनमें शक्कर ग्राह्य और शराब अग्राह्य है। अन्य उदाहरण लें–सर्प के मुख से जहर एवं मस्तक से मणि निकलती है जबकि जहर मृत्यु का कारक है और मणि जीवन कारक है जैसे–

विष वृक्ष की पत्ती आयु वृद्धि का कारण है और जड मृत्यु कारक है। इसी प्रकार दूध एवं अण्डा दोनों पशु द्वारा प्रदत्त हैं, लेकिन दूध गाय के थन से निकलता है और अण्डा मुर्गी के गुदा द्वार से निकलता है। थन से निकला हुआ दूध अमृत है, रोग नाशक है, बल वर्द्धक है और गुदाद्वार से निकला हुआ अण्डा विष है, रोग वर्द्धक है, शरीर को दुर्बल करने वाला है।

इसलिये विष को दूर करने वाली मणि अर्थात् दूध का नहीं, बल्कि शरीर को विषाक्त करने वाले अण्डे (Slow Poision) खाने का त्याग करना चाहिये, जो मॉसाहार है।

मित्रो ! अण्डा किसी वृक्ष पर नहीं फलता है, वह तो मुर्गी के गुदाद्वार से निकलता है। आप स्वयं विचार करे कि मनुष्य के गुदाद्वार से निकले हुये मल को खाने वाले को क्या कहा जाता है ? सूअर (सूकर) कहा जाता है।

लेकिन मुर्गी के गुदाद्वार से निकले हुए अण्डे को जो खाता है उसे क्या कहा जाये ? आप स्वयं निर्णय करें। मै आपसे कहना चाहता हूँ कि आप खाना सब खायें पर पाखाना (अण्डा) कभी न खायें। अण्डे दो प्रकार के होते है–एक जिसमें बच्चे निकलते हैं। दूसरे जिनमें से बच्चे नही निकलते हैं। दूसरे प्रकार के अण्डो को 'कुडक अण्डा' कहते हैं। ये मुर्गा–मुर्गी के सम्बन्ध से नहीं अपितु मुर्गी के रजस्राव से इनका जन्म होता है, जो मुर्गी की आन्तरिक गन्दगी का परिणाम होता है। इन्हे गन्दे मनुष्य ही खाते हैं। जिनकी धारणा यह है कि कृत्रिम अण्डों में जीव उत्पन्न नहीं होता। अतः यह माँस नहीं है। उन्हें वैज्ञानिकों के इस तथ्य को स्वीकार करना चाहिए कि उन अण्ड़ो में चूजें उत्पन्न करने की शक्ति न होने के उपरान्त भी उनके अन्दर करोडों जीव पीले पदार्थ से संबद्ध हैं। जिसके भक्षण से स्वयं ही शरीर की स्थिति माँसाहारी की तरह हो जाती है।

आधुनिक वैज्ञानिकों ने यह भी सिद्ध किया है कि अण्डे देने के बाद मुर्गी व अण्डों

में 48 घण्टे तक मुर्गी का एवं चूजे का भीतर की आवाज का सम्बन्ध बना रहता है। जब हम सम्बन्ध विच्छेद करते तो उनकी आत्मा वियोग से तडफ उठती है। उनकी आत्मा शोक के गहरे सागर में डूब जाती है। आप स्वय ही विचार कीजिये कि अगर आपके जन्मते बच्चे को आपसे अलग कर दिया जाये तो आप पर (मॉ पर) क्या बीतेगी ? सती अंजना ने 22 घडी के लिए मोरनी के बच्चे को मॉ से अलग किया था। फलस्वरूप 22 वर्ष तक पति वियोग सहन करना पड़ा।

अण्डे के सेवन करने से जीवों की हिसा तो होती ही है; साथ ही साथ स्वयं की भी हिसा होती है, क्योंकि अण्डा रोगोत्पत्ति मे महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। अण्डे में कोलेस्ट्रोल की मात्रा अधिक होती है। जिससे धमनियों का सिकुडना, लकवा, दिल का दौरा, रक्त चाप, गुर्दे की बीमारी, पित्ताशय में पथरी, जोडों में दर्द, कफ की अधिकता आदि कई बीमारियॉ उत्पन्न होती हैं। अण्डे में डी. डी. टी. अर्थात् डाइक्लोसे–डाइफेनिल ट्राइम्लोरोएथेन पाया जाता है जो शरीर को रोग ग्रस्त कर लेता है। अन्त में उसकी दर्दनाक मौत हो जाती है।

एक डॉ. के अनुसार 100 मिलीग्राम विटामिन 'सी' पाने के लिए एक पाव (250 ग्राम) सन्तरा या टमाटर पर्याप्त है जबकि इतना ही विटामिन 'सी' पाने के लिए 200 अण्डों की आवश्यकता पड़ती है। अण्डे खाने में धन–हानि, स्वास्थ्य–हानि और धर्म–हानि अत्याधिक है। अण्डे में बुद्धि की अपेक्षा रोग–वृद्धि की क्षमता अधिक है। मांस तथा अण्डे खाने वाले जीव सात्विकता खोते हैं एवं तामसिकता कमाते हैं। अण्डा मुख में रखने से पहले सोचें कि–अण्डा न स्वास्थ्यवर्धक है, न मस्तिष्कवर्धक है, न धर्म–समर्थक है। यह आधुनिक पाप पूर्ण फैशन है एवं व्यसन है। इसने ही हमारी शान को बिगाड़ा है। प्लेट भर आमलेट जब पेट में पहुँचती है तो शरीर को रोग ग्रस्त करके टेबलेट (दवाई की गोली) लेने को मजबूर कर देती है। समय रहते हम इससे बचें। मॉडर्न होने के चक्कर में हम किसी का मर्डर न करें। हम मनुष्य हैं बुद्धि एवं विवेक से काम लें। बल की आकांक्षा में निर्बल न बनें। अन्यथा दुर्गति के ही पात्र होंगे।

"जो भी प्राणी प्राणों को हर रसना को करता है तृप्त।
राजा बक सम नरकों में जा रहता है सदा संतप्त।।"

शास्त्रों में आपने उदाहरण पढ़े होंगे, जिसमें विश्व प्रसिद्ध उदाहरण निम्न हैं–राजा बक मॉसाहारी था, नरभक्षी था। वह रोज एक मनुष्य का मॉस खाता था लेकिन वह एक दिन शाकाहारी बलशाली भीम के हाथों मारा गया। आपने समाचार–पत्रों, पत्र–पत्रिकाओं आदि में किंग–कांग और दारासिह का नाम पढ़ा होगा। किंग–कॉग मॉसाहारी था। वह

प्रतिदिन नाश्ते में तीन किलो दूध एवं 36 अण्डे खाता था। भोजन के समय छः मुर्गे आधा किलो मक्खन, डेढ किलो साग–रोटी और एक किलो फलों का रस लेता था रात के भोजन में तीन बत्तख, डेढ किलो साग रोटी और दो किलो दूध पीता था उसका शरीर बड़ा भयानक एवं मोटा था। उसे भी दारासिंह कई बार हरा चुका था। क्योंकि दारासिंह जन्म से ही शाकाहारी था। वह केवल भोजन में दूध, बादाम, काजू, रोटी–साग, फल जूस आदि लेता है। इसलिये उसका शरीर फुर्तीला और ताकतवर है इसलिये उसने कुश्ती में किंग–काग को हरा दिया, लेकिन वह कभी भी दारासिंह को न हरा सका। यह है शाकाहारी की मॉसाहारी पर विजय। दूसरे जीवों का मॉस खाकर शरीर को बढाने से जीवन दूषित हो जाता है। हम मनुष्य हैं इसलिये मनुष्यता को पहचानने के लिये मानव से दानव नहीं वरन् महामानव बने। मॉसाहार की निरर्थकता एवं शाकाहार की सार्थकता को समझें। मॉंसाहार से मुख मोड़ें व शाकाहार से नाता जोडें।

मनुष्य को केवल पर–जीव सुरक्षा की दृष्टि अथवा मात्र शरीर की दृष्टि से ही मॉस का त्याग नहीं अपितु आत्म–धर्म की सुरक्षा के लिये भी मांस खाने का त्याग करना चाहिये। मनुष्य एक विवेकशील प्राणी है। वह विवेक का पूर्णत. ध्यान रखता है और भोजन के गुण दोषो को जानकर ही ग्रहण करता है और अन्य व्यक्तियों को भी वही शुद्ध भक्ष्य खाने को प्रेरित करता है। श्रेष्ठ मनुष्य अपना ही हित नहीं वरन समष्टि के समस्त जीवों का हित चाहता है। वह 'जिओ और जीने दो' का पूर्ण ध्यान रखता है।

जिस भोजन से हिसा, अत्याचार, अनाचार, दुर्भावना, स्वार्थ, छल, वैमनस्य बढता है, उस भोजन को कभी भी ग्रहण नहीं करना चाहिए। मनुष्य को केवल फल, साग, अन्न अर्थात् सप्त धातु–रहित खाद्य सामग्री ही खाने का अधिकार है। दूसरे को पीडा देकर खाने का अधिकार नहीं है। मनुष्य की मनुष्यता इसी में है कि इसका हृदय दयाभाव, सहानुभूति, प्रेम तथा उदारता से परिपूर्ण हो। दयालुता का रग–रग में निवास हो। अगर ये गुण उसमें नहीं है तो वह इंसान नहीं शैतान है। मनुष्य मन में केवल इतना ही विचार कर लेवें कि अगर जरा सी चीटीं काटती है तो कितनी वेदना होती है। अगर हमारा एक बच्चा गुम हो जाता है तो कितनी वेदना होती है इसी प्रकार अन्य जीवों के विषय में भी विचार करें कि अगर हम पशुओं का वध करेंगे तो उसे कितनी पीड़ा होगी अगर उनकेएक बच्चे को अलग कर देंगे तो उसकी मॉ पर क्या गुजर रही होगी ? उसकी पीड़ा को अपनी पीडा बना लेंगे तो आपसे कभी भी जीव हत्या का पाप नहीं हो सकेगा।

मॉसाहार का स्थूल रूप से तो प्रत्येक मनुष्य को त्याग कर ही देना चाहिए। इसके साथ ही साथ अगर हमें यह पता हो कि इसमें मॉस का अंश विद्यमान है तो उसे भी

त्याग देना चाहिए; क्योंकि परमात्मा पर विश्वास रखने वाला, दया, करूणा व मैत्री का पालन करने वाला हमेशा इस बात का ध्यान रखता है कि अगर हम किसी को प्राण नहीं दे सकते तो उसके प्राण लेने का भी कोई अधिकार नहीं है। जिसके मन में इस प्रकार की भावना जागृत हो जाती है तो फिर वह जीव बाजार की केक, पैस्ट्री, आईस्क्रीम, जलेबी, ब्रेड, बिस्कुट, चॉकलेट, पेस्ट, काला नमक, वर्क आदि का सेवन नहीं करता है, क्योंकि इसमें भी मॉंस एवं अण्डे का सत्व मिलाया जाता है। अतः इससे भी सावधान रहें।

केक : कई बार व्यवहार निभाने हेतु हम होटल, रेस्टोरेन्ट आदि में जाते हैं, सामाजिक पार्टियों में भाग लेते हैं, वहॉ जाने–अनजाने में स्वाद या फैशन के कारण इन्द्रिय के वशीभूत होकर या दोस्तों के कहने में आ जातें हैं। मॉसाहारी हम तभी हो जाते हैं जब हम केक का सेवन करते हैं। हम भोतिकता के रंग में रंगने की इच्छा से चाहे वह गरीब हो या अमीर, देखा–देखी 'बर्थ–डे' मनाते हैं, केक काटते हैं, मोमबत्ती बुझाते हैं। जन्मदिन की खुशी में हम बालक को केक काटने व मोमबत्ती बुझाना सिखाते हैं तो वह प्यार बॉटना और ज्योति जलाना कैसे सीख पायेगा ?

सोचें ? हम केक खाते हैं, खिलाते हैं। हमें यह भी ज्ञान नहीं कि 99 प्रतिशत केक अण्डे से बनता है। प्रायः बाजार में बनी केक में अंडा होता है। हम आलस्य के कारण घर में शुद्ध केक नहीं बनाते और बाजार की केक खाते हैं तो मॉसाहारी कहलाते हैं।

पेस्ट्री : केक के समान पेस्ट्री में भी अंडा होता है। आज पार्टियों में चाय नाश्ते के साथ पेस्ट्री खाने का फैशन तीव्रता से चल रहा है। यह स्वाद में भले ही स्वादिष्ट हो; लेकिन स्वास्थ्य एवं धर्म की दृष्टि से अत्यन्त अहितकारी है। अतः इसे भी नहीं खाना चाहिये।

ब्रेड : ब्रेड नहीं यह बैड खाद्य पदार्थ है। यह देखने में मुलायम, साफ शुद्ध नजर आती है लेकिन यह शाकाहारी को मॉसाहारी बना देती है वैसे भी बासी खाद्य पदार्थ हानिकारक हैं, फिर भी हम कई दिन पुराना (बासी) ब्रेड खाते हैं। ब्रेड बनाने से पहले, मैदा को बिना देखे सीधे पानी में फुलाया जाता है; जिससे लाखों त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है वह मैदा व जीव के रूप में आपके हाथों में आती है आप इसे बड़े चाव से मक्खन या चाय के साथ खाते हैं। आप अगर ब्रेड में उन जीवों के शरीर को देखना चाहते हैं तो उसे चाय में डुबो कर निकालें फिर देखें त्रस जीवों के शरीर रेशे के रूप में आपको दिखाई पडेंगे। वे हैं सूक्ष्म कीडों के शरीर, जिसे आप स्वाद से चबाते हैं, खाते हैं। अतः इससे भी बचें।

बिस्किट्स : इसे बच्चों की बोली बिस्कुट कहती है यह यथार्थता का परिचय कराती है। बिस्कुट अर्थात् जिसमें विष, कूट–कूट कर भरा हो, वह बिस्कुट कहलाता है। क्रीमयुक्त ब्रिटेनियाँ आदि भारतीय एवं विदेशी अनेक स्वादिष्ट बिस्किट्स आते हैं। जिसमें चिकनाहट के लिये अण्डे के रस का पॉलिस किया जाता है। जो विदेशी बिस्किट्स होते हैं, उसमे यह पाउडर मिलाया जाता है जो तुरंत जन्मे बकरे या बछड़े की आंत का अर्क होता है। कई बिस्किट्स, पेस्ट्री में मछली के सस्ते तेल का प्रयोग होता है। वैसे तो ये मूँगफली, वनस्पति तेल से ही बनते हैं किन्तु इन्हें मुलायम बनाने के लिये मछली का तेल मिलाते हैं। आप इन्हें खाते हैं फिर भी शाकाहारी कहलाते हैं। यह बडे आश्चर्य की बात है।

वर्क : प्रायः यह खुशबुदार सुपारी पर, त्यौहारों पर मिठाई आदि पर, फलों पर तथा अन्य अनेक वस्तुओं पर सुन्दरता के लिये लगाया जाता है इसकी दर्दनाक कथा इस प्रकार है, बैल व बकरों की आत की तहो की किताब सी बनाकर उसमें चाँदी की पतली पत्ती रखकर वर्क बनाया जाता है। अर्थात् बैल व बकरे के मारने के उपरांत तुरंत ही चमडी को वर्क बनाने वाले ले लेते हैं, उसे तुरन्त काटकर खून साफ कर पर्त दर–पर्त जमा लेते हैं फिर भीतर चॉदी या सोना रखकर हथौडे से कूटते हैं, लगातार कूटने से चमडे के अंश चादी या सोने में प्रवेश कर जाते हैं और आप उन्हें बडे चाव से खाते है। वह वर्क गंदी अशुद्ध वस्तु है। यह सुपारी, मिठाई, फल आदि सभी को मॉसाहार के रूप में परिवर्तित कर देती है। यदि आप खाते हैं, लगाते हैं तो इसका इसी क्षण त्याग कर देवें।

टूथपेस्ट : प्रात उठकर आप पेस्टो के माध्यम से अपने मुख में झाडू लगाते हैं। आपने कभी न कभी ध्यान दिया होगा कि सडकों के किनारों पर हडियों के ढेर लगे रहते या पडे रहते है इसे पीसकर पाउडर बनाया जाता है और दॉतों को चमकाने के लिये इस पाउडर को पेस्टों मे मिलाया जाता है। इस प्रकार आप प्रात.काल उठकर गाय, बैल, भैंस, बकरी, हिरन, सूअर आदि के हड्डी के चूरे को मुख में डालते हैं, और कहलाते हैं शाकाहारी। सावधान ! पेस्ट न करें। सूखी अहिंसक सामग्री का उपयोग मुख शुद्धि हेतु करें।

जलेबी : जरा जीभ लपलपाई और आप पहुंचे किसी हलवाई की दुकान पर भैया जरा 100 ग्राम जलेबी देना। जरा ठण्डे दिमाग से सोचें कि हम क्या खा रहे हैं ? जिस जलेबी को आप खाते हैं उसमें असंख्य (अनन्तानन्त) त्रस जीव होते हैं; क्योंकि इसमें खमीरा उठाया जाता है जिससे उसमें सफेद इल्लियां उत्पन्न हो जाती हैं तथा हलवाई निर्दयी होकर पुन. उसी पात्र (हण्डिया) में उसे फेंटते हैं फलस्वरूप सब जीव मर जाते

हैं तथा उससे ही गर्मा–गर्म जलेबी बनाई जाती है और आप चटकारे लेकर खाते हैं। सोचिये ! हम क्या हैं ? शाकाहारी या मॉसाहारी ? आप वर्तमान में अभक्ष्य, हिंसा से पूर्ण जलेबी खायेंगे तो भविष्य में आप भी इसी तरह तले जायेंगे। घर में शुद्ध ताजी जलेबी बनायें और खायें तथा आस पडौस को भी खिलायें।

चॉकलेट : चॉकलेट कई प्रकार की होती हैं, जो महँगी होती है जिसके अंदर मसाला भरा जाता है, वह अण्डे के रस से युक्त होती है इसी प्रकार च्युंग–गम (बबलगम) में गाय व बैल की चर्बी मिलाई जाती है। इसे न खायें न खिलायें।

आइस्क्रीम : आइस्क्रीम एक ऐसा पदार्थ है, जिससे कच्ची सामग्री के तौर पर केवल हवा रहती है। आपके पैसे का आधा हिस्सा इस हवा की खरीददारी में चला जाता है। इसमें 3 प्रतिशत पानी 6 प्रतिशत चर्बी और 7–8 प्रतिशत शक्कर (चीनी) होती है। सबसे पहले चर्बी को सख्त करके रबड़ की तरह लचीला बनाया जाता है ताकि उसमें हवा भरी जाये तो उसमें समा सके। ठंडे कमरे में यह प्रक्रिया चलती है। चर्बी की फेनिल बर्फ लगातार उतार कर दूसरे कमरे में ले जायी जाती है और वहां अलग–अलग आकार के पैकेट मे भरा जाता है। इस प्रक्रिया में कुछ आइस्क्रीम फर्श पर भी गिरती है। और जब काफी मात्रा में गिर कर जमा हो जाती है तो उसे एकत्रित किया जाता है फर्श पर मजदूरों के पडे जूतो–चप्पलों के कारण आई बदबू को दूर करने के लिए उसमें चॉकलेट (गंध या स्वाद) मिलाकर चॉकलेट वाली आइस्क्रीम बनाई जाती है। चर्बी के इस मिश्रण को आइस्क्रीम जैसा बनाने के लिये उसमें बहुत कुछ मिलाया जाता है इस बहुत कुछ में एक विशेष प्रकार की गोंद भी होती है। यह गोंद जानवरों के नाक, पूँछ व थन को उबाल कर बनायी जाती है। चर्बी में मिलने पर यह गोंद आइस्क्रीम को स्वादिष्ट चिपचिपा और धीरे–धीरे पिघलने वाली बनाती है। जीभ और तालू में आइस्क्रीम इसी गोंद के कारण मजा (आनन्द) देती है। पहले आइस्क्रीम में शहद व फल थे और मध्य में अण्डा मिलाया गया और अब (आज) मॉस व जहर का घोल दिया जा रहा है आइस्क्रीम में डिथाइल को अण्डे के बदले में डाला जाता है। पेपटोनल भी डाला जाता है, जो पशु मारने के काम भी आता है। इथाइल ऐसीटेट अनानास के स्वाद के लिये डाला जाता है। इस कारण इससे फेफडे, गुर्दे एवं दिल की भयंकर बीमारियां होती हैं। एमिल ऐसीटेट भी केले का स्वाद लाने के लिये डाला जाता है। इससे ऑयल पेन्ट का घोल भी बनाया जाता है सोचिये ! आपने अपने प्यारे, दुलारे, आँखों के तारे बच्चों को सम्मान रहित स्वाद के रूप में गंदा पानी, ऑयल पेन्ट, पशु मारने की दवा, पशुओं के थन व पूँछ तथा हवा खिलाते हैं इसलिये तो आप अस्पताल के चक्कर लगाते हैं।

काला नमक: सफेद नमक को ही चमडे में रखा जाता है उसी में हर्रा बेहड़ा को उबाल कर कुछ दिनों तक रख दिया जाता है। हर्रा बहेड़ा और चमड़े का सत्व सफेद नमक को काला कर देता है और आप उसे बडे चाव से खाते हैं। सोचिये ! काला नमक खाने से आत्मा कितनी काली होती होगी ?

इसी प्रकार ऐलोपैथिक की अनेक औषधियो मे मॉस का अंश (सत्व) होता है। आप स्वयं जानकारी प्राप्त करके उससे बचें ताकि लाखों करोडों जीवों की रक्षा हो सके, क्योंकि पर के प्राणों की सुरक्षा में ही स्वयं की रक्षा निहित है। जितनी आप जीवों की रक्षा करेंगे उतनी जीवन की सुरक्षा होगी, पर्यावरण स्वच्छ होगा और हम सच्चे अर्थो में **'अहिंसा परमो धर्मः'** के उपासक कहलायेंगे।

आप स्वयं सोचे ! आज तक आपकी जो दिनचर्या हिसात्मक थी अर्थात् सुबह उठे ब्रुश में हड्डियों से हड्डियों को (दाँतों) को रगडा, चाय (नशा) पी, चर्बीयुक्त साबुनों से स्नान किया, जीवाणुयुक्त ब्रेड बिस्किट्स खाई, चमडे के जूते पहनकर व लिपिस्टिक लगाकर (स्त्रियॉ) मंदिर गये, बाजार में खाया (आईस्क्रीम आदि) फिर शाम को स्कूल, दफ्तर या दुकान से आकर अभक्ष्य भक्षण किया और रात्रि में खाया, तत्पश्चात् सो गये। इसी प्रकार हिंसात्मक रूप से हमारी जीवन की गाडी चलती है। अब हमें इस हिसात्मक रूप को बदलना है। आदत में नहीं अनुभव में जीना है। हम मॉसाहारी नहीं शाकाहारी बने। यही हमारे जीवन का लक्ष्य है। कहा भी गया है।

'सर्वश्रेष्ठ उत्तम आहार शाकाहार-शाकाहार'

इस लक्ष्य की पूर्ति हो जाये तो हमें शाकाहार मे भी भक्ष्य खाना चाहिये, अभक्ष्य नहीं। भक्ष्य में भी सादा खायें गरिष्ठ नहीं। सादा मे भी शुद्ध खायें, अशुद्ध नहीं। शुद्ध में भी मर्यादित खायें अमर्यादित नहीं। मर्यादित में भी प्राशुक खायें अप्राशुक नहीं। प्राशुक में भी कम खायें अधिक नहीं, कम खाने में भी जीने के लिये खायें साधना के लिये खायें ताकि मुख शुद्धि के साथ मन शुद्धि हो सके। खान-पान की शुद्धि से खानदान शुद्ध हो सके, भोजन की शुद्धि से जीवन की शुद्धि हो सके। क्योंकि आहार शुद्धि, सत्व शुद्धि, सत्व शुद्धि ध्यान सिद्धि। ध्यान सिद्धि मुक्ति प्राप्ति है। यदि लक्ष्य का अन्तिम कदम मोक्ष है तो प्रथम कदम शाकाहार है। उसे अपनायें, जीवन सफल बनायें।

"मदिरा-पान "

त्रस जीवों के घात किये से बनती बुरी शराब है।
शान्ति शील तप बुद्धि आदि का करती सदा को नाश है।।
बेसुध हो मतवाला हो वह करता जीवन नष्ट है।
यादव सुत मदिरा पिये जब हुई द्वारका भस्म है।।8।।

अर्थ :

अनेक प्रकार के त्रस जीवों का घात करने से शराब बनती है। यह शराब बहुत बुरी है। शराब जीवों को बेसुध व मतवाला करके शान्ति, शील, तप, बुद्धि और जीवन का नाश कर देती है स्वर्णमयी द्वारका नगरी यादव पुत्र के मदिरा पान करने से नष्ट हुई।

विवेक विकासिनी विवेचन :

मित्रों ! अगर आपके समक्ष एक गिलास में फलों का ताजा रस तथा एक गिलास में 8–10 दिनों का बासी रस रख दिया जाये तो आप कौन सा गिलास पहले उठायेंगे ? आपका उत्तर यही होगा कि हम पहले ताजे फलों के रस का गिलास उठाएंगे। क्यों ? क्योंकि ताजा रस श्रेष्ठ एवं स्वास्थ्य वर्धक होता है तथा बासी रस प्रदूषित एवं रोगवर्धक होता है। इसी बासी रस को शराब भी कहा जाता है। शराब संस्कृति और सभ्यता रूपी वृक्ष को जलाने वाली भयकर आग है। यदि हम शराब की निर्माण–प्रक्रिया को देखेंगे तो पायेगे कि वह सडे–गले महुआ, अंगूर, जौ आदि को सडाने के उपरान्त उसका रस निकाल कर बनायी जाती है, जो असंख्य सूक्ष्म–त्रस जीवों से परिपूर्ण तथा महाहिंसा युक्त है। अगर हम आधुनिक दृष्टि से देखेंगे तो वह जौ एवं सूक्ष्म जीवों से परिपूर्ण है। लेकिन वह शराब पहले से अधिक स्वास्थ्य एवं बुद्धि नाशक है।

शराब एक शौकिया व्यसन है। मनुष्य इसे मित्रता के वशीभूत होकर या सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक परिस्थितियों के कारण मानसिक तनाव को दूर करने अथवा अन्य कारणो से पीना प्रारंभ कर देता है। एक बार का शराब पीना हमेशा का जीना दूभर कर देती है। शराब एक ऐसा द्रव्य है जो पेट में पहुँचने के उपरान्त व्यक्ति की चेतना (होश) को समाप्त कर देता है। शराब चिन्तन व चेतना से बहुत दूर चिंता की आग में बैठाकर जीवन को चिता बना देती है। शराब के विषैले तत्व मानव के मस्तिष्क को निष्क्रिय कर

देते हैं। वह शारीरिक शक्ति, संयम शक्ति तथा निर्णय शक्ति से रहित हो जाता है। शराबी भावावेश में आकर अपने अर्जित–गुणों को समाप्त कर देता है। अपने सद् आचरण को मिटाकर, अपने खानदान की इज्जत को कलंकित कर देता है। शराब से तन का ही नहीं, मन और धन का भी क्षय होने लगता है। शराब का स्वाद मनुष्य को उन्मत्त बना देता है और फिर वह अनियंत्रित होकर जीवन, घर, परिवार, मकान, दुकान आदि सभी को नष्ट कर डालता है। इस संसार मे बाढ ने जितने व्यक्तियों को नेस्तनाबूत नहीं किया उससे अधिक व्यक्तियों को शराब ने नेस्तनाबूत किया है।

मनुष्य के अदर मद्यपान का शोक प्राय. कुसंगति से आता है। आधुनिक फैशन कहता है कि जब तक पार्टी, उत्सव, डिनर, विवाह आदि में शराब नहीं पी जाए तब तक उसमें कोई मजा नहीं है। अगर उसमें एकाध सज्जन शराब नहीं पीता, तो मित्र लोग मजाक उड़ाते हैं और दबाव डालकर कहते हैं क्या यार ! तुम हमारे साथ रहकर इतना भी नहीं कर सकते ? हमारे साथ अगर तुम नहीं पियोगे, तो हम तुम्हारे साथ नहीं रह सकते और कहते हैं कि हम तुम्हारे घर नही आयेगे, न तुम्हारे किसी कार्य में भाग लेगे। बस वह मित्रों के प्रेम भरे आग्रह को सुनकर पहले तो मना कर देता है क्योंकि भीतर से ग्लानि एवं माता–पिता का भय उसकी रूँहे कपकँपा देती है लेकिन जब उसकी संशयात्मक मुद्रा को देखकर मित्रगण कहते हैं–अरे यार ! क्यो नाटक करता है, चुपचाप ले, मजा किरकिरा मत कर, वरना आज के बाद हमारा–तुम्हारा कोई सबंध नहीं रहेगा। वह बेचारा प्रेम भरी तिरस्कारपूर्ण वार्ता को सुनकर कि कर्त्तव्यविमूढ सा हो जाता है और भावावेश में आकर शराब को अपने मुख (मुँह) में डाल लेता है।

एक बार की भूल जीवन भर का शूल बन जाती है; फिर उसकी फूल सी जिन्दगी मे काँटे ही काँटे उग आते हैं। वह दोस्ती निभाने के लिए कुछ समय तक शराब पीता है फिर मन अपने आप शराब पीने को करता है और एक दिन ऐसा आता है कि वह शराब पीने का आदी हो जाता है और शराब के बिना खाना भी अस्वादिष्ट लगने लगता है। वह पाँच–छः फिट का आदमी आधे फिट की बोतल में कैद हो जाता है, उसकी जिन्दगी तबाह हो जाती है। पहले मनुष्य, शराब को पीता है फिर शराब, मनुष्य को पी जाती है। उसकी जिन्दगी नर कंकाल की भाँति हो जाती है। उसके जीवन में शून्यता आ जाती है। अगर वह मित्रो के दबाव में आकर शराब पीने को तैयार नहीं होता, तो एक मित्र छूटता पर हजार खुशियाँ और घर आती लेकिन एक दबाव भरी मुस्कान की स्वीकृति कारण उसका जीवन, घर एवं खानदान तबाह हो जाता हैं।

मित्रो ! तुम्हें कुमार्ग पर ले जाने वाले गली–मौहल्ले, गाँव, नगर, महानगर, राज्य एवं

देश के सभी स्थानों पर एक नहीं अनेक मिल जायेंगे। वे स्वयं पाप करेंगे और आप से भी करायेंगे तथा प्रभावशाली ढंग से समझा कर पाप का उपदेश देंगे; लेकिन आप उनके उपदेशों पर विश्वास न करें। दुष्ट मित्र, आधुनिक पत्रिकाएँ एवं डॉक्टर्स आपसे कितना भी कहें कि अशान्ति/मानसिक तनाव/पारिवारिक उलझन/विद्वेष एवं असफलताओं को भुलाने के लिए शराब पीये लेकिन आप उनकी बातो पर जरा भी ध्यान न देवें। गम को भुलाने में शराब की आवश्यकता नहीं बल्कि निष्ठा, दृढ संकल्प एवं संतोष की आवश्यकता है।

अगर आप धोखे से भी तनाव, गम से मुक्ति पाने के लिए शराब पीते हैं तो आप स्वयं आपत्तियों के पहाड से घिर जायेंगे। शराब पान से रहित व्यक्ति भले ही मानसिक दुश्चिन्ताओं से ग्रसित रहे पर वह परिवार, समाज व नगरवासियों की झिडकियों से मुक्त रहता है। उसे परिवार एवं समाज में घृणित दृष्टि से नहीं देखा जाता है लेकिन जो मानसिक दुश्चिन्ताओं से रहित होने के लिए शराब पी लेता है तो वह चिन्ताओं से मुक्त तो नहीं हो पाता, परन्तु उसके जीवन में अनेक कठिनाईयों का आगमन हो जाता है, उसकी निगाहें (दृष्टि) रक्तिंम एवं चंचल हो जाती हैं, विश्वास छिन जाता है, पत्नि का प्यार खो जाता है, घर के सदस्य तिरछी निगाहों से देखते हैं, अड़ौसी–पडौसी एवं समाज चरित्रहीन समझते हैं। पुराने आपसी संबंध (तालमेल) समाप्त हो जाते हैं। सभी गिरी (अपमानजनक) निगाहों से देखते हैं। कई बार तो अपने से छोटों से भी तिरस्कृत होना पडता है, तब ऐसी स्थिति में उसका क्रोध और भी अधिक हो जाता है और कई अनर्गल चेष्टाएँ करने लगता है।

'चिन्ता से मुक्ति पाने पी थी शराब,
अब हो गया मस्तिष्क खराब।
तन मन पर पड़ गया अकर्मण्यता का पत्थर
वचन देने लग गया अश्लील जवाब।'

शराबी का पूरा जीवन अशान्तिमय हो जाता है। उसका जीवन धोबी के गधे की तरह हो जाता है, जो न घर का रहता है न घाट का। इज्जत समाप्त हो जाती है, धन बर्बाद होने लगता है, स्वास्थ्य खराब रहने लगता है। उसका एक अज्ञान उसके जीवन को नरक बना देता है। दो चार घंटे के तनाव से मुक्त होने की आकांक्षा ने सारे जीवन को बुराई, गम एवं उदासी में बदल दिया। ये शराब की ही देन है। अध्यात्मिक दृष्टि से शराब को हिंसक व कामुकता का जन्मदाता माना है। जो हिसा एवं अब्रह्म पाप से लिप्त

हो जाता है, उसके लिए संसार में कोई दूसरा पाप शेष नहीं रहता है। मद्य से मोहित जीव इहलोक व परलोक दोनों को नष्ट करता है। शराब मानवीय पेय नहीं है, अपितु अतृप्त आकांक्षा की तृप्ति का मीठा जहर है, जो आपके जीवन को मिटाने का कारण है। कंचन कामिनि और कादम्बरी का मोह मनुष्य को पतित कर देता है, तृप्ति प्रदान नहीं करता है। कहा भी है :–

पीते पीते प्याले के प्याले रीत गये
लेकिन हम प्यासे के प्यासे रह गये

खारा पानी पीने से प्यास नहीं बुझती इसी प्रकार शराब पीने से कभी तृप्ति नहीं मिलती। कितने ही बुद्धिजीवी शराब के बिना अपने आप को सभ्य इंसान ही नही समझते हैं। वे यह नहीं सोचते कि शराब में एल्कोहल की भी मात्रा होती है, जो शरीर पर अपना प्रभाव डालती है। ऐसा कहा जाता है कि यदि रक्त में एल्कोहल का स्तर 4 प्रतिशत हो जाता है तो मनुष्य अजीबोगरीब (असामान्य) व्यवहार करने लगता है, जिससे दूसरे परेशान हो जाते हैं। उसकी बुद्धि विवेक रहित हो जाती है, वह कहता कुछ है और करता कुछ है। अगर रक्त में 6 प्रतिशत एल्कोहल का स्तर हो जाता है तो वह अचेत हो जाता हैं, अर्थात् उसे कुछ भी होश नहीं रहता, वह लड़खडाता गिरता–पड़ता दुरावस्था को प्राप्त हो जाता है। वास्तव में शराब आध्यात्मिक, वैज्ञानिक, नैतिक सभी दृष्टिकोणों से शारीरिक व मानसिक उन्नति के लिए हानिकारक हैं।

प्रायः देखा भी जाता है कि शराबी के बच्चे बचपन से ही बिगड जाते हैं। पत्नि दुःखी रहती है क्योंकि शराबी के मन में शैतान का वास हो जाता है। वह शराब बेहद खराब चीज है। शराबी को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि शराब पीने से पाचन अंगों में जलन होने लगती है, अमाशय में सूजन एवं आँतो में घाव हो जाता है तथा यह मदिरा यकृत कोशिका को नष्ट करती है। शराब के बारे में कहा गया है कि आम जब वृक्ष पर फलता है तब वह अपने परिवार के साथ पत्तों के सहित फलता है लेकिन जब महुआ फलता है तब वह फलने से पहले पत्तों को गिरा देता है फिर फलता है। वह इस बात की सूचना देता है कि हे शराबी ! ख्याल रखना कि मैं वृक्ष पर आते ही अपने परिवार को नष्ट करता हूँ, तेरे पेट में पहुँचते ही तुझे और तेरे परिवार को नष्ट करूँगा। कौन बुद्धिमान अपने परिवार को नष्ट करने वाली शराब का पान करेगा ? शराब सबसे पहले बुद्धि पर आक्रमण करती है और विवेक को नष्ट कर देती है। इसे इस उदाहरण के माध्यम से समझें :– एक शराबी शराब के नशे में चूर सड़क से गुजर रहा था। अचानक उसे एक स्थान पर मल दिखाई पडा वह मल को लॉघ कर चला गया। थोडी दूर जाने के पश्चात्

उसके मन में एक विचार उत्पन्न हुआ कि जिसे मैं अभी लाँघ कर आया हूँ आखिर वह क्या है ? जरा उसे देखता हूँ–शराबी वापस उसी स्थान पर आया और मल के सामने ही बैठ गया। थोडी देर तक मल को देखता रहा, पर उसे समझ नहीं आया कि यह क्या है ? वह शराबी थोड़ा झुका और मल को हाथ में उठा लिया और ध्यान से देखने लगा फिर भी उसे समझ नहीं आया तो थोडा सा मल उसने चाट लिया। जैसे ही मल को चाटा (चखा) तो खुब खुशी से झूम उठा ओर कहने लगा कि अच्छा हुआ मैंने इसे चखकर देख लिया है कि यह मल है अगर कहीं मेरा पैर पड जाता तो नहाना पड़ता। अब स्वय विचार कीजिए कि क्या शराब बुद्धि भ्रष्ट करने का सर्वश्रेष्ठ साधन नहीं है ? शराब की तो निर्माण प्रक्रिया ही खराब है और पेट में पहुँचने के उपरान्त तो जीवन को और भी खराब कर देती है।

'त्रस जीवों का घात किये से बनती बुरी शराब है
शान्ति शील तप बुद्धि आदि का करती सदा को नाश है

अनेक प्रकार से त्रस जीवो का घात करने के पश्चात् बुरी शराब बनती है। शराब जीवों को बेसुध व मतवाला करके शान्तिशील, तप, बुद्धि और जीवन का नाश कर देती है। शराब पीने से मनुष्य आलसी हो जाता है। आलस्य के कारण घर में धन का अभाव होने लगता है, तब वह घर का सामान आदि बेचने लगता है, जिससे घर में कलह का वातावरण बन जाता है एवं इस कलह के कारण परिवार एवं जीवन की शान्ति छिन्न–भिन्न हो जाती है। इसलिए कहना पड़ा–

ओ कलह की प्रथम रेखा शराब
तूने मिटा दी बच्चों के गालों की लाली
तूने बिकवा दी पत्नि के कानों की बाली
तूने कर दी सारी तिजोरी खाली
अरे ओ राक्षसी शराब की प्याली
तूने मेरी जिन्दगी की अर्थी बना डाली
सारी जिन्दगी कर दी काली
अरे ओ शराब की प्याली

शराब की प्याली पेट मे पडते ही क्या रग दिखाती है ? पीने वाले को नशा आ जाता है और नशे में सब कुछ भूल जाता है कि कौन माँ है, कौन बहन है, कौन पत्नी है ? नशे में काम के वशीभूत होकर सभी के साथ कुकृत्य करने पर उतारू हो जाता है,

जिससे शील का नाश होता है। शराबी शराब के नशे में धुत परिवार की चिन्ता से विमुख हो जाता है। वह आपसी प्रेम, अतिथि सत्कार, साधु सेवा, परिवार–पोषण आदि कर्त्तव्यों से विमुख हो जाता है और इस प्रकार वह अपने कर्त्तव्य को भूल जाता है। शराब पीने से हित–अहित का ज्ञान नहीं रहता, स्वेच्छाचारिता का आगमन हो जाता है, विवेक के समाप्त होते ही मूर्खता प्रवेश कर जाती है।

वास्तव में यह शराब प्राणियों के लिए अत्यंत कष्टकारक है, संसार परिभ्रमण का कारण है। शराब जीवन को जितना निन्दित व दुःखित करती है, उतना दुःखित तो विष, शत्रु, राजा एवं सर्प भी नहीं करते है। शराब समाज में अपमानित कराती है, मित्रों में फूट डालती है तथा खान–पान की अशुद्धता से समस्त जीवन अशुद्ध हो जाता है।

शराब जहरीली नागिन है शराब के घूंट–घूंट में मृत्यु का वास है इसका एक घूंट मनुष्य की नसों व फेफडों को जलाकर कमजोर कर देता है शराब की लत का शिकार इन्सान जिन्दगी की बाजी ही नहीं हारता अपितु अपने परिवार और प्यार भरे संसार को भी उजाड देता है इससे समाज और राष्ट्र के विकास में भी घुन लग जाता है।

ऐसा कहा जाता है कि–विकसित देशों में शराब, मदिरा, सुरा, एल्कोहल, व्हिस्की, अंगूर की बेटी, हाला वाइन (बाघ की हड्डियों से बनी शराब को टाइगर वाइन कहते हैं) ये शराब के पर्याय हैं, इसान इसे मस्ती के क्षणों मे या तनाव के क्षणों में पीते हैं। धनपती विलासिता के लिये और गरीब निराशा दूर करने के लिये शराब पीते हैं। वे सोचते है कि शराब के पीने से तनाव से मुक्ति और मस्ती में वृद्धि होती है, लेकिन ध्यान रखें–शराब पीने से तनाव से मुक्ति तो नहीं मिलती अपितु शारीरिक व मानसिक पीडा की वृद्धि होती है, शरीर रूग्ण हो जाता है और वे क्लान्त एवं असक्त जीवन जीने को मजबूर हो जाते है। शराब मस्तिष्क की कई क्रियाओं में व्यवधान उत्पन्न करती है प्रारंभ में शराब दिमाग की प्रतिशोधक क्रियाओं को निष्क्रिय करती है। जिससे व्यक्ति को ऐसा आभास होता है कि उसका तनाव समाप्त हो गया है, लेकिन जब शराब का नशा समाप्त हो गया है तब शराबी थकान एवं हीनता महसूस करता है। शराबी के दिमाग की बाहरी नसें एवं हाथ–पैर की नसें धीरे–धीरे नष्ट होने लगती हैं।

आज यह सब लोग मानते हैं कि शराब भूख, दोस्ती और व्यापार को शीघ्रता से शिखर का स्पर्श कराती है परन्तु यह कोई भी मानने को तैयार नहीं होता कि शराब पीने से कई अनेक शारीरिक बीमारियॉ जैसे–अल्सर (पेट में ढाले हो जाना), कैंसर, मस्तिष्क का विक्षिप्त होना, गुर्दे की बीमारी, ऑखों में लालीमा, शरीर का अन्दर से खोखला होना

और चाल में लडखड़ाना हो जाती है। इसके अतिरिक्त स्मरण शक्ति का हास होना, मान सम्मान में कमी होना, धन की हानि होना, विश्वास में कमी का शीघ्रता से आगमन होता है। शराबी के साथ दुर्घटनाएँ भी अधिक घटती है क्योंकि वह नशे में धुत होकर अव्यवस्थित रूप से जब वाहन आदि चलाता है तो दुर्घटना होना स्वाभाविक है। आप मनुष्य हैं, श्रेष्ठ हैं, सोचे समझें, सुरापान कर आसुरी वृत्ति को जन्म न दें अन्यथा नैतिक आचरण के अभाव में समस्त व्यवहारिक धर्म जप–तप, पूजा–पाठ, हवन–कीर्तन एव पठन–पाठन व्यर्थ हो जायेंगे। कहा गया है–

"यस्य कायगंत ब्रह्मधे नाप्त्माव्यते सकृत।
तस्य व्यपौति ब्राह्मण्यंशूद्रत्वं च गच्छति।।"

अर्थात् जिस ब्राह्मण की देह एक बार भी शराब से भीगती है (अर्थात् मदिरापान करता है) उसका ब्राह्मणत्व चला जाता है, वह शूद्र हो जाता है।

यह शराब पावन को पतित बनाने का श्रेष्ठ साधन है। इससे मुक्त होने का प्रयास करें। यदि आपको कोई किसी शादी–ब्याह में, पार्टी में, यारी दोस्ती में या किसी भी अवसर पर शुद्ध पानी कहकर किंगफिशर, गोल्डन ईगल, हैवर्डज 500–2000, पीटरसकॉच, स्ट्राग बीयर, एरिस्ट्रोक्रेट, पिन्टेज, गोल्ड रिवेन्ड, व्हेक लेबिल, डबलडॉग, 99, वोदकी या जो भी नाम से प्रचलित हो यदि आपके सम्मुख पेश करे तो आप दूर से मना कर दें। हो सके तो ऐसी संगति न करें और ऐसी ब्याह–शादी, पार्टी आदि में सम्मिलित न हो। नशा जीवन की शान नहीं है अपितु नशा छोडने में ही जीवन की शान है। मित्रो ! यह शराब एक है पर इसके श्राप अनेक है।

"यह शराब बच्चों के लिए त्रास है
पत्नि के लिए संताप है
व्यापार के लिए आग है
रिश्तेदार के लिए नाग है
जीवन के लिए अभिशाप है
यह शराब बोतल में शराब है, पेट में श्राप है।"

इस शराब के पान से विरूपता, रोग आत्मीय जनों के साथ तिरस्कार कार्य में विलम्बता, ज्ञान का नाश, स्मरण–शक्ति, बुद्धि का हरण सत्पुरुषों के साथ वियोग, प्रकृति में रूक्षता, नीच सेवाकुल तथा बल का विचलित होना धर्म अर्थ की हानि और पवित्रता का नाश होता है। इस संसार में प्राणी के लिए कष्टकारक, संसार परिभ्रमण में कारण

दुखदायक दोष को एवं गुणी जन को जन्म से निन्दित जो मदिरा करती है वैसा और पदार्थ नही करता है। इसलिए विवेकीजनों को शराब वैसे ही छोड देना चाहिए जैसे साँप केचुली को छोड़ देता है।

वेसुध हो मतवाला हो वह करता जीवन नष्ट है
यादव सुत मदिरा पीये जब हुई द्वारका भस्म है।

अन्यथा जब यह शराब व्यक्ति के होश–हवास को गुम करके बेसुध मत वाला बना देती है हित–अहित का विवेक खो जाता है एक बार समझदार यादव पुत्रों ने तीर्थंकर नेमिनाथ के ना कहने के बाद भी शराब पिया और होश खोकर द्विपायन मुनिराज को पत्थर मारने लगे परिणाम ये निकला कि शराब के नशे में मारे गये पत्थरों ने मुनिराज को क्रोधित किया उनके शरीर से एक हाथ का पुतला निकला और स्वर्णमयी द्वारका नगरी को भस्म कर दिया इसलिए कहा है–

चिन्तावर्धनमङ्ग्‌दुर्बलकरं विप्रत्ययोत्पादनं,
स्नेहच्छेदनमर्थनाथमितनुक्लेशावहं निर्गुणम्।
ते धन्या धरणी तले प्रतिदिनं ते बन्दनीया नरा,
यैरेतद् बहुदुख दोष जननं मद्यं सदावर्जितम्।।

जिन्होनें चिन्ता को बढ़ाने वाले शरीर को दुर्बल करने वाले, अविश्वास को उत्पन्न करने वाले, स्नेह को भंग करने वाले, धन का नाश करने वाले, बहुत भारी काम सम्बन्धी क्लेश को धारण करने वाले गुण रहित एवं बहुत दुख एवं दोषो को उत्पन्न करने वाले इस शराब का सदा त्याग किया है वे ही मनुष्य पृथ्वी तल पर धन्य है वे ही प्रतिदिन वन्दनीय हैं। वन्दनीय बनने के लिये शराब को नाशकारी समझकर छोडें ही साथ में कई ऐसी नशीली वस्तुएँ हैं जो आपके पावन जीवन को पतित कर सकती हैं।

ऐसे नशीले पदार्थ जो जीवन का शोषण करते हैं, उनके सेवन से भी बचना चाहिए। वे है–तबाकू, बीडी, सिगरेट, चरस, गॉजा, भॉग, अफीम, हिरोइन एवं गुटका आदि। ये भी स्वास्थ्य, शरीर, मन, धन एवं धर्म के घातक हैं अर्थात् नाश करने वाले हैं। इन सभी वस्तुओं का त्याग करें ताकि आपका जीवन सुरक्षित रह सके और जैनत्व का आचरण प्रगट हो सके

शराब पिलाकर गिराना तो सभी को आता है
श्रेष्ठता तो यही है जो गिरते को थाम लें

"वेश्या-सेवन"

दुःख का कारण वेश्या सेवन कहती माँ जिनवाणी है।
नीच बना अपमान कराती यह रोगों की खानी है।।
मीठी वाणी से वश करके चारूदत्त को फँसा लिया।
सारा धन उसका हर करके पाखाना में धँसा दिया।।9।।

अर्थ :

नीच बनाकर अपमान कराने वाली, रोगों की खानी समस्त दुःखों का कारण वेश्या सेवन है। यह जिनवाणी माता ने कहा है वसन्तिलिका नाम की वेश्या चारूदत्त नाम के एक सेठ को मीठी वाणी से आकर्षित करके अपना बना लिया और उसका सारा धन हरण करके पाखाना (सण्डास) में डाल दिया।

विवेक विकासिनी विवेचन :

जो मनुष्यो को ठगने में निपुण हैं, दूसरों से प्रेम करने वाली हैं, पाप युक्त हैं, विपत्ति की पिटारी है, निन्दा की जननी है, तप, शौच, सत्य, संयम, शील, चरित्र, लज्जा, यश, कुलीनता, दयारूपी लता को काटने के कुठार के लिए समान है, धन संग्रह में लीन है, कृतघ्नी है, अग्नि की ज्वाला के समान सन्ताप को उत्पन्न करने वाली है, संसार समुद्र मे डूबने वाली है एवं हाव-भाव विलास से चित्त को हरने वाली हैं ऐसी पतिव्रत रहित स्त्री से सम्बन्ध बनाना **'वेश्या सेवन'** कहलाता है।

दुख का कारण वेश्या सेवन कहती माँ जिनवाणी है
नीच बना अपमान कराती यह लोगों की खानी हैं

काम-वेदना से पीडित होकर दुराचारिणी बाजारू-स्त्री से सम्पर्क बनाना 'वेश्या-सेवन' है। वेश्या एक कलंकित और पतित नारी है, जो अपने शरीर को बेचकर कामी पुरुषों को काम की ज्वाला मे भस्म करती है। शरीर के भीतर जब वासना का सागर हिलौरे लेता है तब मनुष्य अपनी इज्जत दॉव पर लगाकर बाहर की ओर भागता है और भूल जाता है कि मैं किसके साथ क्या कुव्यवहार कर रहा हूँ। स्त्री का बाह्य आकर्षण शरीर की वास्तविकता भुला देता है। लेकिन ठण्डे दिमाग से सोचने वाले स्त्री के वीभत्स व गन्दे रूप का स्मरण करे तो निश्चित ही विरक्ति के भाव जाग्रत होंगे। स्त्री के समस्त अंग-प्रत्यंग मल से परिपूर्ण नजर आते हैं। उसे ऑख का मल, मुख की लार, पसीने की

दुर्गन्ध, बिखरे बाल, नाग सी भुजायें और बेडी से पॉव सुख देने वाले नहीं अपितु शक्ति को क्षीण करने वाले दिखाई पडते हैं।

वेश्या विश्व कलत्रमत्र तदहो पानीयशाला जले
यद्वत् कान्द विकासने चशुचिता का प्रायशस्तादृशी
तस्मात् साकृत पुण्य वत्- तकमुच्छोको दया क प्रिया
पूर्णेलं बिशदा स्वभावक लुषादोषाऽपि नन्दौकृ शे।

अर्थात्-वेश्या किसी एक की नहीं सारे विश्व की स्त्री है। इसलिए वेश्या को पण्यस्त्री (देह बेचने वाली स्त्री) कहते हैं। ये नगर वधु के नाम से भी जानी जाती है इसलिए वह किसी एक की प्रिया नहीं हो सकती। जैसे प्याऊ के पानी में और हलवाई के भोजन में पवित्रता नहीं होती, क्योंकि वहॉ सभी एक दूसरे का जूठा खाते पीते हैं, उसी प्रकार वेश्या भी सब लोगों की जूठी है, उसमें पवित्रता नाम की चीज नही है, क्योंकि वेश्या धन लेकर अपने शरीर को बेचती है, धन के लोभ से वह पापी, रोगी, दुर्बल, जॉत–कुजात सभी के साथ अपना सम्बन्ध बनाती है; जिससे उसके गुप्तांगों में अनेक संक्रामक रोग हो जाते है। जो उससे सम्बन्ध बनाता है वह साक्षात् रोग की खान में प्रवेश करता है। वेश्या दुःख का निमन्त्रण–पत्र है। वह नीच बनाने वाली एवं अपमान करने वाली हैं। इसका समर्थक धन का, सौंदर्य का, ब्रह्मचर्य का नाश करने वाला है। जहाँ–जहॉ वेश्याऍ हैं वहाँ–वहॉ भयकर एड्स आदि रोगो की उत्पत्ति होती हैं। जिसका इलाज सिर्फ मौत है। अति भौतिकवादी, विलासप्रिय अमेरिका पहले शील का मखौल (मजाक) उडाता था, लेकिन वह राष्ट्र भी एड्स रोग के कारण 'शील' को महत्व देने लगा है।

एड्स रोग वेश्या–सेवन से होता है। इसका पूर्ण वर्णन एक पत्रिका में आया था। उस लेख का शीर्षक था–'यौन संक्रान्ति का अंत'। उसमें लिखा था जान लेने और दिल लुटाने के मुहावरे आज सच्चाई बन गए हैं। मनचलों की दुनिया में खलबली मच गई है। रगीन रातें सगीन बनती जा रही है। लालबत्ती वाले इलाकों में आशिक और माशूक बेमौत मारे जा रहे है। तमाम वेश्याएँ विष कन्याओं में बदलती जा रही हैं। परकाया प्रेम की दुहाई देने वाले घर लौट रहे हैं। ब्रह्मचर्य जैसी गई गुजरी बातें फिर से श्रद्धा की पात्र हो गई हैं। जो पश्चिमी देश आधुनिकता के नाम पर उन्मुक्त यौन उत्छंखल प्रवृति में आकण्ठ डूबे हुए थे, वे आज अपने किए पर पछता रहे हैं तथा कथित यौन–क्रांति अंतिम सॉसें गिन रही है।

यह एड्स का जीव एक अजीब किस्म का वायरस यानि विषाणु है, यह जितना छोटा है उतना खोटा है। इसका व्यास 100 नैनो मीटर या 0.1 माइक्रोमीटर नापा गया है। ऐसे सूक्ष्म जीव ने आज लगभग 133 देशों में एड्स का असाध्य रोग फैलाकर ऐसी दहशत

(भय) पैदा कर दी है कि उसके सामने परमाणु युद्ध का आतंक भी नहीं रह गया है। इस रोगाणु पर शोध 1983 में पेरिस के डॉक्टर लुक मोटारनीर ने और 1984 में अमेरिका के डॉक्टर राबर्ट गैली ने किया है। एड्स का वायरस आधुनिक समाज में व्याप्त हिंसा और आतंक का वामन अवतार है। एड्स का वायरस मानवदेह के अन्दर खून में पनपता है। पहले यह हमारे खून की प्रतिरक्षा प्रणाली के पहरेदारों को दबोचता है, इसके बाद चाहे फ्लू हो या निमोनिया किसी भी रोगाणु के खिलाफ रोगी के खून में ऐन्टी बॉडी नहीं बनती। एक बार यदि पूरे खून में एड्स के विषाणु फैल जाएँ तो चन्द महीनों में ही मौत रोगी को अपने पंजे में दबोच लेती है। अल्सर, अतिसार, बुखार और वजन घटते जाने से एड्स के लक्षण प्रकट हो जाते हैं और धीरे–धीरे ओजहीन होता हुआ एड्स रोगी सूखकर कॉटा हो जाता है एड्स का वायरस पहले दिमाग (मस्तिष्क) पर आक्रमण करता है और रोगी सनक का शिकार हो जाता है।

तथाकथित 'यौन क्रान्ति' अंतिम सॉसें गिन रही है। दुनिया भर के दुराचार के अड्डों में सनसनी फैल गई है, जो काम सन्त महात्मा नहीं कर पाये, वह 'एड्स' की बीमारी फैलाने वाले एक क्षुद्र प्राणी ने कर दिखाया। इसलिए एक बार फिर पश्चिमी स्कूलों में नैतिकता की दुहाई दी जा रही है।

वेश्या के बारे में आचार्यो ने कहा है

'दर्शनात् हरते चित्तं स्पर्शनात हरते बलम्
मैथुनात् हरते वीर्य वेश्या प्रत्यक्ष राक्षसी।8।

अर्थात : जिसको देखना मन को हरने वाला है, जिसका स्पर्श करना बलहीन करने वाला है, जिसका भोग करना वीर्य हरण करने वाला है, ऐसी वेश्या प्रत्यक्ष राक्षसी हैं।

जो मन को, बल का एवं वीर्य का हरण वाली हो, ऐसी वेश्या का क्या आप सम्पर्क करना चाहेंगे ? नहीं, क्योंकि वेश्या का सम्पर्क करना ही अग्नि में हाथ डालना है, जिस प्रकार किम्पाक फल देखने में सुन्दर व सलोना होता है, पर उसका भक्षण करना मरण–तुल्य कष्टदायी होता है। उसी प्रकार वेश्या देखने में सुन्दर होती है पर उसका स्पर्श मरण–तुल्य कष्टदायी होता है। वेश्या रूप की नहीं धन की चाकरी करती है।

जिससे भी उसे धन की आशा होती है उसे ही अपने चुंगल में फॅसा लेती है और उससे सारा धन लेकर नीच बना देती है तथ अपमान कराती है और उसे ऐसे छोड देती है जैसे सूखे सरोवर को हंस इसलिए कहा

मीठी वाणी से वश में करके चारुदत्त को फँसा लिया,
सारा धन उसका हर करके पाखाना में धँसा दिया।

चारुदत्त नाम के धर्मात्मा व्यक्ति ने विवाह के पश्चात् अपनी नवयौवना सुन्दर स्त्री का अवलोकन (भोग) भी नहीं किया, लेकिन जब बसन्त सेना वेश्या से सम्बन्ध बनाया तो वसन्त सेना ने मीठी वाणी से उसे अपने चंगुल में फंसा लिया वह उसके पास 12 वर्ष रहा और उसके घर रहकर 18 करोड़ दीनार उसे अर्पित कर दिये। अन्त में परिणाम यह निकला कि वेश्या ने चारुदत्त को धनहीन समझकर सण्डास मे डाल दिया सच है वेश्या मनुष्य को अपने ऊपर आसक्त जानकर उससे सैकडों छल–कपटों के द्वारा सर्वस्व हरण कर लेती है और उसकी सम्पदा तथा प्रतिष्ठा लूटकर ऐसे ही उसे फेंक देती है जैसे कोई गन्ने का रस चूसकर उसे कचरे मे फेंक देता है। इसलिए तो वेश्या को प्रत्यक्ष राक्षसी कहा है। वेश्या धर्म को खा जाती है, पाप को विस्तृत करती है, गुणों को नष्ट करती है, दोष को उत्पन्न करती है, सुख का विघात करती है, दुःख देती है और इस प्रकार वह अनेक दोषो से परिपूर्ण होती है। वेश्या मृत्यु की अक शैय्या है। उसे एवं उससे सम्पर्क रखने वालों के जीवन को धिक्कार है। जिन व्यक्तियों का मन वेश्या पर आसक्त हो जाता है उसे लक्ष्मी, दया, बुद्धि, घृति, द्युति, कीर्ति, प्रीति, कान्ति, समता और निपुणता छोड देती है। वेश्या अत्यन्त निद्य है। यह वचन से मृदु, तन से सुन्दर और मन से दुष्ट होती है। इससे सदैव सावधान रहना चाहिए। संसार में समुद्र की थाह (गहराई) का पता लगाया जा सकता है, जल के मध्य जाने वाले मार्ग का पता लगाया जा सकता है, पर वेश्या के चित्त (मन) का पता नहीं लगाया जा सकता है जिस प्रकार पर्वत में कमल, गधे के सींग, आकाश मे फूल नहीं होते उसी प्रकार वेश्या सेवन में किंचित भी सुख नही है। वेश्या रूपी ईन्धन से प्रज्जवलित वह काम ज्वाला है जिसमें कामी मनुष्यों द्वारा यौवन और धर्म होम हो जाते हैं।

अखिल कुजन सेव्यां मद्यमा सादिसक्ता।
अशुभभुवत भूमि तस्करी धर्मरत्ने।।
कुगति कुमति दांत्वं मुक्तिमार्गार्ग लांभो।
त्यज भुवि बुध ! वेश्यांशील गेहं प्रविश्य।।

अर्थात्– जो समस्त नीच पुरुषों के द्वारा सेवनीय है, मद्य माँस आदि में आसक्त है, अशुभ लोक की भूमि है, धर्मरूपी रत्न की चोर है, कुगति और कुमति को देने वाली है तथा मोक्षमार्ग की अर्गला (साँकल) है, उस वेश्या को हे ज्ञानी जनो ! तुम शील रूपी घर में प्रवेश कर छोडो।

अगर आप धन की कुल की प्रतिष्ठा की, वीर्य की एवं सौन्दर्य की रक्षा करना चाहते हो तो समस्त पापों खान वेश्या से बचें और बचायें। यही जैनत्व का आचरण है। इसी में कल्याण है।

शिकार-खेलना

प्रकृति के सौन्दर्य लाभ ले मुक पशु वन में फिरते।
अस्त्र-शस्त्र-बन्दुक आदि ले दुष्ट प्राणी पशु वध करते।।
मनोरंजन के हेतु जो भी दुख देता प्राणी को अपार।
ब्रह्मदत्त सम दुख को सहता जो खेले जगति में शिकार।।10।।

अर्थ :

अपने मनोरंजन के लिए प्रकृति की सुन्दरता में स्वतंत्र विचरण करने वाले दीन–हीन–मुक पशु पक्षियों को अस्त्र–शस्त्र, बन्दूक आदि लेकर मारना सताना शिकार खेलना कहलाता है इस संसार में शिकार खेलने के कारण ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती को नर्क का दुख सहन करना पडा।

विवेक विकासिनी विवेचन :

पशु और प्रकृति सृष्टि के सौंदर्य है। पशुओं से प्रकृति का सौंदर्य है, प्रकृति से पशुओं का जीवन हैं, जो प्रकृति के सहारे जीते है उसको मारने का अधिकार प्रकृति को छोडकर अन्य किसी को नहीं है। जो प्रकृति के नियमों को उल्लंघन करके मूक पशुओं को असमय में मृत्यु की शय्या पर सुलाते हैं, वे इस संसार में इंसान नहीं अपितु शैतान है। वे मूक पशुओं को मृत्यु की शय्या पर सुलाकर स्वयं असमय में मृत्यु की गोद में जाने की तैयारी कर रहे हैं। इसलिए भगवान महावीर स्वामी ने कहा है कि – इंसान को अपने प्राणों के समान पर के प्राणों को समझकर उसकी सदैव सुरक्षा करनी चाहिए, उसकी सुरक्षा ही जीवन की रक्षा है। लेकिन दुष्ट इंसान अपने मनोरंजन के लिए, स्वाद के लिए, समृद्धि के लिए प्रकृति के सौंदर्य में स्वतंत्र विचरण करने वाले दीन हीन मूक–पशुओं को मारता है अस्त्र–शस्त्र के बल पर स्वच्छ गमन में स्वच्छन्द विचरण करते हुए एवं घोर अरण्य में घूमते हुए पशुओं को अपने स्वार्थ की पूर्ति के लिए मारना, सताना 'शिकार खेलना' कहलाता हैं। इसलिए कहा है–

प्रकृति के सौन्दर्य लाभ ले मूक-पशु वन में फिरते
अस्त्र-शस्त्र-बन्दूक आदि ले दुष्ट प्राणी पशु वध करते

इंसान को सदैव विचार करना चाहिए की यह जीवन दूसरे को सताकर, मारकर

मनोरंजन करने के लिए नहीं, अपितु अपने मन व इंद्रियों की अभिप्साओं को मारकर आत्म–रंजन करने को मिला है। यदि एक बार इंसान पशुओं की पीडा का अहसास कर लेवें या सोचे कि जरा सा कॉटा पॉवों में चुभ जाता है तो सारा तन पीड़ा से कराह उठता है तो जिसके तन पर भाला, बन्दूक, छुरी, आरा आदि चुभते होंगे तो उसे कितनी पीड़ा होती होगी . ।

सन्त नामदेव ने माता के कहने से वृक्ष को काटा फिर मन में विचार आया कि वृक्ष को काटने से क्या होता है ? एक बार मैं अपने पॉव को तो काटकर देखूँ और उन्होंने अपना पैर कुल्हाडी से काट लिया और माँ के पास पहुँचते है। माँ रक्त की धार देखकर चीख पडती है और पूछती है–बेटा ! ये क्या हुआ ? मॉ मैं देखना चाहता था कि किसी को काटने से कितना कष्ट होता है। मॉ मुझे जरा से काटने से इतना कष्ट हो रहा है तो वृक्ष को कितना कष्ट होता होगा। इसलिए मॉ आज से मैं किसी भी वृक्ष को, पशु–पक्षियों को नहीं काटूँगा, नहीं सताऊँगा।

एक बार हम विचार तो करे कि – मूक पशु हमें क्या कष्ट देते हैं ? जो हम उन्हें मारते हैं। जो मनुष्य जिव्हा के लिए, श्रृंगार के लिए, मनोरजन के लिए, धन कमाने के लिए, पशुओं को मारता है वह निकृष्ट है, पापी है। यह कृत्य महामूर्खता के लक्षण है। ऐसा करने से प्रकृति का संतुलन बिगडता हैं। प्रकृति के सहारे रहने वाले भोले–भाले जीव–जन्तु मनुष्य से न कुछ मॉगते है न किसी वस्तु की आकांक्षा करते है वे तो तृण आदि का भक्षण कर अपने जीवन का निर्वाह करते हैं। वे वन में छुपे रहते है, जरा सी आहट पाकर भागने लगते हैं। ऐसे दीन–हीन मूक निर्बल असहाय पशुओं को मारना विवेकशील प्राणी का लक्षण नहीं है। यह तो नीच अत्याचारी का लक्षण है। जैसे हमें अपने प्राण प्यारे लगते है, वैसे ही उन्हे भी अपने प्राण प्यारे लगते है। जिस प्रकार स्वयं को क्षति पहुँचने पर दुःख होता है, एवं अपने प्रियजन को कष्ट होने पर हमें दु.ख होता है, उसी प्रकार मुक पशु को कष्ट देने पर उसे व उसके परिवार वालों को कष्ट होता है। इसलिए इन मूक–पशु–पक्षियों को कभी कष्ट नहीं देना चाहिए।

शिकार खेलने से तीव्र हिंसात्मक मनोरंजन के परिणाम होते हैं। हिंसात्मक संक्लेश भावों में तीव्रता के साथ अशुभ कर्मो का आश्रव होता है, क्योंकि शिकार का इच्छुक व्यक्ति घर से ही मारने की भावना से निकालता है। निरन्तर जीव मारने के भाव से आत्मा के परिणाम कलुषित रहते है, चाहे शिकार मिले या न मिले। पशु दिखने मात्र से भागना, दौड़ना, मारना, शस्त्र तानना आदि क्रूर–भाव मन के साथ काया में भी होने लगते है, तो उस वक्त उसे तीव्र पाप का बन्ध होने लगता है अगर उस वक्त आयु कर्म का बन्ध हो

रहा हो तो नियम से नरक–गति का ही बन्ध होगा। इसी प्रकार मच्छी–मार धीवर (मछुवारा), पक्षी–मार बहेलियाँ को भी निरन्तर पापाश्रव होता है। उसके भाव भी निरन्तर हिंसा रूप ही होते हैं। पाप किसी का सगा संबंधी नहीं है, वह तो अपना फल निश्चित ही देगा। शिकारी कानून की निगाह से तो बच सकता है, लेकिन कर्म की निगाह से नहीं बच सकता, उसे अपने किये का फल आज नहीं तो कल निश्चित रूप से भोगना ही पड़ेगा। हिंसा के कार्य में आनन्द मानने वाला चाहे हिंसा करे, चाहे कराए, चाहे अनुमोदना करें उसे परिणामानुसार निश्चित ही पाप का आश्रव होगा।

अहिंसक होने के इच्छुक व्यक्ति को सदैव ध्यान रखना चाहिए कि वह कभी भी मनोरंजन के लिए सॉप, नेवले, मुर्गा–मुर्गा, बकरा–बकरा, साण्ड–साण्ड, भैंसा–भैंसा, भालू–भालू, कुत्ते–खरगोश, पहलवान–पहलवान आदि की लड़ाई भी नहीं देखनी चाहिए और न ही ऐसे मनोरंजक कार्यक्रम कराने चाहिए, ये शिकार के ही रूप हैं। अगर आज हम किसी को लडाते है तो भविष्य में हमें भी लडाई के कारण ही पीडा सहनी पड़ेगी। यदि हम किसी के पुत्र का वियोग करते है तो कल हमारे पुत्र का भी वियोग होगा।

आज श्रृंगार और आहार के लिए कितने पशुओं का वध हो रहा है। यह भी एक सामूहिक शिकार है। अगर हम श्रृंगार या आहार के लिए शिकारित पशुओं के किसी भी अंश को, किसी भी रूप में ग्रहण करते है तो उस हिंसा के पाप के भागी हम भी है। हमें इसका पूर्णतया त्यागकर देना चाहिए। आज जितने भी कत्ल–खानें है, वे सब सामूहिक शिकार के केन्द्र है। जिसमें आप स्वयं शिकार तो नहीं करते लेकिन आपकी भौतिक आकांक्षाऐं शिकार कराती है। जिसके पाप के भागी कुछ अंशों में आप स्वयं भी हैं।

कत्लखाने की संस्कृति देश के पशुधन पर जो कहर बरपा रही है वह अक्षम्य है। अहिंसा धर्म के अनुयायियों द्वारा इस घिनौने कृत्य को नहीं रोका गया तो 21 वीं सदी के अन्त तक गॉव, शहर गली–मोहल्लों में खून खराबे की वारदाते दिन दहाडे काफी संख्या मेंहोने लगेगी। अफसोस है–इस बात का कि–

जिस भारत देश में मांस खाने की अपेक्षा घास खाकर मरना श्रेष्ठ माना जाता था उसी भारत–भूमि में घास (शाकाहार) की पूर्ण उपलब्धि के बावजूद भी माँस का सेवन किया जा रहा है। पहले के लोग तो शिकार के माध्यम से अपना वे अपने परिवार का ही कदाचित पेट भरते थे। पर आज के शिकारी लोग अपने पेट के साथ विदेशियों के पेट व अपनी पेटी (तिजोरी) भी भरने को तुले हैं। आज इसी शिकार के कारण ही पर्यावरण प्रदूषित व असन्तुलित हुआ है। वन मरुस्थल में बदल रहे है। जल के स्रोत सूखते जा रहे है। आदमी के खूनी शौक ने अपने साथ आगामी पीढी को विनाश के महासागर में ढकेलते जा रहे हैं।

भारत की अहिंसा–संस्कृति विश्व की सर्वोत्तम संस्कृति है। पहले इसी भारत में पशु–पक्षियों की सुरक्षा के लिए सम्राट अपने तन को समर्पित कर देता था। राजा में मेघरथ (शिवी) ने कबूतर के पीछे पडे गिद्ध को देखा तो कबूतर के प्राण बचाने के लिए अपनी जांघ का मांस गिद्ध को देने के लिए तैयार हो गये। राजा शुद्धोधन के पास घायल हंस को मारने वाला व बचाने वाला दोनों साथ लेकर पहुँचे, तब राजा शुद्धोधन ने कहा–मारने वाले से बचाने वाला श्रेष्ठ है। हंस बचाने वाले का है। तीर्थकर पद्मप्रभु मात्र हाथी को बँधा देख संसार से विरक्त हो गये। पर आज उसी भारत देश के इंसान की क्रूरता–सीमा लांघ गयी हैं। आत्मा संवेदन–शून्य हो गयी है। इसीकारण अहिंसा की इस शस्य–श्यामल भूमि पर पशुओं की जिन्दगी पर बेजान जिन्स की तरह जो व्यवहार होता है वह अक्षम्य है। वह हमारे जीवन मूल्यों को अस्तित्वहीन करता जा रहा है।

आज विश्व जीवन पर हिंसा व क्रूरता का दबाव अपनी चरम–सीमा पर है। जीवन का अब ऐसा कोई भी क्षेत्र शेष नहीं रहा; जहाँ हिंसा ने अपना डेरा न डाला हो। ऐसी भयावह स्थिति मे हम भगवान महावीर के दिये–अहिंसा सिद्धान्त के अनुरूप व्यसनमुक्त जीवन नहीं जीना चाहेगे, तो हिंसा की डायन समूची मानव–जाति को लील लेगी। इसलिए हमें हिंसा की धूर्तता को पहचान कर उसे जिन्दगी के हर मोड से निकालकर बाहर फेंक देना चाहिए। ये सामूहिक शिकार केन्द्र ऋषि व कृषि परम्परा के भारतीय माथे पर कलंक है। इसने भारत की प्रतिष्ठा व सन्तों की अस्मिता पर गहरी चोट की है। संसार में किसी को मौत देकर मौज करना सुख, समृद्धि, शान्ति की कामना करना, आकाश से फूल की आकांक्षा करना है। प्रकृति की समस्त कृति के साथ वात्सल्य भाव रखना हर इंसान का फर्ज होना चाहिए।

प्रत्येक जीव को प्राकृतिक जीवन पूरी तरह जीने का अधिकार हैं पर आज हम अपनी अर्थव्यवस्था, स्माज सरचना, नीति, धर्म–सस्कृति का ध्यान रखें बिना केवल शौक, मनोरंजन, स्वाद व सुविधा के लिए अपने पर्यावरण का, पशुओं का नाश करने पर तुले हुए हैं। जो सदियों से हमारा साथ दे रहे है; उसी का हम संहार कर रहे हैं।

वर्तमान में बड़े शिकार तो आपके लिए सरकार कराती है तथा कुछ धन–लोभी करते हैं। इससे तो आप अवश्य बचे। लेकिन आप ग्रहस्थ जीवन में रहकर कई सूक्ष्म शिकार करते है और पाप कमाते है। इसे भी समझे और उस पाप से बचने का प्रयास करें।

अगर आप गृहस्थ जीवन में है तो सर्व–प्रथम अपने सिर का ध्यान रखें एवं बालों की सफाई रखे। अगर सिर के बाल गन्दे रहते है तो जुओं की उत्पत्ति होती है। फिर उन जुओं को निकालकर अलग करना पड़ता है। अगर हम विवेक से छाँव में अलग करते

है तो ठीक है, लेकिन अयत्नाचार पूर्वक अलग किया है या अविवेकी बनकर जैसे गिलास या कटोरी में पानी लिया और जुएँ को उसमें डाल दीया दोनों अँगूठों के मध्य रखा और मार दिया या आग में डाल दिया तो यह भी एक प्रकार का शिकार है।

यदि बिस्तर पर चारपाई में खटमल हों तो यत्नपूर्वक उसकी सफाई करें। यदि रात में काटे तो क्रोधित होकर उसे पकड़कर दीवार में कंस की भाँति निशाना बनाने का प्रयत्न न करें और न हीं हिंसा पूर्ण दवा (कीट नाशक) का प्रयोग करें। अगर करते है तो यह भी एक प्रकार का शिकार है। यदि आपके घर में या आसपास नाली है तो उसकी सफाई का ध्यान रखें। अगर उसके कारण मच्छर होते है और आप मच्छर मारने के लिए टिक्–ट्वन्टि आदि जहरीली दवाईयों को छिडकते है या छिड़कवाते है तो महापाप का उपार्जन करते है। यदि मच्छर आ जाएँ और उसे ताली बजाकर मार देते है और मक्खी आ जाएँ और उसे पकडकर गिलास आदि में भरते हैं तो यह भी एक प्रकार का शिकार है। यह पापाश्रव का कारण है।

यदि आपके घर में शौचालय है और आप उसे फिनाइल आदि जहरीला पदार्थ डालकर सफाई करते है तो आपके भावों में तीव्र हिंसा है, वह भी शिकार हैं। आज आप करोडों त्रस जीवों में तेजाब–युक्त पदार्थ डाल रहे है। कल यही हिंसा कर्म का फल मिलेगा और आपके ऊपर कोई तेजाब डालेगा। इसलिए भविष्य को सुरक्षित रखने के लिए वर्तमान में शिकार का त्याग करें। ऐसे स्थानों की पहले से ही सफाई रखें ताकि जीवोत्पत्ति ही न हो।

यदि आप किसान (कृषक) है और खेती हैं, तो अपने भाग्य पर विश्वास रखें। अधिक अन्न की चाह में कीटनाशक दवाओं एव खाद आदि का प्रयोग न करें और न कराऐं। यदि करते है तो यह भी सूक्ष्म जीवों का शिकार हुआ। आचार्यो ने का है :–

'यत्नाचार पूर्वक क्रिया करते समय यदि जीवों का घात हो भी जाएँ तो क्षम्य हैं पर अयत्नाचार पूर्वक किए गए कृत्य में हिंसा हो या न हो वह प्रमाद पापाश्रव में कारण है, क्षम्य नहीं हैं। इसलिए

मनोरंजन के हेतु जो भी दुख देता प्राणी को अपार
ब्रह्मदत्तसम दुख को सहता जो खेले जगति में शिकार

अर्थात्- अपने मन को बहलाने के लिए, स्वाद के लिए, अकारणही वन्य प्राणियों की हत्या करता है वह ब्रह्मदत्त सम्राट के समान नरको का दुख सहन करता है पशुओ की हिंसा तो नहीं करे साथ ही यदि आप बगीचें, पार्क आदि में घूमते समय व्यर्थ पत्ते आदि तोडते हैं, टिड्डी आदि पकड़ते हैं और उसके पृष्ठ भाग में धागा आदि बॉधकर मनोरंजन

करते हैं तो यह भी शिकार का एक रूप है, मनोरंजन के रूप में कुत्ता, गधा, बकरी, गाय आदि की पूँछ में बाँधा गया डिब्बा या पटाखा आदि हिंसात्मक कृत्य हैं। इससे भय एवं मृत्यु दोनों हो सकती है। यह भी तीव्र पाप हैं, शिकार का रूप हैं। पशुओं की आकृति के बने मिठाई, केक, चाकलेट आदि को काटकर खाना भी शिकार का एक रूप हैं।

चिड़ियॉ, कबूतर, तोता–मैना आदि को पकडकर रस्सी से पॉव बॉधकर लटकाना, पिंजरे में चूहे, बिल्ली आदि को कैद करके मार देना। ये सब शिकार के सूक्ष्म रूप हैं। इसी प्रकार अन्य और भी क्रियायें है, जो हिंसात्मक तरीके से मनोरंजन के लिए किए जाते है, जिससे स्वयं के मन को आनन्द मिले व अन्य जीवों को कष्ट मिले, उसे शिकार कहते है। ऐसे किसी भी कार्य को न करें और न कराएँ अन्यथा पुत्र वियोग, विकलांगता, बांझपन, अकारण जेल यात्रा, एक्सीडेन्ट से मृत्यु, गृह क्लेश, अशान्ति आदि कुपरिणाम भोगने को तैयार रहें।

आजकल पशुओं का तो शिकार हो ही रहा है साथ ही साथ इंसानों का भी शिकार होने लगा है और वह शिकार हो रहा है गर्भपात के माध्यम से। कुछ अत्याधुनिक महिलाऐं इस कुकृत्य को अपनी सुविधा के लिए स्वीकारती हैं और गर्भ की पूर्ण वृद्धि के पूर्व ही 'एवोर्शन' (गर्भपात) करवा लेती हैं। ऐसी स्त्री उस शिकारी से भी ज्यादा निन्दनीय है, जो जंगल में पशुओं को मारता हैं वह शिकारी तो विचरण करते हुए पशुओं को मारता हैं। वह जानवर तो अपनी जान की सुरक्षा भागकर कर सकता है पर गर्भस्थ नादान शिशु क्या कर सकता है ? जो अपने ही रक्त से जन्मे जीते जागते दाम्पत्य जीवन के प्रतीक शिशु को गर्भपात द्वारा टुकड़े–टुकडे करवाकर, कटवाकर निर्मम–हत्या करवाने वाले माँ–बाप, संबंधी या प्रेरणा–स्रोत सभी नरभक्षी पापी है। वह स्त्री माँ नहीं, हत्यारिन पूतना है उसके हाथों से भोजन करना भी पाप है। गर्भपात कराने वाली महिला सदैव ध्यान रखें . . . जैसे किसी बालक को माता–पिता प्रसन्न होकर मिठाई देते है बालक उसे न खाकर नाली में फेंक देता है तो फिर दोबारा माता–पिता मिठाई नहीं देते है, उसी प्रकार शुभ–कर्म की विशेष कृपा से सन्तान की प्राप्ति होती है। यदि कोई गर्भपात कराकर उस सन्तान को फेंक देता है तो फिर उसे सन्तान की प्राप्ति भी सम्भव नहीं है। भविष्य में गर्भपात कराने वाली स्त्री बाँझ होती है। जहाँ गर्भपात किया जाता है वह अस्पताल–चिकित्सालय नहीं कत्लखाना हैं, वह डॉक्टर और नर्स कसाई हैं, जो निर्दोष मासूम कली को कुचलतें हैं। इसलिए 'एवोर्शन' (गर्भपात) कराने वाले भी शिकार से बचें। देश में ऐसे लाखों क्लिनिक खुल गये है जहॉ भ्रूण हत्या का काम बडी शान्ति से किया जाता है जबकि भ्रूण निष्प्राण चीज नहीं एक सजीव प्राणी हैं लेकिन इंसान इतना दुष्ट हो

गया है कि भ्रूणों को एक साथ जलाकर समाप्त कर दिया। इतने बड़े पैमान पर भ्रूणों की हत्या सामूहिक नरसंहार है। जो शिकार ही नहीं महाशिकार है यह सभ्य मानव के लिये कलंक से परिपूर्ण हैं।

रामचंद्र जी ने एक बार स्वर्ण–मृग को देखकर शिकार का विचार किया और स्वर्ण–मृग के पीछे भागे, परिणाम यह हुआ कि सीता हाथों से चली गयी। निरीह, असहाय, निर्बल, दीन–हीन, मूक पशुओं को मारना वीरता नहीं है, कायरता है – पाप हैं। अपने भीतर संवेदना को जन्म दें, 'जीओं और जीने दो' के सूत्र का पालन करें। मनुष्य का धर्म प्राणी हत्या करने का नहीं, प्राणियों को बचाने का हैं। क्षत्रिय उसे ही कहा जाता है; जो समस्त प्राणियों की रक्षा करें। दूसरों की हत्या करने वाला क्षत्रिय पुरूष नहीं कायर पुरूष हैं। वह निश्चित ही भविष्य में सन्तान–हीन व विकलांग बनेगा। सदैव विचार करें–

यथा मम प्रियः स्वात्मा सुखमिष्टं च य सदा।
तथा हि सर्व भूतानां नित्यमेव सुखं प्रियम्।।
एवं ज्ञात्वा न हन्तव्या निर्दोषा जगत् जन्तवः।
स्वात्मवत्सर्व भूतेषु व्यवहारो विधीयताम्।।

अर्थात्– जिस प्रकार मुझे अपनी आत्मा प्रिय है तथा सदा सुख की इच्छा रहती है उसी प्रकार सभी जीवों को अपनी–अपनी आत्मा प्रिय हैं तथा सुख की इच्छा है, ऐसा जानकर जगत के निर्दोष जीवन मारने के योग्य नहीं है। सब प्राणियों पर अपने समान व्यवहार करना चाहिए।

शिकार करने वाला व्यक्ति घोर दुःख सागर में अनन्त काल तक पड़ा रहता है। जरत्कुमार शिकार के शौक के कारण ही अपने भ्राता श्रीकृष्णजी के हन्ता बने। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती ने भी शिकार के कारण अनेक कष्ट उठाये थे। इसलिए दयालू जीवों को किसी भी रूप में अन्य जीवों को नहीं मारना चाहिए, न खाना चाहिए और न ही ऐसी सामग्री का उपयोग करना चाहिए, जिसमें जानवरों की आकृति बनी हो और उसे खाया जाता हो। जैसे – टॉफी आदि क्योंकि मछली, हाथी, चिड़ियाँ आदि आकृति से भाव–संकल्पी हिंसा के होती है, जो पाप में कारण हैं। हमें अपने प्राणों के समान दूसरों के प्राणों को समझकर शिकार खेलने का सदात्याग कर देना चाहिए और सारी वसुधा को अपना कुटुम्ब मानकर ऐसी करूणा, मैत्री, दया, प्रेम सौहार्द का वातावरण निर्मित करना चाहिए कि पशु भी हमारे बीच रहकर यह विचार करे कि हम किसी कसाई के बीच नहीं, इंसान के बीच अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

"चोरी करना"

असली में नकली मिलान कर धोखा देता शाम सबेरा।
बिन पुछे पर वस्तु लेकर जो कहता यह सारा मेरा।।
अधिकार रहित वस्तु को कहता यह है सारी मेरी।
निर्धनता को देने वाली छटवीं व्यसन है चोरी।।11।।

अर्थ :

असली वस्तु में नकली वस्तु मिलाकर सुबह शाम धोखा देना बिना पूछे पराई वस्तु को लेकर अपना कहना अधिकार रहित वस्तु को अपना कहना चोरी है। निर्धनता को देने वाली छटवीं व्यसन चोरी है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

तथाकथित विकास के रास्ते पर सरपट भागती आज की दुनिया में सबसे बडी ताकत पैसा बन चुका है। इसी कारण श्रम का घोर अवमूल्यन हुआ है। आदमी के पास काम न हो और पैसा भी जरूरी हो तो वह दुस्साहस के साथ अपनी इज्जत को ताक पर रखकर चोरी को स्वीकार करता है। कदाचित किसी के पास काम भी हो तो बेईमानीपूर्वक धनोपार्जन करना चाहता है। भीतर की धन–लिप्सा, यश–लिप्सा, पद–लिप्सा व्यक्ति को चोरी की ओर प्रेरित करती है। पर भगवान महावीर स्वामी ने ईमानदारी रहित पर धन को ग्रहण करना चोरी बतलाया है और इसे व्यसन के रूप में ग्रहण किया है, क्योंकि भीतर की पदार्थ लिप्सा आवश्यकता न रहने पर भी बाहर की वस्तु को किसी भी प्रकार से अपने पास लाने का प्रयत्न करती है। आचार्य समन्त भद्र ने कहा है –

"निहितं वा पतितं वा सुविस्मृतं वा परस्वम्विसृष्टं
न हरित यन्न चदत्ते तद् कृशचौर्या दुपारमणम्।"

किसी की गिरी, पडी, रखी, भूली वस्तु को या बिना दी हुई वस्तु को न लेना न देना अचौर्य है बाकी सब चोरी है। संक्षिप्त में कहा जाएँ तो जो वस्तु अपनी नहीं है उसे अपना घोषित करने का नाम चोरी है। यह चोरी दो प्रकार की होती है – प्रगट चोर – गलत तोलने वाले व्यापारी, जुऑरी, नकली वैद्य, रिश्वत–खोर, मिलावट कर सामान बेचने वाले, राज्य के विरुद्ध अतिक्रमण करने वाले, बिना टिकट यात्रा करने वाले, टैक्स न चुकाने

वाले,सड़कों पर लूटने वाले, दिन दहाडे पराया माल हडपने वाले प्रगट चोर है। तथा रात्रि में सेंध लगाकर या किसी भी गुप्त रूप क्रिया से या अधिकार रहित वस्तु को येन केन प्रकारेण अपना बनाने वाले को अप्रगट चोर कहा गया है।

यह चोरी की आदत बहुत बुरी आदत है। यह आदत बड़ी मुश्किल से छूट पाती है। यह आदत इंसान को अच्छी इसलिए लगती है कि बिना पुरुषार्थ किये उसके पास धन आ जाता है। जिससे कुछ समय के लिए जिन्दगी आराम से गुजरने लगती है। लेकिन ख्याल रखे–बिना मेहनत का आराम तात्कालिक आनन्द प्रदान कर सकता है, पर अपने पीछे अनन्त पश्चाताप को छोडकर चला जाता है। संसार में जो ईमानदारी पूर्वक मेहनत करके, कमाकर नहीं खाता वह चोर है। चोरी की आदत व्यक्ति को अकर्मण्य बनाती है। पतित करती है। चोरी द्वारा अर्जित धन मन को विकृत करता है। चोरी तत्क्षण तो बहुत कुछ देती है। अन्तत. सब कुछ छीन लेती है। आखिर चोरी है क्या ?

असली में नकली मिलानकर धोखा देता शाम सवेरा,

बिन पूछें पर वस्तु लेकर जो कहता यह सारा मेरा।

किसी पिता ने अपने पुत्र से कहा–बेटा घी में डालडा मिला दिया ? हॉ पिताजी। हल्दी मे पीली मिट्टी मिला दी ? हॉ पिताजी। काली मिर्च में पपीते के बीज मिला दिये ? हाँ पिता जी। चावल मे सफेद कंकड मिला दिये ? हॉ पिता जी। तो चल बेटा मन्दिर होकर आते है। इस प्रकार के कृत्य धर्मात्मा के नही पापात्मा के होते हैं। ताले तोड कर दूसरें का माल हडपना, डर दिखाकर पराया माल लूटना तो पक्की चोरी है ही, साथ ही साथ असली वस्तु मे नकली वस्तु को मिलाकर बेचना भी चोरी है। इस कृत्य से स्वयं को धन की प्राप्ति भले ही हो–लेकिन पर (दूसरे) के परिवार की, जीवन की हानि शीघ्रता से होती है। दूसरे को धोखा देकर कमाया गया धन व मौके का फायदा उठाकर कमाया गया धन ज्यादा दिन नहीं टिक सकता है। शास्त्रों में कहा गया है कि–

अन्याया उपार्जित वित्तं दशवर्षाणि तिष्ठति,

प्राप्ते तु एकादश वर्षे समूले च विनश्यति।

अन्याय द्वारा उपार्जित धन दस वर्ष से अधिक नहीं टिकता वह ग्यारहवें वर्ष किसी न किसी माध्यम से अवश्य ही समाप्त हो जाता है। सच है– बेईमानी से कमाया गया धन अग्निकाण्ड, बीमारी, अपहरण, छापा या अदालत आदि किसी न किसी माध्यम से अवश्य ही समाप्त हो जाता है। इसलिए ईमानदारी पूर्वक ही धनोपार्जन करना चाहिए। अगर आप एक बार सरकार के टैक्स की चोरी करते है तो देश की सम्पूर्ण जनता की

चोरी का पाप लगता है; क्योंकि आपने सरकार की चोरी करके सारी प्रजा के धन पर अपना अधिकार जमाया है। चोरी का कृत्य अत्यन्त छोटा है परन्तु रहस्य बहुत बडा है। कहा है -

अधिकार रहित वस्तु को कहता यह है सारी मेरी
निर्धनता को देने वाली छँटनी व्यसन है चोरी।

अधिकार रहित वस्तु को अपनी कहना और अधिकार जताना ही चोरी है यह वर्त मान में विश्वास घात कराती है और भविष्य को निर्धनता से भर देती है। इसलिए मनुष्य को परधन, पशुधन अथवा राजकीय पारिवारिक, धार्मिक, सामाजिक अधिकार से परिपूर्ण वस्तु को विश्वास–घात करके ग्रहण नही करना चाहिए। गृहस्थों को जल, मिट्टी, वन्य–फल बिना आज्ञा के ग्राहय है लेकिन अन्य सभी वस्तुएँ ग्राहय नहीं है। जिससे आत्मा दुःखित हो तथा अन्य सज्जन दुःखी हो, ऐसे कृत्य को अपथ्य भोजन के समान मानकर छोड देना चाहिए। अन्यथा चोरी के साथ–साथ हिंसा पाप का भी भार आपके सिर आ जायेगा। पुरुषार्थ सिद्धि उपाय ग्रन्थ मे कहा भी गया है कि

'अर्थानाम यः ऐते प्राणा एते बहिश्चराः पुंसाम्,
हरति सः तस्य प्राणान् योयस्य जनो हरत्यर्थान'

अर्थात् धन प्राणियों के बाह्य प्राण हैं। इसलिए जो मनुष्य पर के धन का हरण करता है वह उसके प्राणों का हरण करता है। चोरी करने वाला व्यक्ति बडा पापी होता है। क्योंकि वह पराई वस्तु की चाह में दूसरों (पर) के प्राणों की जरा भी परवाह नहीं करता है तथा सदा धन हडपने के कुविचार में लगा रहता हैं। शिक्षक, व्यापारी, डॉक्टर, वकील या अन्य कोई अधिकारी है, वे केवल धन के लोभ में ट्यूशन करते हैं, अधिक कीमत पर माल देते हैं, धनवान को देखकर कि यह धनवान है और ज्यादा बीमार रहेगा तो ज्यादा धन मिलेगा, इस प्रकार का विचार रखते है या सरकार के कार्यकलापों में जितना धन लगाना चाहिए या नहीं लगाया वरन् बचा लिया, तो ये सब कृत्य चोरी के अन्तर्गत ही आते हैं; जो पाप के कारण हैं। इसलिए मनुष्य को सदैव ईमानदारी पूर्वक कार्य करना चाहिए। ईमानदारी से पेट भरें, बेईमानी से पेटी नहीं भरे। गीता में तो यहाँ तक कहा है –

'भ्रियेत यावत् जठरं, तावत्स्वत्वं हि देहिनां,
अधिकोयोभि मन्यते सस्तेनो दण्ड मर्हति।'

जितना पेट भरने के लिए आवश्यक है, वही व्यक्ति का अपना है और उसे उतना ही संग्रह करने का अधिकार है, जो इससे अधिक संग्रह करता है वह चोर है, दण्ड का पात्र है। इसे ही भगवान महावीर ने कहा कि– आवश्यकता से अधिक संचय करना परिग्रह है,

पाप है यही चोरी है। मिंत्रों ! प्राणियों के वध करने में एक बार पाप होता है, वह तीव्र संक्लेश रूप में होता है, पर चोरी पाप दिल (हृदय) में प्रतिक्षण विचारों के रूप में चलता रहता है कि – कैसे लाना, क्या करना, कब करना, किसके यहाँ करना, कैसे करना आदि कुविचारों में उसका मन सदैव रंजायमान रहता है। इसलिए उसकी आत्मा खोटे विचार रूपी पाप के बोझ से लदती चली जाती हैं। इसीलिए भगवान महावीर स्वामी ने चोरी को बुरी आदत में रखा है। चोरी करने वाला व्यक्ति कई बार दण्डित होने के उपरान्त भी अपनी आदत को नहीं छोड पाता। यदि दबाव से भय से आदत कम भी हो जाएँ तो हेरा–फेरी करता ही रहता है। इसलिए इसे बुरी आदत में रखा है। व्यक्ति कई कारणों से चोरी करता है। उसके तीन प्रमुख कारण है – आदत, परिस्थिति और मजबूरी।

आदत : पारिवारिक संस्कार, कुमित्रो की संगति, आकांक्षा की पूर्ति के लिए आलसी अकर्मण्य व्यक्ति आदत के कारण प्रायः चोरी करता है।

परिस्थिति : घर में रोग की अधिकता, कन्याओं की अधिकता, दहेज समस्या, कर्ज का बोझ, सम्मान आकांक्षा के कारण व्यक्ति चोरी करता है।

मजबूरी : कदाचित् किसी का फोन या पत्र आ जाये कि इतना रुपया दे देना अन्यथा लडके का अपहरण या मौत . . .। तो प्राणों की चिन्ता से अथवा नौकरी एवं ठेकेदारी में बडे अधिकारी को यदि पैसा न दिया जाएँ तो आगे का काम नहीं चलेगा।

ऐसा सोच कर स्वयं चोरी करना और उसी धन से दूसरों को सन्तुष्ट करना यह मजबूरी वशात चोरी है। चोरी व्यसन इस भव में भय, अपमान, ईर्ष्या, जेल, प्रताडना आदि दुःखों को प्रदान करता है और पर भव में दरिद्रता, अन्न की अप्राप्ति एवं सर्प की योनि आदि दुर्गति की प्राप्ति होती है।

दिने सशङ्कितों याति न शेते निशि निर्भयम्।
चौर्य कर्म परो लोके नीचैरपि न निन्द्यते।।

अर्थात्– चोरी में तत्पर रहने वाला मनुष्य दिन में शंकित रहता हुआ चलता है और रात में अच्छी तरह सोता नहीं है। लोक में चोर नीच पुरुषों द्वारा भी निन्दनीय होता है।

रत्नाकर नाम का एक डाकू था। वह भी चोरी के कृत्य में लिप्त था। उसके चोरी करने का, पथिको को लूटने का एक ही उद्देश्य था–परिवार का भरण–पोषण करना।

परिवार के पोषण के लिए बेईमानी पूर्वक धनोपार्जन आवश्यक नहीं हैं। जैसे कि आम लोगों की धारणा है कि हम अपने लिए कुछ भी पाप नहीं करते, दूसरे के लिए पाप करते हैं। वह भी अपना कर्त्तव्य समझकर . . . कर्त्तव्य निर्वाह के लिए किया गया पाप, पाप नहीं है . . . कदाचित् पाप भी हो तो उस पाप का फल हमे नहीं मिलना है, क्योंकि हम अपने लिए पाप नहीं, वरन् परिवार वालों के लिए कर रहे हैं तो वे भी पाप के फल के भागी है। यही गलत धारण डाकू रत्नाकर के मन में भी थी।

एक दिवस उसी मार्ग से सन्तों का गुजरना हुआ . . . रत्नाकर उन साधुओं को देखकर कहता है – अरे सन्तों ! रख दो यहाँ पर जो कुछ भी सम्पदा तुम्हारे पास हो। सन्तों ने कहा–रत्नाकर हमारे पास दण्ड–कमण्डल के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है . . . तो दण्ड कमण्डल को ही यहाँ रख दो। सन्त कहने लगे–रत्नाकर ! हम दण्ड–कमण्डल को तो रख देंगे लेकिन तू ये बता कि पथिकों को क्यों लूटता है ? रत्नाकर ने कहा–परिवार को चलाने के लिए। तो क्या तेरे परिवार वाले इस पाप कृत्य में शामिल है ? तेरे पास आने वाले सुख–दु:ख को सहने के लिए तैयार है। सन्तो ने कहा–तू जा और अपने माता–पिता, पत्नी–पुत्र से पूछकर आ कि वे तेरे साथ सुख–दु:ख सहने के लिए तैयार है या नही ? रत्नाकर ने कहा– बडे चालाक हो तुम ! मैं परिवार से पूछने घर जाऊँ और तुम नौ दो ग्यारह हो जाओंगे– वाह साधुजी वाह ! साधु ने कहा–रत्नाकर तुम जाओ और पूछ कर आओ जब तक तुम लौटकर नहीं आओगे तब तक हम कहीं भी नहीं जायेंगे। रत्नाकर साधुओं को वृक्षों से बाँध देता है और परिवार वालों से पूछने चल पड़ता है। घर पहुँच कर सबसे पहले पिता से पूछता है कि पिताश्री ! मेरे द्वारा कमाये चोरी के धन का माल आप खाते है, क्या जब इसके पाप के फलस्वरूप दुर्गति में मार पडेगी तब आप मेरे सहायक होंगे ? पिताश्री कहने लगते हैं बेटा ! पुत्र का कर्त्तव्य पिता की रक्षा करना है तू अपने कर्त्तव्य का पालनकर . . . चाहे जैसे कर, पर मैं तुम्हारे साथ दुर्गति की मार खाने को तैयार नहीं हूँ। पत्नी से पूछता है तो पत्नी भी यही कहती है कि – तुम मुझे ब्याह कर लाये हो, तुम्हारा कर्त्तव्य है कि मेरा पालन–पोषण करो। मैं तुम्हारे पाप में सहयोगी क्यो बनूं ? पुत्र से पूछता है तो पुत्र भी यही जवाब देता है कि – पिताश्री ! पुत्र का पालन–पोषण आपके हाथ में है, चाहे आप जैसे भी मुझे पाले। रत्नाकर परिवार

के सभी सदस्यों की वार्ता सुनकर विस्मय से भर गया। वह सोचने लगा, अहो ! ये परिवार के सदस्य माल खाने को तैयार है, मेरे साथ मार खाने को कोई भी तैयार नहीं है। धिक्कार है मेरी जिन्दगी को। दूसरे के लिए मैं अन्याय करूं, पाप करूँ, चोरी करूँ यह नहीं हो सकता अब मैं पेट भरने के लिए ही कार्य करूँगा। पेटी भरने के लिए पाप नहीं करूँगा और वह सीधा सन्त चरणों में पहुँचता है। क्षमा माँगकर पापों के प्रक्षालन के लिए सन्यास को स्वीकार कर लेता है।

कहने का तात्पर्य इतना ही है कि– चोरी द्वारा उपार्जित धन से गुलछर्रे उडाने की अपेक्षा दीर्घकाल तक दरिद्र रहना अच्छा है। विषमिश्रित दूध पीने की अपेक्षा छाछ पीकर जीवन गुजारना श्रेष्ठ है। चोरी करके शान्ति से जीने की आकांक्षा करना, अग्नि से ठण्डक पाने की व्यर्थ कल्पना है। आचार्य शुभ चन्द्र देव ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में लिखा है–

"गुणा गौणत्व मायान्ति याति विद्या विडम्बनाम्
चौर्येणाऽकीर्तयः पुंसाशिरंस्याधत्ते पदम्।।"

चोरी करने से मनुष्य के गुण गौण हो जाते है उसकी विद्या निकम्मी हो जाती है और अपकीर्ति उस पुरुष के सिर पर अपना पैर जमा लेती है अर्थात् धर्म–कर्म–पूजा–पाठ–दया–दान सभी खो जाता है, महत्वहीन हो जाता है। वह पढ़ा–लिखा भी पागल–मूर्ख की श्रेणी में आ जाता है। विश्वास–घाती होने से बदनामी भी चारों तरफ से घेर लेती है और कहीं इस कृत्य में निर्लज्जता का, निर्भयता का आगमन हो जाता है तो वह इंसान पाँचों पापों से युक्त निर्दयी, क्रूर इन्सान के रूप में परिणत हो जाता है। इसलिए परमात्मदर्शन के इच्छुक मनुष्य को चोरी के धन से मौज उडाने की अपेक्षा मेहनत की रोटी से जीना सीखना चाहिए अन्यथा जिस प्रकार अनुचित आहार से पेट, आलस्य से दिन, कर्कशा स्त्री से रात, मूर्ख पुत्र से कुल, झूठ बोलने से बात, कटु–भाषा से सम्बन्ध, चमचागिरी से नियत, अनियामितता से स्वास्थ्य खराब हो जाता है, उसी प्रकार चोरी से मनुष्य का वर्तमान भव एवं आगामी भव खराब हो जाता है।

इस लिए चोरी का धन मोरी में जाने के पूर्व भावों को शुद्ध कर ईमानदारीपूर्वक जीवन जीने का प्रयत्न करें। ताकि बाह्य पदार्थ की आकांक्षा का अन्त हो सके।

"परस्त्री सेवन"

मन यौवन धन हरती है और मरे नर्क ले जाती है।
दृष्टि विष सम महा विषैली कीर्ति नष्ट करवाती है।।
कुल कलंकित करती है परस्त्री इसका नाम हैं।
रावण पर स्त्री के कारण हुआ अति बदनाम है ।।12।।

अर्थ :

मन यौवन धन हरण करने वाली कीर्ति नष्ट करवाने वाली कुल कलंकित करने वाली दृष्टि विष सर्प के समान महा विषैली मरणोपरान्त नरको के दुख प्रदान कराने वाली स्त्री का नाम पराई स्त्री है ऐसी पराई स्त्री से सम्बन्ध बनाने के कारण रावण इस संसार में बदनाम हुआ।

विवेक विकासिनी विवेचन :

ऐसा कहा है – **'यस्य नार्यस्तु पूज्यन्ते तत्र रमन्ते देवता'**। जहॉ नारियों की पूजा होती है, वहॉ देवता निवास करते हैं और यदि इसके विपरीत हो तो – 'यत्र नार्यस्तु भोग्यन्ते तत्र रमन्ते राक्षसा'। जहॉ नारियों का भोग होता है वहॉ राक्षस निवास करते हैं। यह यथार्थ सत्य है कि 'नारी कोई भोग का खिलौना नहीं, एक आदर्श है।' अगर नारी पुत्री है तो कन्या रत्न के समान हैं, अगर नारी स्वस्त्री है तो धर्म–पत्नी के रूप में है, देवी के समान है एवं पाप मार्ग से बचाने वाली एक गुरू के समान हैं। अगर वह परस्त्री है तो साक्षात् राक्षसी है, विष बेल है, पाप मार्ग पर स्वयं जाती है और दूसरों को ले जाने का कारण होती है। इसलिए परस्त्री सेवन को महानीच कर्म कहा है। यद्यपि परस्त्री हो या स्वस्त्री दोनों स्त्री की अपेक्षा समान है लेकिन गुणों में जमीन–आसमान का अन्तर है एक भोग्य, एक त्याज्य हैं। जैसे शराब और पानी। पीने (पेय) की अपेक्षा दोनों एक है, पर गुणों की अपेक्षा से दोनों में अंतर है। व्यक्ति पानी और पत्नी का भोग कर सकता है। पर शराब और परस्त्री का भोग किसी भी परिस्थिति में नहीं कर सकता है, न ही करना चाहिए।

परस्त्री की आकांक्षा मनुष्य को अन्धा बना देती है, उसे न रात दिखता है न दिन। वह

छिपकली की भाँति स्त्री रूप कीट को पकड़ने में सदैव तत्पर रहता है। वह छल से, बल से, धन से कैसे भी परस्त्री को पाना चाहता है, उसी का चिन्तन करता है, खाना नहीं खाता, घंटो प्रतिक्षा करता है, योग्यायोग्य के विचार से रहित हो जाता है, न इज्जत देखता है, न पद। बस परस्त्री की चाह में एक अन्धे की भाँति एक अनजान राह में दौड़ पड़ता है और किसी गड्डे में जा पड़ता है। उसका जीवन रावण के समान हो जाता है। त्रिखण्डाधिपतिरावण 16000 (सोलह हजार) देवांगनाओं के समान सुन्दर स्त्रियों का स्वामी था। पर वह भी परस्त्री की लालसा के कारण ही अपने खानदान सहित पतन को प्राप्त हुआ। आज तक वह इस बुरे-कृत्य के कारण तिरस्कार का पात्र है। इसलिए आचार्यो ने कहा है –

सन्मार्गस्खलनं विवेकदलनं प्रज्ञालतोन्मूलनं
गाम्भीर्योन्मथनं स्वकायदमनं नीचत्वसम्पादन्
सद्ध्यानावरणं स्वधर्महरणं पापप्रपापूरणम्
धिक् कष्टं परदारवीक्षण मपिक्लेशावहंस्यान नृणाम्

अर्थात्– समीचीन मार्ग से स्खलित होना, विवेक का नष्ट होना, बुद्धि-रूपी लता का उखाडा जाना गम्भीरता का नाश, अपने शरीर का दमन, नीचत्व की प्राप्ति, सम्यक् ध्यान का आवरण, अपने धर्म का हरण और पाप रूपी प्याऊ का भरा जाना ये सब दोष परस्त्री लम्पट को प्राप्त होते हैं। बडे दुःख की बात है कि परस्त्री का दर्शन भी मनुष्य के लिए क्लेशदायक होता है। अतः इस व्यसन को धिक्कार हो।

धर्म का आश्रय लेने वाले मनुष्य को स्वभाव से ही परस्त्री से विरक्त रहना चाहिए। विकारों पर नियन्त्रण रखना चाहिए। इतना ही सोचना चाहिए कि जिस प्रकार ईंधन से कभी अग्नि तृप्त नहीं होती है, नदियों के पानी से समुद्र कभी तृप्त नहीं होता। उसी प्रकार काम-सेवन से यह मन भी कभी तृप्त नहीं होता। जिससे तृप्ति की कोई आशा नहीं है, मैं उसे क्यों स्वीकार करूँ ? क्यों मैं स्वाधीन जिन्दगी को पराधीन बनाऊँ ? क्यों मैं काम की ज्वाला में शरीर की आहूति दूँ ? क्यों मैं जीवन धन, यश, गौरव एवं धर्म को नष्ट करूँ ? वासना की आकांक्षा पुरुष को राम नहीं रावण बनाती है, कृष्ण नहीं कंस बनाती है, महावीर नहीं मारीचि बनाती है तथा परस्त्री को सीता नहीं सूपर्णखा बनाती है, मन्दोदरी

नहीं मन्थरा बनाती है। इसलिए मैं क्यों अपने जीवन को बर्बाद करूँ ? अगर वह इस प्रकार का विचार करता है तो परस्त्री से विरक्त रहता है तथा नारी को पुरुष से विरक्ति रहती है।

भगवान महावीर स्वामी कहते है कि– जीवन को आनन्दित बनाने के लिए समस्त निन्दित कार्यों से दूर रहना चाहिए। माता–पिता, बन्धुजनों की सम्मति के बिना किसी स्त्री से सम्बन्ध बनाना निन्दित कार्य हैं। जिस मनुष्य ने अग्नि मन्त्र या परिवारजनों को साक्षी बनाकर कन्या को स्त्री के रूप में स्वीकार किया है, वही स्त्री धर्मपत्नी है, वही भोग्य है। बाकी अन्य स्त्री माता बहन एवं पुत्री के समान है। उनके साथ धोखे से भी सम्बन्ध बनाना महापापकारी एवं अनर्थकारी है। रावण ने परस्त्री को चाहा तो उसका सारा जीवन उजड गया। कीचक ने द्रोपदी को चाहा, दण्ड ही भुगतना पडा। अतः मनुष्य को पाप के भय से सम्पूर्ण परस्त्रियों से विरक्त हो जाना चाहिए और पाप से मुक्त होने के लिए स्वस्त्री से भी विरक्त होना चाहिए, क्योंकि स्त्रियों के शरीर में गन्दगी के कारण अनेक सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति होती रहती है। उसका भी घात होता है। ग्रन्थों मे कहा भी गया है –

"मेहुण सण्णा रूढ़ों मारईणव लक्ख सुहुम जीवाई
इय जिणवरेहिं भणियं बज्संतरणिग्गंथरूवेहिं।"

काम–वेदना से पीडित होकर एक बार भोग करने से नौ लाख जीवों की हत्या होती है। ऐसा केवल ज्ञानी परमात्मा ने कहा है। एक भोग नौ लाख जीवों की मौत है। कौन अहिंसक इस पाप को बढाना चाहेगा ? घटाना अवश्य चाहेगा, घटाने वाला ही विवेकी है, विद्वान है। अगर स्वस्त्री का त्याग न कर सके तो परस्त्री के त्याग का संकल्प अवश्य धारे ताकि वर्तमान दुःख एवं खोटी गति से बच सके अन्यथा सर्पिणी के समान परस्त्री का आलिंगन मौत को ही प्रदान करेगा। इसलिए कहा है

मन यौवन धन हरती है और मरे नर्क ले जाती है
दृष्टि विषसम महा विषैली कीर्ति नष्ट करवाती है।

स्त्री सर्वप्रथम मन का हरण करती है। जिस पुरुष का मन छिन जाता है उसका मन फिर अन्य किसी कार्य में नहीं लगता है, उसी का चाहना करता है। अगर उसकी प्राप्ति हो जाती है तो वह यौवन की शक्ति को क्षीण कर देती है और वह स्त्री का गुलाम हो

जाता है। वह भय के साथ कुकृत्य करता है, कदाचित पकड़ में आ जाता है तो पाप का घडा फूट जाता है और वह संसार में घोर तिरस्कार का पात्र होता है। वह परिवार व समाज की दृष्टि में तिरस्कृत रूप में देखा जाता है। जिस प्रकार दृष्टिविष को धारण करने वाला सर्प किसी को देख लेता है वह तत्क्षण मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। उसी प्रकार पराई–स्त्री के साथ जो एक बार वासनात्मक सम्पर्क साध लेता है, वह जीते जी मुर्दे के समान हो जाता है। परस्त्री बुद्धि को विकृत करती है, धर्मभाव एवं सदाचार को दूर करती हैं। स्त्री राग–द्वेष, मोह को उत्पन्न करती है, सुन्दर चारित्र रूपी रत्न का हरण कर लेती है, सम्मान रूपी ऊँचे पर्वत को भेद देती है, कुल को कलंकित करने वाली है, कीर्ति–रूपी लता को छेदने वाली है, समस्त गुणों को नष्ट करती है तथा परस्त्री गामी को अनेक विपत्तियाँ आकर घेर लेती है परमात्मा होने के इच्छुक को पराई स्त्री का नियमतः त्याग कर देना चाहिए।

कहा भी गया है–

'पर नारी पैनी छुरी तीन ठोर से खाय
मन हरे धन हरे मरे नर्क ले जाय।'

स्कूल कॉलेजों में पढने वाले युवक–युवतियों को विशेष रूप से अपने शील की सुरक्षा करनी चाहिए। आपस में वासनात्मक प्रेम सम्बन्ध नहीं बनाना चाहिए। ऐसी पत्र–पत्रिकाएँ नहीं पढनी चाहिए जो अश्लील हो। ऐसी पिक्चर आदि नहीं देखनी चाहिए जो कामोत्तेजक हो, न ही ऐसे गीत गाने चाहिए जो चरित्र पतन का कारण हो। शील रूपी रत्न को सुरक्षित रखना चाहिए। लडके अपने आचरण को सुदर्शन, वारिषेण, लक्ष्मण जैसा निष्कलंकित बनाएँ। लड़कियाँ अपने जीवन को सीता, सोमा, अंजना चन्दना जैसा शीलप्रभा से युक्त जीवन बनाये। कितनी भी विपत्ति आये, प्रलोभन आये, प्रेमजताएँ लेकिन अपने शील को कभी नहीं बेचना चाहिए। एक क्षण का सुखाभास सारे जीवन को बर्बाद कर देता है। इससे माता–पिता एवं खानदान की इज्जत भी समाप्त होती है। समाज में और आस–पड़ौस में गलत सम्बन्ध की अफवाहें फैलती है तो कन्या को बोझ के रूप में आपको घर में ही रखना पड़ता है। शारीरिक सम्बन्ध के साथ वाचनिक सम्बन्ध भी वासनात्मक होते है। बातचीत तो करे लेकिन नैतिक व्यवहारिक, धार्मिक या सामान्य।

ऐसी कोई भी वार्ता न करें जिससे वासनात्मक प्रेम सम्बन्ध में प्रगाढ़ता आयें। न ही लव लेटर (प्रेम–पत्र) लिखें, न ही फोटो रखे ताकि आपका जीवन सुन्दर और व्यवस्थित हो सकें। अन्यथा

कुल कलंकित करती है परस्त्री इसका नाम है
रावण पर स्त्री के कारण हुआ अति बदनाम है

पुरूष या लडका कन्या से संपर्क साधकर अपनी जीवन शैली शिक्षा व्यवसाय को बर्बाद करता है और कही अवैध विवाह कर ले आता है तो कुल भी कलंकित हो जाता है कन्या इस पथ पर चल पडे तो सारा परिवार कलहपूर्ण वातावरण में जीने लगता है माता–पिता के प्रति भी संशय पेदा होने लगता है ऐसी कामुक कन्या का घर मे रहना ही माता–पिता के कुल को भी कलंकित करने वाली होती है ससुराल पक्ष में भी निन्दीत रहती है फिर वह अपने आने वाली संतति को इस प्रकार का व्यभिचार पूर्ण कृत्य करने से न ही रोक सकती है रावणमात्र सीता को लाने के कारण आज तक बदनाम है अगर कुकृत्य कर लेता तो निन्दित तो होता ही दुर्गति की आयु भी बढ जाती फिर इसके सुधार का द्वारभी बंद हो जाता इसलिए परस्त्री सेवन व्यसन से बचें।

पर स्त्री सेवन त्याग का अर्थ है कि पुरुष ही स्त्री से नहीं, अपितु स्त्री भी पुरुष से बचे, पर पुरुष का त्याग करें, अपने शील–रूपी रत्न को कभी विनष्ट न करें।

'परस्त्री सेवन' अथवा **'पर पुरुषसेवन'** दुर्गुण एक नैतिक अपराध है, सामाजिक दूषण है, धार्मिक दृष्टि से व्यभिचार है, राजनैतिक दृष्टि से अपराध है इससे बचें। क्षणिक सम्बन्ध के सुख में फँसकर न भागे, न कोर्ट जाएँ, न आत्महत्या करे इच्छा रोके, सन्तोष करे एवं पापों से बचें ताकि जीवन एक दिव्य ओज को लेकर समाज के समक्ष उपस्थित हो सकें।

बन्धुओं ! कहने का तात्पर्य यह है कि हमारे अन्दर एक भी व्यसन आता है तो वह अपने सभी छः साथियों को बुला लाता है और वे हमारे सत्य, धर्म, संयम, शील, सज्जनता, चरित्र और लज्जा आदि समस्त गुणों को बात ही बात में नष्ट कर देते हैं। इसीलिए व्यसन किसी भी परिस्थिति में आचरणीय नहीं है। जो मनुष्य धर्म को धारण करना चाहता हो, सम्यक् दर्शन पाना चाहता हो, उसे सर्वप्रथम व्यसनों का त्याग करना चाहिए और जैनत्व का आचरण प्रगट कर सम्यक् पथ पर अपने कदम बढाकर जीवन सार्थक करना चाहिए।

"शहद"

थूक, लार, मल, मूत्र आदि से निंद्य शहद है बन जाता।
रसना का लौलुपी मानव सुख से इसको है खाता।।
द्वादश ग्राम दहन बराबर वे ही पाप कमाते है।
जान बूझकर जो मधुरस को बड़े चाव से खाते है।।13।।

अर्थ :

थूक, लार, मल–मूत्र आदि घृणित अशुद्ध पदार्थ से निंद्यनीय शहद बनता है। रसनाइन्द्रिय का लौलुपी मनुष्य ही इसे सुख से खाता है। इस संसार में जो व्यक्ति जान बूझकर चाव से शहद खाते है वह बारह ग्राम के जलाने के बराबर पाप कमाते है। ऐसा जैन शास्त्रों में कहा है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

जैनत्व का बोध जिसे हो जाता है। वह घृणित अभक्ष्य पदार्थो का किंचित भी सेवन नहीं करता है। वैचारिक शुद्धि का आगमन प्रायः तभी होता है जब हमारा भोजन शुद्ध हो। हमारे खानपान की शुद्धि ही खानदान की शुद्धि को दर्शाते हैं। इसलिए जैनाचार्यो ने व्यसनमुक्ति की प्रेरणा ही नहीं, सहज रूप से अभक्ष्य शहद का भी त्याग कराया है। अभक्ष्य का अर्थ है – जो भक्षण करने योग्य न हो। उन अभक्ष्यों में महा अभक्ष्य शहद को माना है; क्योंकि हजारों मधु मुक्खियों के मकान को उजाड कर थोड़ी सी शहद प्राप्त की जाती है। मधुमक्खी तो अपने रहने के लिए छत्ता बनाती है। सारे दिन इधर–उधर भ्रमण करके फूलों से रस चूस–चूस कर लाती है और उस चुसे हुए रस को अपने मुख से उगलती है।

"थूक लार मल-मूत्र आदि से निंद्य शहद है बन जाता"

और मधु मक्खी अपने थूक, लार, वमन, मल–मूत्र आदि को वहीं छोडती है। इन्हीं छत्तों में हजारो अन्य मधुमक्खियाँ गन्दगी से समुर्च्छन जीवन के रूप में सफदे अण्ड़ों की भाँति उत्पन्न होती है और रहती है। पर

"रसना का लौलुपी मानव सुख से इसको है खाता।"

पर रसना इन्द्रिय का लौलुपी मानव मधु मक्खियों के छत्तों के नीचे धुआँ करके इसे तोड़ते है और फिर मशीनों में या मोटे कपड़े में डालकर रस निकालते है। जिसमें सैकड़ों मक्खियाँ भी मरण को प्राप्त होती है। उसी से प्राप्त रस शहद के रूप में हमारे समक्ष आता है। यह महा निंद्य भी है तो पाप दायी भी है, दुर्गति दाता है। पता नहीं इंसान कैसे इसे

खाता है। अरे जरा सी मक्खी अगर भोजन में गिर जाती है तो मनुष्य उस भोजन को छोड़ देते है। पर लाखों मक्खियों के अण्डों से निकले रस को सहज चाटते है। बडा आश्चर्य है – इंसान खाद्य–पदार्थ को न खाकर मल को खाये। उस जैसा निपट मूर्ख संसार में दूसरा नहीं है। आचार्य वसुनन्दि ने कहा है कि –

लोगे विसुप्प सिद्धं बारह गामाइ जो दहई अदऊ।
तत्तों सो अहिय परो पाविट्ठी जो मदुं हणई।।

अर्थात् 12 गाँवों को जलाने में जो पाप है वही पाप मधु मक्खी के छत्ते तोड़ने में है; क्योकि अनेक जीवों का घर भी उजड़ता है और मृत्यु भी होती है। यह मधु मक्खी के रस में यूँ तो जीव नहीं दिखते पर असंख्य जीव भरे रहते है। जैसे कण्डे में धुँआ नहीं दिखता जलाने पर एक कण्डे में इतना धुँआ होता है कि पूरा घर धुँऐ से भर जाता है। उसी प्रकार एक बूँद शहद में ही असंख्य जीव है। उसे खाने से तीव्रपापोपार्जन ही होता है। अगर औषध के रूप में भी मधुमक्खी का रस (शहद) लेने का अवसर आये तो भव्य जैन को अहिंसक बनने के लिए नियमतः त्यागकर देना चाहिए। आचार्य अमित गति ने श्रावकाचार ग्रन्थ में लिखा है –

योऽति नाम मधुमेषजेच्छया सोऽपि याति लघु दुखमुल्वणम्।
किं न नाशयति जीवितेच्छया भीक्षतं झटिति जीवितं विषेम्।।

जो मनुष्य औषधी के नाम पर भी जरा सा शहद खाता है। वह परलोक में घोर दुःख पाता है। क्या जीवन के लिए खाया गया जहर जीवन को नष्ट नहीं करता ? अवश्य ही करता है। इसलिए जिसे जैनत्व का बोध हो, आत्म–कल्याण की भावना हो, उन्हें शहद का अवश्य त्याग करना चाहिए। इसके साथ अनेक अभक्ष्य पदार्थ है। पॉच उदम्बर फल आदि अन्य भी अभक्ष्य पदार्थ है। सभी त्याग करना चाहिए। जैनाचार्यो ने श्रावका चार के विस्तार के लिए अनेक ग्रन्थ लिखे है। उन्हे अध्ययन कर जीवन में कुलाचार का आगमन अवश्य करें। अन्यथा पुण्योदय से मिली पर्याय पाप करते–करते ही समाप्त हो जायेगी। आचार्यों ने तो कुलाचार का पालन करने वाले ग्रहस्थ को ऋषि तुल्य माना है। कहा है–

यो गृही नित्यं मधुक्तं परेषां कार्य साधने
स्वयं चाचार सम्पन्नः पूतात्मासः ऋषेरपि

जो ग्रहस्थ दूसरे लोगों को कर्त्तव्य पालन में सहायता देता है और स्वयं भी धार्मिक जीवन जीता है वह ऋषियों से भी अधिक पवित्र है। ग्रहस्थ जीवन पाप रूप है, पर विवेक पूर्वक किया गया कार्य पुण्य रूप में परिणत कर देता है। अतः जैन ग्रहस्थ को अष्ट मूल

गुणों का पालन अवश्य ही करना चाहिए; क्योंकि मनुष्य जन्म से नहीं कर्म से महान् बनता है।

जैनेन्द्रं यो मतं लब्ध्वा नियमे तस्य तिष्ठति।
अशेषं किल्विषंदग्ध्वा सुस्थान सोऽधिगच्छति।।

जो जैन मत को प्राप्त कर उसके नियम में स्थित रहता है। वह समस्त पाप को जलाकर उत्तम स्थान को प्राप्त होता है। अतः जैनत्व को प्रगट करे। इस जैन कुल में उत्पन्न होने का गर्व न करके जैनत्व प्रगट करे। अष्ट मूल गुणों को दृढ़ता से धारें। वे निम्न हैं :

(i) 3 मकार त्याग (ii) 5 उदम्बर फल त्याग (iii) प्रतिदिन देव दर्शन (iv) रात्रि–भोजन त्याग (v) धुम्रपान त्याग (vi) अण्डा मिश्रित खाद्य पदार्थ त्याग (vii) मांस मिश्रित खाद्य पदार्थ त्याग (viii) चमडा पहनने का त्याग अवश्य करें। शास्त्रों में अष्ट मूल गुण ग्रहण कराने का उद्‌देश्य मात्र पापों से बचाना है। अष्ट मूलगुण कोई सिद्धान्त नहीं, आचरण जागरण की एक प्रक्रिया है। जब–जब आचार्यों ने जिन पाप की बहुलता देखी तब तक ग्रहस्थ जीवन को पाप मुक्त करने के लिए उस नियम को अनिवार्यता प्रदान कर मूल गुणों में सम्मिलित कर लिया है।

आधुनिक काल को दृष्टि गोचर करते है तो मूल गुणों का रूप भिन्न होगा। ग्रहस्थ इसे स्वीकार करता है तो काफी पापों, से अवश्य ही बचेगा। देवदर्शन रात्रि भोजन त्याग, मकार त्याग तो प्रथम लक्षण है ही। जीवन दया पालन में मात्र साक्षात जीव रक्षा की भावना रहती है। मिलावट युक्त पदार्थ में अनजाने में हिंसा ज्यादा हो रही है। इसलिए धुम्रपान त्याग, अण्डामिश्रित खाद्य पदार्थ त्याग अर्थात् केक, पेस्ट्री, बिस्कुट, टॉफी आदि त्याग, मांस मिश्रित पदार्थ त्याग, आइस्क्रीम आचार गुटखा आदि अन्य मिलावटी वस्तु का होशपूर्वक त्याग अनिवार्य है। जैन को चमडा भीनही पहनना चाहिए। न ही इसमें रखे पदार्थ हींग, वर्क, कॉफी, घी आदि का सेवन करना चाहिए जितना भीतर विवेक का जागरण है वही धर्म है। इन सबके साथ ग्रहस्थ को 48 मिनट के बाद का मक्खन भी नहीं खाना चाहिए।

आज के युग में चारो तरफ भौतिकता का वातावरण निरन्तर विस्तार को प्राप्त हो रहा है। आचरण मात्र मन शुद्धि की तथा कथित भाषा तक सीमित है। आचरण के नाम पर शून्य है। समाज में उत्पन्न होने वाले विद्वान भी आधुनिक शिक्षा एवं वक्तव्य कला के बल पर ज्ञान की तो ऊँची उडान भर देते है पर चारित्र के नाम पर बौने होते जा रहे है। वे स्वयं ही अविरत सम्यक् दृष्टि के कोई व्रत नहीं होता, इस भावों को धारकर पाप कार्यों

में लिप्त है। शास्त्र की गद्दी पर तो बैठते है लेकिन जैनत्व का पूर्ण आचरण नहीं है। ऐसे विद्वान आलू, प्याज, गाजर, मूली आदि के साथ होटलों का भोजन–पानी, फैक्ट्रियों की बनी फास्ट–फूड, बिस्कुट आदि का सेवन बड़े चाव से करते है और कहते हैं। व्रती के त्याज्य है अव्रती के लिए नहीं। हम अविरत सम्यक् दृष्टि है। जैसे चोर जेल जाना नहीं चाहता पर जाना पडता है, उसी प्रकार हम ये सब सेवन करना नहीं चाहते, पर समाज में रहकर करना पड़ता है। भीतर से तो विरक्त है। ऐसे भावों को, शब्दों को प्रदर्शित करने वाले तथाकथित पण्डित स्वयं पाप मे डूबते है। आपको भी डूबाते है। उन्हें पूर्णतया यथा शक्ति आगमोक्त मर्यादा का कुलाचारणका पालन करते हुए उपदेश देना चाहिए। अभक्ष्य भक्षण से तो विरक्त होना ही चाहिए।

यद्यपि जैनत्व का मार्ग मोक्ष मार्ग है। मोक्ष मार्ग में अंतरंग भावों की प्रधानता है। फिर भी भोजन में भक्ष्याभक्ष्य का विवेक रखना ही चाहिए। अभक्ष्य भक्षण से बचाने पॉच अभक्ष्य बताये है – (1) त्रस हिंसा कारक (2) बहुस्थावर हिंसा कारक (3) अनिष्ट कारक (4) अनुपसेव्य कारक (5) प्रमाद कारक। ये पॉच अभक्ष्य है। ये पांचों अभक्ष्य पाप वशात् वर्जित है क्योंकि इससे स्वास्थ्य एवं साधना दोनों की हानि होती है।

1. ***त्रस हिंसा कारक :*** जिस पदार्थ के खाने से त्रस जीवों को घात होता है। उसे त्रस हिंसा कारक अभक्ष्य कहते है। जैसे–मद्य, मास, मधु, बड, पीपल, उमर, कटुमर, पाकर फल। अन्तर्मुहुर्त के बाद का मक्खन, बासी खमीर, जलेबी आदि सभी बाजारु खाद्य सामग्रियॉ – अचार, बडी, पापड़, बिस्कुट, सेवई आदि। प्रायः अमर्यादित वस्तु अभक्ष्य है।

2. ***बहुस्थावर हिंसा कारक :*** जिस प्रदार्थ के खाने से अनन्त स्थावर जीवों का घात होता है वह स्थावर हिंसा घात कारक है। जैसे–आलू, प्याज, गाजर, मूली शकरकन्द, तुच्छफल, अजान फल आदि हैं। क्योंकि इन्हें खाने के लिए सम्पूर्ण वृक्ष को उखाडाजाता है, जमीन खोदी जाती है, सूर्य की किरणों के न पहुँचने के कारण इसमें असंख्यात त्रस जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। खाने में भी ज्यादा आता है। तामसिक वृत्तियों का भी जन्म दाता है। अतः समस्त जमीकन्द भी त्याज्य है।

3. ***अनिष्ट कारक :*** जो पदार्थ भक्ष्य होने पर भी अपने लिए हितकर न हो वह अनिष्ट कारक है। बुखार पीडित को गरिष्ट भोजन, सर्दी वाले को ठण्डी तासीर की वस्तु; क्योंकि धर्म स्वास्थ्य, स्वाद एवं साधना तीनों का ख्याल रखता है। स्वाद की वस्तु भक्ष्य हो, स्वास्थ्य वर्धक हो ताकि साधना हो सके। इसी दृष्टि से बीमारी को दूर करने समस्त अपथ्य को सहज ही छोडना चाहिए ताकि स्वास्थ्य ठीक हो, साधना हो सके।

4. ***अनुपसेव्य :*** जो पदार्थ सेवन करने योग्य ही न हो, वे सभी अनुपसेव्य है। मल–मूत्र

लार आदि। आजकल कुछ लोगों को मूत्र पीते देखकर रोग मुक्ति के लिए, कुछ लोग मूत्र का सेवन करने लगे हैं जो अनुचित है। जैनत्व का बोध जिसे हो जाता है वह किसी भी हालत में इसका सेवन नहीं करता है।

5. ***प्रमाद कारक :*** जिस पदार्थ के खाने से काम विकार व प्रमाद बढता हो, नशा आता हो जैसे तम्बाकू, गुटका, बीडी–सिगरेट, स्मैक, अफीम, कोका कोला, फैन्टा थमसप, केक, पेस्ट्री आदि हिंसा मूलक, प्रमाद मूलक, स्वास्थ्य हानिकर है। अतः ये भी त्याज्य है। जहाँ अभक्ष्य की बात आती है–अक्सर प्रश्न उठता है कि दही में भी जीवाणु होते है यह अभक्ष्य है, त्रस हिंसाकारक है, तब जैन इसका सेवन क्यों करते हैं ? प्रश्न श्रेष्ठ तर्क संगत है पर जैन शास्त्रों के अनुसार जो दही जमाने की प्रक्रिया है उसमें 24 घण्टे तक जीवोत्पत्ति की सम्भावना नहीं है। क्योंकि किसी भी पदार्थ में समय के पूर्व जीवोत्पत्ति तभी होती है जब बीज रूप में कुछ जीव छोड दिये जाते हो। वर्तमान में दूध को दही रूप में परिणत करने के लिए पुराने दही (जामन) का प्रयोग किया जाता है जामन के प्रयोग का अर्थ है दूध में जीवाणुओ के अंश का मिलान। वे जीवाणु दूध में पहुँचते ही दुगुने–चौगुने रूप में फैल जाते है। तभी दही प्राय खट्टा थक्केदार जमता है वह दही साक्षात् त्रस जीवों से युक्त है। खाने योग्य नहीं है। पर गरम किये हुए दूध में जीरा मार्बल, नारियल की नरेटी, चॉदी का सिक्का, सूती कपडा, बादाम आदि से दही जमाया जाता है तो 24 घण्टे तक उसमें जीवोत्पत्ति नहीं होती है। वह मर्यादित है, शुद्ध खाने योग्य है। अहिंसक जीव जहाँ तक हो सके हिसा से सम्बन्धी सभी पदार्थो के सेवन से बचता है, बचाता है। घर में भी रहकर पाप कर्मोपार्जन से बचता है। यह अभक्ष्य त्याग का आचरण दया मूलक है और आचार्यों ने कहा है– **''दया विशुद्धों धम्मो''** दया से विशुद्ध धर्म है। इसलिए मात्र शहद को ही अभक्ष्य नही बल्कि जितने भी पदार्थ हमारी जानकारी में यथार्थ रूप से अभक्ष्य हिंसा कारक हो उसे छोड ही देना चाहिए। अन्यथा–

''द्वादश ग्राम दहन बराबर, वे ही पाप कमाते है,
जान बूझकर जो मधुरस को बड़े चाव से खाते हैं।''

यानी मात्र शहद सेवन करने से 12 गॉवों को जलाने के बराबर पाप लगता है। वह भी जानबूझ कर, जो मधु रस का सेवन करते है, अज्ञान अवस्था में किया पाप अल्पफलदायी है पर ज्ञात अवस्था में किया पाप दुर्गति का ही दाता है। जीवन को करुणावान बनाने, समस्त अभक्ष्य का त्याग करें। इसी में जीवन की शुद्धि है। जैनत्व का बोध है आचरण का जागरण है।

"धर्म"

जग से छुटकारा दिलवाता और देता अव्यय शिव शर्म।
जगत्पति का कहा हुआ जग में कहलाता सच्चा धर्म।।
करता निर्मल पावन मन है ऐसा कहते है मुनिजन।
धर्म ही प्यारी नौका जग में जिससे तिरते है भविजन।।14।।

अर्थ :

जिनेन्द्र भगवान द्वारा कहा गया धर्म ही सच्चा धर्म है। यह धर्म जग से छुटकारा दिलवाकर अविनाशी मोक्ष सुख प्रदान करता है। करुणाधारी मुनि राज कहते हैं कि यह धर्म भव्य जीवों को पार उतारने के लिए नौका के समान है तथा मन को निर्मल व पावन करने वाला हैं।

विवेक विकासिनी विवेचन :

जिस प्रकार गणित का विस्तार अंक पर आधारित है, वृक्ष का विस्तार जडों पर आधारित है, मकान का विस्तार नींव पर आधारित है, व्यापार का विस्तार आवश्यकता पर आधारित है, सम्बन्ध का विस्तार वाणी पर आधारित है; उसी प्रकार जीवन का विस्तार धर्म पर आधारित है। अब प्रश्न उठता है कि धर्म किसे कहे ?

"जग से छुटकारा दिलवाता और देता अव्यय शिव शर्म"

जो संसार के दुःखों से मुक्त कराये वह धर्म है। जो कर्मों से मुक्त कराये, जो स्वर्ग–मोक्ष का मार्ग बताये वह धर्म है; जो जीवन से पशुत्व को, वासनाओं को, काम–क्रोध–लोभ–मोह को, अहंकार–ममकार को विसर्जित कराये वह धर्म है। जो आत्मा को परमात्मा से मिला दे वह धर्म है। जो दुर्गति में पडती आत्मा को उठाये, पतन के रास्ते से बचाये उसका नाम है धर्म। इसलिए आचार्यों ने कहा है–**"इष्ट स्थानेधत्ते इति धर्मः"** जो इष्ट स्थान में पहुँचाये उसका नाम है धर्म। धर्मस्वयं के अनुशासन से संचालित होता है। यह जीवन का आधार है। मानव के अन्दर मानवता का प्रतिष्ठापित होना ही धर्म है। निष्ठापूर्वक कर्त्तव्यों का निर्वाह ही धर्म है। धर्म विकारों को शान्त करता है। जीवन का निर्माण करता है। धर्म शान्ति का अनुपम झरना है। यद्यपि धर्म शब्द बहुत छोटा है पर बड़ा महत्वपूर्ण है। धर्म के बिना जीवन कभी सुखी नहीं रह सकता। धर्म से ही शक्ति का आगमन होता है। धर्म की उपेक्षा स्वयं की उपेक्षा है। धर्म तो जीवन की

धड़कन है। धड़कन का बन्द होना मृत्यु की निशानी है। धर्म का मिटना दुराचारी की जिन्दगानी है। धर्म जीवन जीने की सम्यक् कला है। धर्म आध्यात्मिक होता है। धर्म सम्प्रदाय की सडांध नहीं साहिष्णुता की सुगन्ध है। धर्म रूढ़ियों में, रीतिरिवाजों में, मूढ़ मान्यताओं में नहीं हैं। इन्हें धर्म समझना भूल है। यह समयानुसार ही समय की बरसात से उपजेवृक्ष पौधे है। परिस्थितियों से स्वीकारे कृत्य है। सत्य नहीं। धर्म न प्राचीन है न अर्वाचीन है धर्म तो समीचीन है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र ने कहा–

"देशयामी समीचीनं धर्म कर्मनिवर्हणम्
संसार दुखतः सत्वान् यो धरतित्युत्तमे सुखे।"

मैं समीचीन धर्म कहूँगा अर्थात् जो कर्मों का विनाश करे वही सच्चा धर्म है। धर्म कहने मात्र से काम नहीं चलता। समीचीन धर्म कहने से काम चलता है। संसार में अनेक धर्म है। यद्यपि वह धर्म नहीं सम्प्रदाय हैं; क्योंकि धर्म परस्पर में प्रेम पैदा करता है। सम्प्रदाय उन्माद पैदा करता है। इसलिए जैनियों ने धर्म को स्वीकारा है और कहा–

"जगत्पत्ति का कहा हुआ जग में कहलता सच्चा धर्म"

जगत्पति अर्थात् परमात्मा–जिनेन्द्र–**स्वकीय इन्द्रियाणि जयति इति जिनः।** जो स्वयं की इन्द्रियों को जीते वह जिन है और **जिनेन्द्र उपासकः इति जैनः**। जो उसी जिनेन्द्र परमात्मा का उपासक है वह जैन है। वह जैन भी धर्म को स्वीकारता है। जिसे जैन धर्म कहा अर्थात् "**केवली पण्णत्तो धम्मो लोगुत्तमा**" केवली प्रणीत धर्म ही उत्तम है। सम्प्रदायातीत है। जहॉ अहिंसा है वही धर्म है। यद्यपि धर्म विभिन्न रूपों में विभक्त है। कर्त्तव्य भी धर्म है, त्याग भी धर्म है, सैनिक देश की सेवा में तैनात है यह भी उसका धर्म है। किसान खेती कर रहा है वह भी उसका धर्म है। जहॉ ईमानदारीपूर्वक श्रेष्ठ कार्य है वह भी धर्म है। पर यह सभी व्यवहारिक धर्म है। आत्मा से आध्यात्म से इसका सम्बन्ध कम है। समाज से सम्बन्ध ज्यादा है। शास्त्रों में आध्यात्मिक धर्म के बारे में कहा है–**दया विशुद्धो धम्मो** जहॉ दया–मैत्री–करुणा रक्षा की भावना है वही धर्म है। **दंसणमूलो धम्मो**–देव–शास्त्र–गुरु के प्रति निश्चल आस्था है, वही धर्म है; क्योंकि दर्शन मोक्ष का मूल है। मूल ही धर्म होता है। **चारित्रं खलु धम्मों**–चारित्र ही धर्म है, बिना चारित्र के जीवन किसी भी रूप में पवित्र नहीं हो सकता है। जब अन्तस चेतना में धर्म का आगमन होता है तब जीवन में नियम से सदाचरण के फूल खिलते है। वासनायें स्वतः ही विसर्जित होने लगती है। सदाचरण के बीज से ही वास्तविक जीवन का जन्म होता है। सदाचरण से धर्मानुभूति होती है। जीवन का विकास होता है। सदाचरण तो आधार है, धर्म शिखर है। सदाचार तो जड़ है, धर्म वृक्ष है। सदाचरण कारण है–धर्म कार्य है। धर्म

नितान्त व्यक्तिगत होता है। सदाचरण परिधि है तो धर्म केन्द्र है। जहाँ चरित्र है वहाँ द्वन्द, क्लेश, उलझनें, अशान्ति नहीं टिक सकती है। धर्म आत्मा में मैत्री और प्रेम का विकास करता है। जिन्दगी में बसी नफरत और घृणा का विनाश करता है। धर्म आत्मा का रूपान्तरण करता है। धर्म न बाजार में मिलता है, न पुस्तकें में मिलता है, न मन्दिरों में मिलता है, न तीर्थ में मिलता है, न दान–पूजा–व्रत, उपवास करने से मिलता है। ये सब धर्म प्राप्ति के साधन है। ये भी निश्चित है। साधन को स्वीकारे बिना साध्य की प्राप्ति भी नहीं होती है। पर जब आत्मा स्वयं पर श्रद्धान करती है, आचरण में परिवर्तन लाती है, इष्ट के प्रति समर्पित होती है तब सहज धर्म का आगमन होता है। धर्म मलहम नही जो ऊपर से लगाया जाये धर्म तो टॉनिक है जिसे पीना पडता है और टॉनिक मनुष्य को नई स्फूर्ति प्रदान करता है धर्म जीवन का रूपान्तरण करता है।

इसलिए आचार्यों ने भी दो प्रकार का धर्म कहा है–व्यवहार धर्म व निश्चय् धर्म। व्यवहार धर्म कृत्रिम है। सम्यक् सहित या रहित हो। सभी में जाग्रत हो सकता है। पर निश्चय धर्म अन्तरंग की शुद्ध परिणति है जो सम्यक्त्व से युक्त रहने पर ही होती है। व्यवहार धर्म ग्रहस्थों के लिए उपादेय है जिसके जीवन में धर्म का आगमन हो जाता है उसके व्यवहार में पवित्रता, विचारों से सरलता, स्वभाव में विनम्रता, हृदय में उदारता का आगमन होता है। धर्म ऊपर से थोपी जाने वाली वस्तु नहीं अन्तस की निर्मलता से उद्भूत सहज उपलब्धि है। इसलिए कहा है–"**वत्थु सहावो धम्मों**" वस्तु का स्वभाव ही धर्म है। जैसे अग्नि का स्वभाव उष्ण है, पानी का स्वभाव शीतल है। अगर अग्नि किसी अन्य वस्तु में प्रवेश भी कर जायेंगी तो अपने स्वभाव को नहीं छोडेगी। अग्नि अवश्य ही जलायेगी और पानी गर्म भी होगा तो प्यास बुझायेगा, अग्नि को समाप्त ही करेगा लेकिन अग्नि अगर विभाव भाव को स्वीकार करती है तो उसे अनेक कष्टों का सामना करना पडता है। ठुकना, पिटना, प्रताडित होना पडता है। उसी प्रकार आत्मा का स्वभाव भी ज्ञानदर्शन–चारित्रमय है। विभाव परिणति में परिणत होने के कारण आत्मा गति गत्यान्तर में भटकती है, ठुकती है, पिटती है, दुःखित होती है। संसार का सृजन करती है पर वही अपने स्वभाव में ठहर जाती है तो स्वयं को पा लेती है।

आत्मा का स्वभाव तो स्वयं को जानना, देखना है–वस्तु को पकड़ना नहीं। धर्म भी यही कहता है। स्वभाव को जानना ही धर्म है। यूँ भी धर्म को दो भागों में विभाजित किया जा सकता हैं एक सामाजिक धर्म दूसरा व्यक्तिगत धर्म। दोनों धर्मों का पालन करना प्रत्येक इन्सान का धर्म हैं समाज ऊँच नीच को मानता है वर्गगत भेंद करता हैं छुआ–छूत को स्वीकारता हैं तो बाहर से कितना भी नकारात्मक ढिठोरा पीटा जाय

मानव–मानव एक हैं भेद करना धर्म नहीं सिखाता फिर भी अन्तरंग से सामाजिक मर्यादा का ख्याल रखते हुए हमें यह सब स्वीकारना पडेगा क्योंकि हम समाज द्वारा शासित है हम सब की रक्षा समाज करता हैं सामाजिक मर्यादा में संस्कार संस्कृति सुरक्षित रहती हैं उसकी मौलिकता का लोप नहीं होता है इसलिए इन सामाजिक नियमों को तोड़ा नहीं जा सकता इन्हें परिस्थियॉनुसार मोड़ा अवश्य ही जा सकता हैं। इस सामाजिक धर्म के बाद व्यक्तिगत धर्म आता है जो दया, करुणा, ममता, सोहार्द, समन्वय, सत्य, प्रेम, अहिंसा, सदाचार, सद्व्यवहार के रूप में है लेकिन यह धर्म व्यक्तिगत हैं इसका सम्बन्ध समाज से नहीं प्राणी मात्र से है हम व्यक्तिगत धर्म का पालन करते हुए सामाजिक धर्म का आदर करने बाध्य हैं यदि हम सामाजिक व्यवस्था के आगे सिर नहीं झुकाते तो अराजकता के विवाद के फूट के संस्कृति नाश के भागी होते हैं सामाजिक होकर हमें व्यवहार में भले ही समन्वय करना चाहिए पर धर्म के मामले में समर्पण नहीं करना चाहिए धर्म तो स्वयं की शुद्धि व समृद्धि का मार्ग उद्घाटित करता हैं धर्म सहिष्णुता की उजली चादर है धर्म आत्मानुशासन सिखाता हैं धर्म किसी का मत बदलना नहीं मन व जीवन बदलना सिखाता है धर्म श्रद्धागम्य है अर्थगम्य व बुद्धिगम्य नहीं है।

धर्म खिलवाड की वस्तु नही, आत्म–कल्याण की वस्तु है। धर्म जीवन की परम धन्यता है, धर्म संसार से छुडाता है और मुक्ति भी पहुँचाता है। व्यक्ति को जेल से मुक्त कर दिया जाये पर बाहर उसे खाने–पीने को न मिले, सुख–सुविधा न मिले तो उसका जेल से मुक्त होना व्यर्थ होता है। उसी प्रकार धर्म कर्म मुक्त करें और अतीन्द्रिय सुख की प्राप्ति न हो तो दुखों से मुक्त होना व्यर्थ ही है। इसलिए धर्म दुःख से छुड़ाता है, उत्तम सुख दिलाता है, समग्र जीवन को आलोकित करता है। धर्म चिन्तन का विषय नहीं आचरण का विषय है। जो सद्कार्य आत्मा को स्वीकार्य हो पर पीडा का अभाव करे। आत्मा को भय से मुक्त करें, प्रेम वात्सल्य को जाग्रत करे वही धर्म है।

"करता निर्मल पावन मन है ऐसा कहते हैं मुनिजन"

धर्म निर्मल पावन मन करता है। धर्म अशुभ से हटाकर शुभ में परिणत कराता है और शुभ की साधना ही शुद्ध की प्राप्ति में कारण होती है। अतः निर्मल पावन मन को करने हमें सम्प्रदाय में नहीं, धर्म में विश्वास करना चाहिए। पत्तों को नहीं जड़ों को सींचना चाहिए धर्म तो विराट सत्य है। सागर के समान अत्यन्त विशाल है। सम्प्रदाय के मटकों में भरने से धर्म दुखित हो जाता है। अतः धर्म को पावों।

"धर्म की प्यारी नौका जग में जिससे तिरते है भविजन"

धर्म नौका के समान है, जो हमें पार लगाती है। लेकिन धर्म भी किसे पार लगाता

है जो भव्य हो अर्थात् जिनमें सम्यक दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चारित्र प्रगट करने की योग्यता हो वही भव्य है। **पद्म नन्दि पंचविंशतिका** में कहा है–

"तत्प्रतिप्रीति चित्तेन येन वार्तापि हिश्रुता
निश्चितं स भवेत् भव्यो भावि निर्वाण भाजनम्।"

जो देव गुरु की वाणी को प्रीति पूर्वक सुनता है, वही जीव भव्य है। उसमें निर्वाण को पाने की क्षमता है। भविष्य में अवश्य ही मुक्ति का पात्र होगा। मुक्ति पाने के लिए एक शर्त लगा दी–**"प्रीतिचित्तेन"** जिस प्रकार इंसान किसी से प्रीति करता है, मित्र बना लेता है तो अपनी सारी गतिविधि को छोडकर भी मित्र के द्वारा कहे गये कार्य में जुट जाता है, बातो को मानता है; उसी प्रकार भव्य जीव देव गुरु की वाणी को सुनकर उसे स्वीकारता है, तभी प्रीति भाव का जागरण होता है। प्रीति कैसी होनी चाहिए–

"प्रीति ऐसी चाहिए जैसे लोटा-डोर
अपना गला फँसाऐ के पानी लावे मोर।"

धर्म के प्रति प्रेम ऐसे होना चाहिए। जैसे लोटा ओर डोर (रस्सी) की होता है। लोटा अपना, गला फॅसा कर ही पानी लाता है। गला फँसाने का अर्थ पानी की तमन्ना है। उसी प्रकार धर्म स्वीकारने का अर्थ आत्म जागरण की तमन्ना है। आत्म जागरण की भावना ही भव्यत्व को जाग्रत करती है।

इस ससार में तीन प्रकार के जीव होते हैं–

1. ***भव्य :*** अर्थात् जो देव शास्त्र गुरु के सम्मुख आत्म परिणाम को निर्मल रखने वाले जीव है, जिसकी रत्नत्रय प्राप्त करने की क्षमता होती है वह भव्य है वह सधवा स्त्री के समान है। शीघ्र ही मुक्ति रूपी सन्तान को जन्म दे सकते हैं।

2. ***दुरान्दुर भव्य :*** जिसमें सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र प्राप्त करने की क्षमता तो है पर देवशास्त्र गुरु की सन्निधि कभी स्वीकार ही नही करते वे विधवा स्त्री के समान है जैसे विधवा स्त्री सन्तान को तो जन्म दे सकती है पर किसी को पति नहीं स्वीकारती जब तक पुरुष की स्वीकृति नहीं है तब तक सन्तान का जन्म भी नहीं है उसी प्रकार जबतक देव शास्त्र गुरु की स्वीकृति नहीं है, तब तक **रयणत्तयं च धम्मों**–रत्न–त्रय रूपी धर्म की प्राप्ति नहीं होने वाली है।

3. ***अभव्य :*** कितना भी धर्म का, सन्तों का, परमात्मा का सानिध्य मिल जाये पर मन में, आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता वह अभव्य है जैसे बांझ स्त्री पति का संयोग होने

पर भी संतान को जन्म नहीं दे सकती उसी प्रकार अभव्य का जीवन भी आत्मिक धर्म को जागृत नहीं कर सकता है। यह धर्म मंगल स्वरूप है। आचार्यो ने कहा है–

"धम्मो मंगल मुक्किट्ठं अहिंसा संयमो तवों
देवावि तस्सणमंसंति जस्सधम्मेसयामणों"

संसार में न धन मंगल है, न विवाह मंगल हैं, नकन्यामंगल है, न हाथी मंगल है, न पुत्र मंगल है, न सौभाग्यवती स्त्री मंगल है। दुनिया में अगर कोई मंगल है तो वह धर्म ही मंगल है, उत्कृष्ट है। वह धर्म अहिंसा संयम और तपमयी है, जो धर्म को स्वीकार करता है–**"देवावि तस्स णमंति"** देवता भी उसे प्रणाम करते है यानि सभी के दिल में धर्मात्मा पुरुष का स्थान होता है। दुश्मन भी परोक्ष में उसकी प्रशंसा करते हैं। इसलिए जैन बनने के इच्छुक इंसान को धर्मध्यान की आदत अवश्य डालनी चाहिए। धर्म साधना है स्वयं को निखारने की। अत प्रातः दर्शन–पूजन सामायिक जाप आदि धर्म है। फिर सेवा परोपकार ईमानदारी, सद्व्यवहार ही धर्म है फिर सौहार्द जीव–दया–भाव स्व स्वरूप चिन्तन ही धर्म है, क्योंकि कहा है–

"आगे धंधो पीछे धंधो धंधो माही धंधों
धंधो माही धर्म करत है सो वीरा का वन्दों"

सासारिक व्यापार तो सभी तरफ चल रहा है। जो सांसारिकता में से समय निकाल कर परमात्मा का भजन करता है वही धर्म को स्वीकार करता हैं। आजकल दुनियाँ मे धर्म छोडकर व्यापार करने वाले प्राणी अंसख्य है पर व्यापार छोडकर धर्म करने वाले दो–चार ही हैं अगर व्यापार मे भी ईमानदारी आ जाती है तो भी धर्म अवतरित हो जाता हैं धर्म अहिंसा संयम और तप है। संसार के सभी लोग करुणा चाहते हैं, हिंसा नहीं हिंसा से सभी पीडित है, दुःखी है। विश्व से हिंसा मिटाना चाहते हैं। सभी संयमी सदाचारी का सम्मान करते हैं। सभी तनाव से मुक्ति पानें के लिये तपस्या करते हैं। इसलिए यह गुण धर्म–सभी को स्वीकार्य है। इसकी स्वीकृति ही जैनत्व का जागरण है। आचार्य श्री पुष्पदन्त सागर जी महाराज कहते हैं–"जैन कोई सम्प्रदाय नहीं, एक संस्कृति है। जैनत्व भारत का भूखण्ड नहीं, न ऐतिहासिक तथ्यों टुकडा है न कोई राजनैतिक इकाई है, न शास्त्रों का जीर्ण–शीर्ण पन्ना है, न धन, न पद, न–प्रतिष्ठा, न प्रदर्शन, न प्रतिस्पर्द्धा की अन्धी दौड है। जैनत्व एक अभिप्सा है, एक प्यास है इन्द्रियों को जीतने की, विषयों को त्यागने की, प्राणियों पर परम करुणा बरसाने की।" इसलिए धर्म शब्द की शाब्दिक व्याख्या करे तों तीन अक्षर है इसमें **ध-धारण** करो **र-रिषभ** नाथ **म-महावीर** अर्थात प्रथम

तीर्थङ्कर रिषभनाथ से लेकर भगवान महावीर स्वामी तक जो भी बात कही गई है उसे हृदय में धारण करना ही धर्म हैं यही धर्म मोक्षमार्ग का निर्माता हैं।

जिस प्रकार छोटा सा पंख पक्षी को विराट आकाश की यात्रा करा देता है, उसी प्रकार जरा सी धर्म की किरण आत्मा से प्रस्फुटित हो जाती है तो आत्मा धीरे-धीरे परमात्मा के दर्शन करने में सक्षम हो जाती है। अतः धर्म को स्वीकारे, स्वभाव में प्रवेश करें; क्योंकि संसार में धर्म से ही शुद्धि शान्ति, सद्‌गति की प्राप्ति होती है। संसार की तमाम बाह्य सामग्री खरीदने की ताकत धन में है पर अन्तर्जगत की तमाम सामग्री खरीदने की ताकत मात्र धर्म में है। अत. जिसके पास धर्म है वही धन्य हैं। कहा भी है-

"धर्म करत संसार सुख धर्म करत निर्वाण
धर्म पंथ साधे बिना नर तिर्यञ्च समान।"

धर्म संसार का सुख देता है तो निर्वाण भी देता है। धर्म के बिना मनुष्य तिर्यञ्च के समान होता है, धर्म आत्मा की आन्तरिक चेतना की पवित्र धारा है। धर्म आत्मा से उत्पन्न होता है। जैसे गुलाब के पुष्प को सुगन्ध के लिए बाहर के किसी सुगन्धित इत्र की अपेक्षा नहीं होती। उसी प्रकार धर्म को बाहर के पदार्थ की आवश्यकता नही। धर्म तो प्रकाश है, धर्म अमृत है, धर्म आध्यात्मिक ज्योति हे, धर्म स्वयं में पूर्ण है। धर्म का मूल रत्नत्रय है। त्रयरत्नों की प्राप्ति रूप जल ही आत्मा के मल को साफ करती है। धर्म दुख, पीड़ा, सन्ताप, क्लेश, वैमनस्य, राग-द्वेष आदि से मुक्ति दिलाने में कारण है। धर्म न्याय, नीति, परोपकार, साधनापूर्वक जीना सिखाता है। धर्म पशु को परमेश्वर बनाता है। धर्म शैतान को भगवान बनाता है, धर्म पतित को पावन बनाता है, धर्म नर से नारायण बनाता है। धर्म क्रूरता और विलासिता को समाप्त कर आनन्द की जीवन्त अनुभूति देता है। विषाद दुख असंतोष के प्रवाह में बहने वालों के लिए धर्म त्राण हैं शरण है धर्म स्वयं में निर्भार है जो इसे धारण करता है वह भी निर्भार हो जाता हैं जब उसके भीतर ऋजुता मृदुता सहनशीलता और अनासक्ति के भावों का जागरण होता हैं जो अच्छा जीवन जीना चाहते हैं वे धर्म को स्वीकारे आत्मा को निखारे यही विचार करते हुए कि

चलं वित्तं चलं वित्तं चलं जीवित योवनें
चलं परिजनं सौख्यं धर्म एको ही निश्चलः

इस संसार में मन चंचल है धन चंचल है जीवन और यौवन भी चंचल है परिवार का मित्रों का पदार्थों का सुख भी चंचल हैं अस्थिर है नश्वर हैं स्थिर अनश्वर अचल तो मात्र धर्म ही हैं। और इस धर्म की स्वीकृति ही समस्त विकृति का समापन है।

"सम्यक्- दर्शन"

श्रद्धा के सागर में खिलता, सुदर्शन का श्वेत कमल।
विषय कषाय के पंक से ऊपर सुख का बहता निर्मल जल।।
अष्ट अंग के धारण करते निज प्रतीति होती सुख-रित।
मुक्ति रमा उसको लख करके हो जाती झट आकर्षित।।15।।

अर्थ :

श्रद्धा के सागर में सम्यक् दर्शन का श्वेत कमल खिलता है, विषयकषाय के कीचड़ से ऊपर सुख का निर्मल जल बहता है। जैसे ही जीव अष्ट अंग को धारण करता है। उस समय से उसे आत्मा की प्रतीति (श्रद्धान) होने लगती है और मुक्ति रूपी रानी उसको देख करके आकर्षित हो जाती है। अर्थात् वह जीव निश्चित मुक्ति का पात्र होता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

आत्मा के प्रति निर्मल परिणति का नाम है– श्रद्धा। **'तत्त्वार्थाभिमुखी बुद्धिः श्रद्धा'** तत्वार्थों के विषय में उन्मुख बुद्धि को श्रद्धा कहते है। संसार के चक्रव्यूह से निकालने के लिए वीतरागता के प्रति श्रद्धा का होना आवश्यक है। श्रद्धावान कौन है?

''जोणविजाणदि तच्चं सो जिणवयणे करेदिसद्दहणं
जं जिणवरेहिभणियं तं सव्वमहं समिच्छामि।।''

जो तत्वों को नहीं जानता किन्तु जिनवचन में श्रद्धान करता है कि जिनेन्द्र भगवान ने जो कुछ भी कहा है, उस सबको मैं स्वीकार करता हूँ। यही श्रद्धावान के लक्षण है। ऐसी ही

"श्रद्धा के सागर में खिलता सुदर्शन का श्वेत कमल"

श्रद्धा के सागर में सम्यक दर्शन का श्वेत कमल खिलता है। श्रद्धा के अभाव में की गई उपासना, सेवा–भक्ति मात्र लौकिक पुण्य की वृद्धि में कारण है। आत्मिक विकास में कारण नहीं है। श्रद्धा संदेह से रहित होती है। श्रद्धा ऊपर से ओढ़ी नहीं जाती, भीतर से जाग्रत की जाती है। हमारे समक्ष श्रद्धा और विश्वास दो चीजें है। श्रद्धा हृदय से प्रगट होती है, विश्वास मस्तिष्क से प्रगट होता है।

श्रद्धा स्वयं के गर्भ से जन्मेपुत्र के समान है। जो शुद्ध रूप से वंश परम्परा को चलाता है। विश्वास गोद लिए बच्चे के समान है जो अशुद्ध रूप से वंश परम्परा को चलाता है। श्रद्धा त्रैकालिक होती है, विश्वास तात्कालिक होता है। श्रद्धाइष्ट के प्रति की

जाती है, विश्वास सभी पर किया जाता है। श्रद्धा भीतर की परिणति है। विश्वास बाहय चर्चा प्रभाव यश के श्रवण से उत्पन्न होती है। श्रद्धा कभी भी धोखा नहीं देती, विश्वास धोखा दे सकता है। श्रद्धा में समर्पण होता है, विश्वास में संशय विपर्यय अनध्यवशाय की सम्भावना बनी रहती है। जैसे यात्रा में निकलने पर ट्रेन, बस आदि में अचानक कोई व्यक्ति मिल जाता है; तब सहज चर्चा चलती है। आप कहॉ से है? कहाँ जा रहे है? थोड़ा सा परिचय हो जाता है। पानी की प्यास लगती है आप सहज ही उस परिचित से कहते है जरा सामान देखना मैं पानी पीकर आया। आप पानी पीते जाते है पर आपको निगाहें उसी पथिक पर तात्कालिक परिचित पर होती है। मन संशय से भरा हुआ होता है और कहता है– कहीं वह सामान लेकर न भाग जाये। विश्वास भी इसी प्रकार संशयात्मक होता है। इसमें स्थिरता नहीं होती है। पर श्रद्धा में परिवार वाले के भरोसे छोडकर कहीं भी घूमा जाये पर चिन्ता नहीं होती कि मेरे सामान का क्या होगा? क्यों? क्यों कि वहॉ अपनत्व है, श्रद्धा में पूर्ण समर्पण है। आचार्य समन्त भद्र देव ने कहा है–

श्रद्धानं परमार्थानां माप्तागम तपोभृताम।
त्रिमुढ़ा पोढ़ मष्टागं सम्यक दर्शन मस्मयम।।4।।

आत्म कल्याण के निमित्त भूत **आप्त** (देव) **आगम** (शास्त्र) **तपोभृताम** (गुरू) पर तीन मूढ़ताओं से रहित आठ अंगो से सहित एवं आठमदौं से रहित होकर श्रद्धान करना ही सम्यक दर्शन है अर्थात वीतरागता से पूर्ण देव–शास्त्र–गुरू के प्रति श्रद्धा, मूढता, एवं मदरहित होना पहली शर्त है। देव शास्त्र–गुरु में से किसी एक की भी स्वीकृति का अभाव है तो सम्यक्–दर्शन का भी नियम से अभाव है। जिस प्रकार स्त्री–पुरुष और पुत्र के संयोग को ही परिवार कहा जाता है, उसी प्रकार देव–शास्त्र–गुरु के भक्त को ही सम्यक दृष्टि श्रद्धावान कहा जाता है, क्यों कि देव दर्शन के शास्त्र ज्ञान के व गुरु चारित्र के प्रतीक है और तीनों के मिश्रण के बिना मोक्ष मार्ग भी नहीं बनता है। इस लिए व्यवहारिकता में भी एक मॉ अपने पुत्र को सहज ही कहती है–बेटा ! देखभाल कर चलना। इन तीन बातों को पुत्र जीवन में उतार लेता है, तो गन्तव्य तक सहज ही पहुॅच जाता हैं। इन व्यवहारिक शब्दों को आध्यात्म की दृष्टि से देखें तो प्रतीत होता है कि एक माँ उसे तीर्थकर की साक्षात वाणी समझा रही है, क्योंकि **''देखभाल कर चलना''** रत्नत्रय का प्रतीक है, **'देख'** शब्द सम्यक् दर्शन का प्रतीक है, **'भाल'** शब्द सम्यक ज्ञान का प्रतीक है, **'चलना'** शब्द सम्यक चारित्र का प्रतीक है। बालक–देख शब्द से लक्ष्य को देखता है, उस पर श्रद्धान करता है। उसका लक्ष्य बनाता है। ''भाल शब्द से वह मंजिल के मार्ग का ज्ञान करता है और चलना शब्द उस मार्ग पर चलने की प्रेरणा देता है जो बिना जाने मार्ग पर चलता है। वह लक्ष्य से भटक जाता है, सैंकड़ो वर्षो भी चले पर वह मंजिल नहीं पा सकता।

मोक्ष रूपी मंजिल तक पहुँचने के लिए देखना जानना और चलना अर्थात देव–शास्त्र–गुरु, सम्यक दर्शन, सम्यक ज्ञान सम्यक चारित्र का होना आवश्यक है। उसमें सम्यक दर्शन तो रीढ की हड्डी है। इसके बिना धर्म की स्थिरता नही होती सम्यक दर्शन भव भ्रमण से मुक्ति का आश्वासन देता है। सम्यक दर्शन स्वयं के सत्य का ज्ञान कराता है। आत्मा का सहज समाधान कराता है। जिस प्रकार सूर्य के उदय होते ही रात्रि का अन्धकार नष्ट हो जाता है, वायु के चलने पर मेघों के समूह नष्ट हो जाते है। उसी प्रकार सम्यक्त्व के प्रगट होने पर कर्मो के दृढतर बन्धन भी नष्ट हो जाते है।

भगवान महावीर स्वामी की परम्परा में सम्यक–दर्शन का विशेष महत्व है। सम्यक् दर्शन के अभाव में साधक की उत्कृष्ट साधना भी मोक्ष में कारण नहीं बन पाती है। जिस प्रकार बिना नींव के इमारत, बिना जड़ के वृक्ष, बिना मस्तक के देह, बिना प्रतिमा के मन्दिर का कोई महत्व नहीं है, उसी प्रकार सम्यक दर्शन की प्राप्ति की भावना के बिना व्रत–नियम, त्याग, पूजा, आराधना, सेवा का भी मोक्ष मार्ग मे कोई महत्व नहीं हैं इस दुस्सम पंचम काल मे सम्यक–दृष्टि अल्प है। जुगनू के समान कदाचित क्वचित ही दिखाई पड़ते है ; क्यों कि सम्यक् दृष्टि आगमानुसार स्वयं के निर्णय पर चलता है। वह विचारता है कि मैं अपना उत्तरदायी हूँ। शक्ति रूप से परमात्मा मेरे भीतर विद्यमान है। उसे प्रगट करने के लिए वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु का अवलम्बन लेकर मुझे ही दर्शन मोहनीय कर्म को ध्वंश करना है ऐसी भावना से ओत प्रोत होकर वह विषय कषायों से मुक्त होने का प्रयास करता है, क्योंकि वह जानता है कि

''विषयकषाय के पंक से ऊपर सुख का बहता निर्मल जल''

विषय कषाय के कीचडों से ऊपर ही सम्यक् दर्शन का झरना प्रवाहित होता है। सम्यक् दर्शन प्राप्ति का इच्छुक जीव साक्षात् देव की उपलब्धि न होने पर देव की प्रतिमा की स्थापना करके या स्थापित प्रतिमा की उपासना, आराधना श्रद्धान करता है। अगर वह देवप्रतिमा को पत्थर की आकृति मानता है, देव बुद्धि नहीं लाता हैं तो वह नियम से मिथ्या दृष्टि होता है। वह आचार्य प्रणीत ग्रन्थ को शास्त्र व निर्ग्रन्थ साधु को ही अपना गुरु मानता है।

आगम के अनुसार पंचमकाल के अन्त तक वीरांगज मुनिराज सर्व श्री आर्यिका अग्निलश्रावक एवं पंगुश्री नाम की श्राविका विद्यमान रहेगे जो इस दुस्सम पंचमकाल में मुनिमुद्रा नहीं होती है ऐसा मानता है– विचरण करते हुए दिगम्बर मुनिराज को देखकर वन्दना, आराधना, श्रद्धान आदि नहीं करता है वह तीव्र मिथ्या दर्शन से युक्त जीव माना जाता है। वह निश्चित रूप से दीर्घ संसारी है। सम्यक् दर्शन प्रयत्न साध्य नहीं, श्रद्धा साध्य है। यहॉ प्रश्न उठ सकता है कि शास्त्रों में **''तत्वार्थश्रद्धानं सम्यक दर्शनं** अर्थात् तत्वों पर श्रद्धान करना ही सम्यक्दर्शन है'' कहा है। फिर आपने **''आप्तागम तपोभृताम्**

श्रद्धानं सम्यक दर्शनं" देव शास्त्र, गुरु पर श्रद्धान करना सम्यक् दर्शन क्यों कहा? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य देव कह रहे है कि–जिन आगम प्रथमानुयोग करणानुयोग, चरणानुयोग व द्रव्यानुयोग इन चार अनुयागों में विभक्त है। उन चार अनुयोगो में प्रथमानुयोग और चरणानुयोग में व्यवहारिक पूजा भक्ति तथा मूढ़ता मदरहितता आदि रूप क्रिया की प्रधानता से सम्यक् दर्शन का कथन किया जाता है। करणानुयोग में कर्म परिणामों की प्रधानता से अर्थात अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान माया, लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक मिथ्यात्व, सम्यक, प्रकृति के उपशम क्षय क्षयोशम से उत्पन्न आत्म–श्रद्धान को सम्यक दर्शन कहा गया है तथा, द्रव्यानुयोग में तत्व चिन्तन, आत्म–अनुभव शुद्धात्मा की उपलब्धि की प्रधानता से सम्यक दर्शन कहा गया है।

वर्तमान मे केवली श्रुतकेवली के अभाव होने से करणानुयोग (सिद्धान्तग्रन्थ) द्रव्यानुयोग (अध्यात्मग्रन्थ) की दृष्टि से किसे सम्यक् दर्शन है, किसे नहीं है। यह नहीं कहा जा सकता है मात्र प्रथमानुयोग और चरणानुयोग (आचरण ग्रन्थ) की दृष्टि से उसकी बाहय क्रिया देव दर्शन पूजादि भक्ति मुनियो के प्रति आस्था, निन्दा की रहितता, मिथ्या दृष्टि, अस्त्र, शस्त्र–वस्त्र– रहित देव गुरू की आराधना करने वाला एवं यथाशक्ति आगमानुकूल चर्या को देखकर कहा जा सकता है। कि इस जीव के पास सम्यक् दर्शन है, क्योंकि इस संसार में–

"न सम्यक समं किंचित त्रैकाल्ये त्रिजगत्यपि
श्रेयोऽ श्रैयश्च मिथ्यात्व समंनान्यन्तनु भृतां।"

तीन काल और तीन जगत में जीवों का सम्यक् के समान श्रेयकारी एवं मिथ्यात्व के समान अकल्याणकारी अन्य कोई भी वस्तु नहीं है। यह जीव जब सम्यक्दर्शन को प्राप्त करता है तब–

"अष्ट अंग के धारण करते निज प्रतीति होती मुखरित"

निशंकित, निष्कांछित, निर्विचिकत्सा, अमूढ़दृष्टि, उपगूहन, वात्सल्य, स्थितिकरण और प्रभावना इन आठगुणों को प्रगट करता है तब स्वयं की प्रतीति होती है। इन आठ अंगों में पहला अंग है– **निशंकित अंग**–आप्त आगम और दिगम्बर मुनिराज ही समयक्–दर्शन में कारण है। आराध्य त्रय एवं सात तत्व ऐसा ही है अन्य रूप नहीं है। इस प्रकार की प्रगाढ श्रद्धा सम्यक्त्व है। सम्यक दृष्टि जीव देव–शास्त्र–गुरु के विपरीत मिथ्या देव– शास्त्र–गुरु मे प्रगट होने वाले चमत्कार प्रभावना, यश, विभूति शक्ति आदि को देखकर भी अपनी श्रद्धा को वीतरागता से नहीं हटाता है। सम्यक–दृष्टि जीव को प्रत्यक्ष तथा अनुमान आदि प्रमाणों के द्वारा साध्य पदार्थो के विषय मे संशय नहीं होता है, किन्तु और सूक्ष्म अन्तरित व दूरवर्ती पदार्थो के विषय मे भी शंका नहीं करता है। वह धर्मादि

द्रव्य कालाणु और पुद्गलादि परमाणु ये सुक्ष्म पदार्थ है; क्योंकि इन्द्रियों द्वारा इनके साधन का ज्ञान नहीं होता है तथा द्वीप समुद्र पर्वत क्षेत्र आदि अप्रत्यक्ष पदार्थ ऋषभ, महावीर राम–रावण आदि भूत में हुए, जीव एवं भविष्य में होने वाले महापद्म आदि तीर्थंकरों के विषय में भी शंका नही करता है। मिथ्या दृष्टि जीव के इन पदार्थो के विषय में शंका बनी रहती है। सम्यक–दृष्टि जीव आगम की आज्ञा प्रमाण मानकर मन में संशय को उत्पन्न होने नहीं देता। सम्यक–दृष्टि जीव अस्तिक्य गुण से युक्त होता है। वह तर्क पर नही श्रद्धा पर जीता है श्रद्धा पर जीने वाला निशंक होता है। सम्यक्–दर्शन के आठ अंगों में निःशंकित अंग पहला द्वार है भगवान महावीर स्वामी ने सबसे प्रथम द्वार पर शंका न करने को कहा है। किस पर शंका नहीं करना? ऐसा प्रश्न उठने पर कहते है–वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु पर शंका नहीं करनी चाहिए, तत्वों पर शंका नहीं करनी चाहिए। अगर पहले चरण में ही शंका हो गई तो बढ़ते कदम रूक जायेंगे। आचार्य कहते है कि सम्यक् दर्शन को संभालने के पहले स्वयं को संभाल लेना, मन को संभाल लेना; क्योंकि अभी तक संसार में सन्देह को लेकर जीवन बिताया है। अब निशंक निसन्देह होकर जीना है। निशंक होकर जीने वाला तत्व के प्रति शंका एवं मार्ग के प्रति भय नहीं करता है। वह अपने इष्ट के प्रति तिनके की भाँति समर्पित हो जाता है। अगर मन में जरा भी सन्देह अथवा शंका बनी रहती है तो भय बना रहता है। भय के साथ श्रद्धा के सद्भाव में सम्यक दर्शन नहीं होता हैं। सम्यक दर्शन के अभाव में मोक्ष मार्ग भी नहीं बनता है।

इसलिए आचार्य पुष्पदन्त सागर जी महाराज कहते हैं। तत्वों के प्रति शंका नहीं करना, मार्ग के प्रति भय नहीं करना क्योंकि पथ लम्बा है, यात्रा अंजानी है, अपरिचित मार्ग है, कभी गये नहीं है। इसलिए भय का होना स्वाभाविक है। हम कभी मोक्ष–मार्ग पर नहीं चले, कभी सत्य का दर्शन नहीं किया, कभी अमृत नहीं पिया जब हम अपरिचित मार्ग पर चलेंगे तो भय पैदा होगा, सन्देह से भरेंगे, मन कहेगा–क्या पता इस पथ से गुजर कर किसी ने परमात्मा पाया है या नहीं? मन विचारने लगेंगा–यदि मैं चला और नहीं पहुँचा तो? पुरुषार्थ किया परमात्मा नहीं मिला तो? साधना की सत्य के दर्शन नहीं हुए तो? बीज बोये अंकुरित नहीं हुए तो? साधना के फूल ऊगे पर सम्यक् की सुगन्ध नहीं आयी तो? जमीन खोदी पानी नहीं निकला तो? इस प्रकार मन में सन्देह का कीड़ा उत्पन्न होना स्वाभाविक है। अगर इस प्रकार आपके मन में सन्देह का कीड़ा उत्पन्न हो तो उसे निकाल कर फेंक देना। सन्देह को निकालकर निशंक होकर आगे बढ़ जाना; क्योंकि शंका का, सन्देह का कीड़ा जब दिमाग में प्रवेश कर जाता है तो वह जीव विराट को छोडकर क्षुद्र को देखने लग जाता है और सत्य को पाने से वंचित रह जाता है। शंका की नागिन अगर डस लेती है वह तड़फ–तड़फ कर मर जाता है। सन्देह का

बिच्छू जिसे डंक मार देता है तो उसकी नींद हराम हो जाती है शंका की बेड़ियां जिसके पाँव में पड़ जाती है तो उसके बढ़ते हुए कदम रूक जाते है। सन्देह का उल्लू जीवन के उपवन में बैठ जाता है तो उसका जीवन का बाग मुरझा जाता है। शंका के गोबर से जो मन का आंगन लीप लेता है तो उसके अन्दर खुजलाहट के कीडे पैदा हो जाते है। शंका का कौवा जीवन के आकाश में उडने लगता है तो सिर्फ निन्दा की ही काँव–काँव होती है। सन्देह की जोंक जब मन से चिपक जाती है तो वह बुराइयों के रक्त को चूस लेती है। सन्देह सिर्फ बुराईयों को ही देखता है।

इसलिए आचार्यो ने कहा– तत्व पर, पदार्थ पर, देव–शास्त्र–गुरु पर, मोक्ष मार्गपर शंका मत करना, शंका ही करना हो तो स्वयं पर करना। निःशंकित शब्द स्वयं कहता है– 'निज के प्रति हो जा शंकित, वही अंग है निशंकित' भगवानमहावीर स्वामी ने कहा है– अगर तुम्हें शंका करना है तो अपने प्रति शंका करना, वैभव के प्रति शंका करना यौवन के प्रति शंका करना जीवन के प्रति शका करना, धन के प्रति शंका करना और विचार करना कि जो संपदा मैने एकत्र की है वह लुट तो नहीं जायेगी, चोर–डाकू तो उठा नहीं ले जायेंगें, जो मैंने भवन बनायें है वह खण्डहर तो नहीं हो जायेंगे? क्या ये भवन की बड़ी–बड़ी दीवारे मुझे मौत से बचा सकेंगी? तब मन समाधान करेगा–मौत निश्चित आयेंगी, पदार्थ निश्चित छूटेगा, तब भीतर एक संवेग का भाव उत्पन्न होगा। भौतिक पदार्थो के प्रति किया गया सन्देह संवेग का भाव उत्पन्न करता है। वह संवेग मोह तोडता है, ममत्व हटाता है और सत्य के प्रति, स्वयं के प्रति, परमात्मा के प्रति एक आस्था उत्पन्न कराता है। आस्था की नींव पर परमात्मा का महल खडा होता है और आनन्द का ध्वज लहराता है।

आत्म शान्ति को प्राप्त करने का इच्छुक जीव स्वयं के स्वरूप को जानने की इच्छा से तत्व के स्वरूप को जानता है और तत्व के स्वरूप को समझकर तत्वोपदेष्टा देव–शास्त्र–गुरु के चरणों में निशंक होकर अपने आपको समर्पित कर देता है। लक्ष्य प्राप्ति के लिए निशंक होना परमावश्यक है; क्योंकि शंका का कीड़ा आत्मा को सदैव पीड़ा देता रहता है। पीड़ाकारी वस्तु के सद्भाव मे शान्ति की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है। यथार्थ सत्य तो यह है कि बेइमान व्यक्ति सदा–शंकित और भयभीत रहता है। पर ईमानदार व्यक्ति भय एवं शंका से रहित हो जाता है। निर्भय और निशंक जीव मोक्ष मार्ग पर चल सकता है। निर्भयी जीव आप्त के अनुसार वस्तु स्वरूप को अनेक धर्मात्मक मानता है। उसमें यह सत्य है या वह सत्य है। इस प्रकार की संशयात्मक स्थिति से रहित होता है। पर्वत में चंचलता अग्नि में शीलता हो सकती है, पर सर्वज्ञ की वाणी में कही पर भी अन्तर नहीं हो सकता। इसलिए अराध्य त्रय सात तत्व एवं धर्म के स्वरूप

में सदैव शंका रहित रहता है। निशंकित गुणधारी प्रत्यक्ष को प्रमाण, अप्रत्यक्ष को अप्रमाण न मानता हुआ जिनागम के अनुसार ही सभी वस्तुओं का अस्तित्व स्वीकार करता है और निर्भय होकर मोक्ष–मार्ग में आगे बढ़ता है, पीछे मुड़कर कभी नहीं देखता है।

अभय की भूमि पर ही धर्म का वृक्ष खड़ा होता है, जो पीछे मुड़ कर देखता है वह भय से परिपूर्ण है, उसके शंका का अभाव नहीं है। इसलिए उसका परमात्मा उससे दूर है। विशेष बात तो यह है कि तत्वों में शंका करना मिथ्यात्व है पर जिज्ञासा व्यक्त करना सम्यक्त्व को पुष्ट करने का साधन है। जिज्ञासा व्यक्त करना पृच्छना नाम का गुण है; जो ज्ञान विकास एवं तत्व निर्णय में कारण है। भगवान महावीर स्वामी से राजा श्रेणिक ने 60 हजार (साठ हजार) शंकाये नहीं की थी अपितु जिज्ञासाएँ व्यक्त की थी। देव–शास्त्र–गुरु के अनुसार जो अपने जीवन को यथा शक्ति उस साँचे मे ढालने का प्रयास करता है वही निशंकित गुण का धारी होता है। भीतर उठती हुई शंका को दबाकर बाहर सम्यक्त्व क्रिया का ढोंग करना नि, शंकित पना नहीं है। आत्मोन्नति के मार्ग पर चलना तलवार की धार पर चलना है। इसलिए आचार्य समन्त भद्र देव को कहना पडा–"**इत्कम्पाय साम्भोवत्सन्मार्गे संशया रूचिः।**" अर्थात् तलवार के पानी की तरह चमक की तरह अकंप श्रद्धावान जीव तत्व के निर्णय से चलायमान नहीं होता है। वह निशंक बेधड़क सन्मार्ग में चलता है। सत्य पथ पर चलने वाला यह कभी नहीं सोचता कि मैं इस पर चलूँगा तो ऐसा हो जायेगा तो क्या होगा? अगर उसके मन में इस प्रकार का व्यर्थ विकल्प है तो वह सम्यक पथ का पथिक नहीं है। निशंक सम्यक दर्शन ही संसार का उच्छेदक होता है। सम्यक पथ का पथिक अपनी आत्मा को अजर– अमर अविनाशी मानता है। वह जानता है कि मेरी आत्मा का घात कोई नहीं कर सकता। फिर मैं शरीर की चिन्ता क्यों करूँ? शरीर तो एक वस्त्र है, जो आज नहीं तो कल अवश्य छूटेगा; जो छूटने वाला है वह मेरा नहीं है, जो मेरा है वह कभी छूटेगा नहीं।

इस प्रकार का विचार करके वह परिवार–मकान–दुकान आदि बाहय वस्तु के प्रति निर्ममत्व हो जाता है और निशंक जीवन व्यतीत करता है। निशंक जीवन व्यतीत करने वाला सन्त–ग्रन्थ–अरहन्त के वचन को प्रमाण भूत मानकर सप्त भयों से रहित हो जाता है। इन सप्त भयों मे सबसे पहला भय' है। **इहलोक भय** अर्थात् इष्ट वियोग अनिष्ट संयोग की चिन्ता करना, मेरा मकान–दुकान, बीबी–बच्चें सुखी है या नहीं। कहीं भूकम्प विस्फोट, चोर आदि से समाप्त तो नहीं हो जायेगे कहीं मैं दरिद्र तो नहीं हो जाऊँगा। हे भगवान! मेरे को आधि–व्याधि न हो जाएँ। किसी भी कार्य करते समय संशय रखना, यह हुआ या नहीं हुआ, कहीं ऐसा हो गया तो? मैं पहले मिथ्या दृष्टि देवी–देवता को मानता था अब उनको पूजना छोड़ दिया है। कहीं वे नाराज हो गये मेरा क्या होगा?

इस प्रकार व्यर्थ की संशयात्मक स्थिति का होना "**इहलोक भय**" है। दूसरा परलोक

भय है। अर्थात् मेरा कहीं नरक–तिर्यन्च गति मे जन्म न हो जाये, मेरा अच्छी गति मे ही जन्म हो, मैं इतनी साधना कर रहा हूँ–भगवान जाने इसका फल मिलेगा या नहीं। दूसरी गति में मेरा कोई परिचित नहीं है। क्या पता अगले जन्म में कैसे–कैसे दुखों को सहन करना पडेगा। इस प्रकार पर भव सम्बन्धी व्यर्थ की कल्पना पूर्ण चिन्ता का होना **''पर लोकभय''** है। तीसरा **"मरण भय"** है। अज्ञानी जीव मरने से डरता है, व्याकुल होता है, कही मैं मर न जाऊँ, मेरा जीवन कायम रहे, मेरा मरण कभी न हो। इस प्रकार अपने शरीर के नाश के विषय में मानसिक चिन्ता का होना मरण भय है। चौथा **"वेदना भय"** है– शरीर की पीड़ा से कराह उठना बात–पित्त–कफ की विषमता की चिन्ता का रहना, चित्त का व्याकुल होना, मैं सदा निरोग रहूँ मुझे वेदना न सतावें। इस प्रकार की चिन्ता से चिन्तित रहना। मैं रोगी हो जाऊँगा तो क्या होगा? कौन वैद्य–डॉक्टर को दिखाऐगा। रोगी होने पर मेरी क्या दशा होगी? इस प्रकार शरीर के प्रति मोह वश बुद्धि का मूर्च्छित होना, आत्म स्वरूप मे बेहोश रहना **''वेदनाभय''** है। पॉचवा **"अगुप्ति भय"** है। जीवन, धन, सम्पत्ति की सुरक्षा की चाहना अथवा मिथ्यात्व के उदय से जो सत् का नाश, असत् के उत्पत्तिकी बुद्धि में एकान्तिक भावना का होना **''अगुप्ति भय''** है। छटवॉ अरक्षा भय है। अर्थात इस नगर, देश, गॉव का राजा, सम्राट दुष्ट प्रकृति का है। यहाँ के लोग अच्छे नहीं है। यदि मेरा धन–मकान–परिवार लुट जायेगा तो मेरी रक्षा कौन करेगा? अर्थात् वर्तमान पर्याय का नाश होने के पूर्व उसके विनाश की आशंका से, उससे अपने को असुराक्षित समझ कर भय भीत होना **''अरक्षा भय''** है। सातवॉ **"आकस्मिक भय"** है। अर्थात् आत्मा को शाश्वत ध्रुव चैतन्य अचल अनादि अनन्त मानकर किसी भी आकस्मिक दुर्घटना घटने पर भूकम्प, बम विस्फोट, हत्या, युद्ध, बाढ़ आदि की प्रक्रिया को देखकर भयभीत होना, मेरे साथ न हो जाये। इस प्रकार का सतत् सोचना **''आकस्मिक भय''** है। निशंकित अंग का धारक सम्यक दृष्टि जीव उपयुक्त सप्त भयों से रहित होता है और निशंक हो अपना जीवन व्यतीत करता है।

यद्यपि भय प्रकृति का उदय मुनि तथा श्रावक दोनों के होता है; क्योंकि भय प्रकृति का उदय अष्टम गुणस्थान तक है, फिर भी सम्यक् दृष्टि के कर्म के उदय का स्वामी पना एवं मोह बुद्धि नहीं होती है वह पर द्रव्य द्वारा स्वद्रव्य का नाश हो ऐसा नहीं मानता है। वह पर्याय की विनाशिकता को भली–भॉति जानता है। इसलिए चारित्र मोह सम्बन्धी भय होते हुए भी दर्शन मोह सम्बन्धी भय नहीं होता है। आप्त आगम एवं साधु के प्रति दृढ़ श्रद्धा उसे निशंक बना देती है। यद्यपि तत्क्षण उठी पीड़ा के सहने में अशक्त होता है, फिर भी श्रद्धा से कभी ड़िगता नहीं है। सम्यक्–दृष्टि को भय न होने का कारण व

प्रयोजन बताते हुए समयसार की टीका करते हुए आचार्य अमृतचन्द देव ने कलश 155 में कहा हैं–

लोकः शाश्वत एक एष सकल व्यक्तो विविक्तात्मनः
चित्लोकं स्वयमेव केवल भयं यल्लोक यत्येककः।
लोकोऽयं न तवापरस्तदपरस् तस्यास्ति तद्भीः कृतोंः
निशंक सततं स्वयं सः सहजं ज्ञान सदा विन्दति।।55।।

यह चिद्स्वरूप ही इस विविक्त आत्मा का शाश्वत एक और सकल व्यक्त लोक है; क्योंकि मात्र चित्स्वरूप लोक को यह ज्ञानी आत्मा स्वयमेव एकाकी देखता है, अनुभव करता है। यह चिद्स्वरूप लोक ही तेरा है; उससे भिन्न कोई तेरा दूसरा लोक नहीं है ऐसा ज्ञानी विचार करता है, जानता है।

इसलिए ज्ञानी को इस लोक का तथा परलोक का भय कहाँ से हो वह तो स्वयं निरन्तर निशंक वर्तता हुआ सहज ज्ञान का सदा अनुभव करता है। ऐसा निशंक पना मात्र निश्चय सम्यक् दृष्टि मुनि को होता है। किसी ग्रहस्थ को नहीं होता है। व्यवहार से ग्रहस्थ एवं मुनि के कैसा निशंकपना होता है। उसे द्रव्य संग्रह गाथा 41 की टीका करते हुए ब्रह्मदेव सुरि लिखते है कि– **रागादि दोषा अज्ञानं वासत्यवचन कारणं तदुभयमपि वीतराग सर्वज्ञानां नास्ति ततः कारणात्तत्प्रपीते हेयोपादेय तत्वे मोक्षे मोक्षमार्गे। च भव्यैः संशयः संदेहो न कर्त्तव्यः।**

राग आदि दोष तथा अज्ञान, ये दोनों असत्य बोलने मे कारण है और ये दोनो ही वीतराग सर्वज्ञ जिनेन्द्र देव में नहीं है। इस कारण उनके द्वारा निरूपित हेयोपादेय तत्व में मोक्ष में मोक्ष मार्ग में भव्य जीवों को संशय नहीं करना चाहिए।

निष्कांक्षित अंग · जिस जीव को दुर्लभ सम्यक् दर्शन रूपी रत्न की प्राप्ति हो जाती है। वह क्षुद्र सांसारिक वस्तु की आकांक्षा नहीं करता हैं। देव–शास्त्र–गुरु की पूजा–उपासना करके मुनियों को चारों दान देकर जिन मन्दिरादि बनवा कर पूजन विधान आदि करवाकर व्रतयम नियम संयम आदि स्वीकार कर धर्म को धारण करने के उपरान्त फल के रूप में सांसारिक वस्तु की कामना करना, घर में लगे संगमरमर के पत्थर को उखाड़ कर उसे गोबर से लिपने के समान है। सम्यक् दृष्टि जीव धर्म को स्वीकार कर संसार सम्बन्धी भोगोपभोग की आकांक्षा नहीं करता हैं। वह जानता है कि संसारिक इन्द्रिय भोग राजा महाराजा नारायण प्रतिनाराण सेठ साहूकार के पद मेरे आधीन नहीं, कर्मो के आधीन है ये कर्मो के मन्दोदय तीव्रोदय से घटते बढ़ते रहते हैं वह सोचता है जो कर्मोदय से घटते बढ़ते है उसे मैं क्यो स्वीकार करूँ मैं तो कर्मो से मुक्त होने के लिए सम्यक्त्व को ग्रहण किया है न कि संसारिक भोग–सामग्री की चाहना से–ये सांसारिक

भोग कर्मजन्य है, क्षणिक है, विनाशिक है। यह न सदा से है न रहेगा पापोदय आने पर देखते–देखते समाप्त हो जायेगा।

भौतिक सम्पदा, पद, धन, शरीरिक सुख, स्त्री–पुत्र भाई जमाई सभी कर्मानुसार मिले है ये निश्चित बिछुडेंगे! इन सबका सम्बन्ध आत्मा को अशुद्ध करने वाला है। इन सबकी आकांक्षा कर मैं अपनी आत्मा को मलिन नहीं करूँगा। मैं शुद्ध तत्व चैतन्य पिण्ड आत्मा की प्राप्ति के लिए ही धर्म करूँगां सम्यक्त्व धारूँगा, मेरा लक्ष्य कर्मो के बन्धनों को तोड़ना है। जो सम्पदा कर्म के कारण प्राप्त होती है वह नियमतः संसार वृद्धि में कारण है। इस प्रकार विचार करता हुआ निःकांक्षित गुण धारक साधक कर्माधीन सुखों की आकाँक्षा न कर कर्मातीत सुखों की आकांक्षा करता है। जो संसार में भटकाते है वे कर्म है, कर्मोदय से मिले पदार्थ स्वाधीन नहीं परधीन हैं। कर्माधीन पदार्थ आज सुख दे रहे है, तो कल दुख भी दे सकते है। अतः जो दुख रूप है, वो सुख मात्र सुखाभाष है। उनकी आकांक्षा करना भूखे के लिए खेती करना हैं। संसारिक सुखों की आकांक्षा करने वाला जीव पुनः मिथ्यात्व को प्राप्त कर लेता है। आचार्य समन्त भद्र देव ने कहा है–

कर्म पर वशे सान्ते दुःखैरन्तरितोदयें।
पाप बीजे सुखेऽनास्था श्रद्धानाकाङ्क्षणा स्मृता।।12।।

अर्थात कर्मो के आधीन अन्त से सहित, दुखों से मिश्रित अथवा बाधित हो, पाप के बीज विषय सम्बन्धी सुख में अनास्था का होना निः कांक्षित अंग है।

यद्यपि सम्यक दृष्टि जीव भविष्य को सुखमय बनाने श्रद्धा एवं साधना करता है पर बँधी आकांक्षा को लेकर नहीं, अपितु मोक्ष की आकांक्षा को लेकर श्रद्धा एवं साधना करता है। मोक्ष जाने के पूर्व पडाव के रूप में सुख मिल जाय तो हेय बुद्धि से उदास वृत्ति से उसका सेवन करता है जो कर्माधीन सुख है वह शाश्वत नहीं है। उस पर आस्था करना कागज की नाव से नदी पार करना है संसारी प्राणी अनादि काल से अपनी भूल के कारण ही इन्द्रिय सुख को हीशाश्वत सुख मान रहा है और उसी को प्राप्त करने सदा प्रयत्नशील रहता हैं। इस जीव ने आत्मिक सुख को प्राप्त करने का आज तक प्रयत्न नहीं किया। जब तक मिथ्यात्व प्रकृति का उदय रहता है, तब तक कर्माधीन सुखों की आकांक्षा बनी रहती है और तब तक कर्माधीन सुखों की आकांक्षा है, तब तक संसार में अटकाव है, भटकाव है। जब जीव का मिथ्यात्व भाव समाप्त हो जाता है तब स्वतः आत्मिक सुख की रूचि जाग्रत होने लगती है। ज्ञान रूपी नेत्र पदार्थो को जीर्ण तृण के समान देखते हुए निष्कांक्ष भाव से परिपूण हो जाते हैं। आचार्य समंतभद्र देव ने इसी

बात को पुष्ट करते हुए अरहनाथ भगवान की स्तुति करते हुए कहते है कि–

लक्ष्मी विभवसर्वस्वं मुमुक्षोश्चक्र लांछनम।
साम्राज्यं सर्व भौमं ते जरतृण मिवाऽभवत।।

सम्यक् दृष्टि जीव के लिए लक्ष्मी वैभव चक्र लांछन, साम्राज्य पृथ्वी आदि जीर्ण तृण के समान है। अर्थात् सार रहित है कर्माधीन है, विनाशिक है। बिनाशिक पदार्थ की चाहना करना जीवन का विनाश करना है। जीवन का विकास करना नहीं है। इन्द्रिय जन्य सुख आत्मा का विभाव परिणाम है। पर पदार्थ के संयोग से उत्पन्न हुआ सुख अधिक काल तक नहीं रहता है। अतः ऐसे इन्द्रिय सुख की आकांक्षा नहीं करनी चाहिए; जो सुख कर्मो के आधीन है उसकी प्राप्ति के लिए षट्कर्म और खट् कर्म भी करने पड़ते है। अर्थात असि, मसि, कृषि, वाणिज्य, शिल्पकला का सहारा लेना पड़ता है। इससे साम दाम दण्ड भेद छल बल–दल नाना प्रकार के अनैतिक कार्य करने पडते है; जो पाप के बीजस्वरूप हो जाते है। इन्द्रिय सुख सामग्री के एकत्रिकरण के संरक्षण में आकुल–व्याकुल परिणाम होते है और इन्द्रिय सुख के भोग में रोग–शोक, क्लेश आदि का सामना करना पडता है। इसलिए सम्यक्–दृष्टि इन्द्रिय सुखों को दुखदायी मानता हुआ बहिर्मुखी प्रवृत्ति को छोडकर अन्तर्मुखी होता है और क्षणिक सुख की आकांक्षा नहीं करता है।

निष्कांक्षित अंग का धारक **"दुखेरन्तरितोदये"** संसार सुख को मिर्च के समान मानता हैं। जिस प्रकार मिर्च पदार्थ में मिलकर स्वाद प्रदान करती है चरपराहट उत्पन्न करती है, पर खाने के कुछ समयोपरान्त पेट में जलन आदि दुखों को प्रदान करती है। उसी प्रकार इन्द्रिय सुखभोगते समय सुखदायी महसूस होती है, पर अन्त इसका दुख रूप ही होता है। संसारी प्राणी की बडी विचित्र मनोदशा है। वह बाह्य वस्तुओं के संयोग को सुख समझकर उसे अंगीकार करता है और दुख को निमन्त्रण देता है। जिस प्रकार कुत्ता हड्डी को चबाकर छिले तालु से बहे रक्त को चूसकर स्वयं को आनन्दित महसूस (अनुभव) करता है और थोड़ी देर बाद वेदना से परिपूर्ण हो जाता है, उसी प्रकार संसारिक सुख है। घर में टी0वी0 आया सुख हुआ फिर टी0वी0 के चक्कर में पत्नी–बच्चे सभी अपने कर्त्तव्य को भूल गये और उसमें ही रम गये; तो पुनः वही टी0वी0 दुख देने में कारण बन गयी। मिठाई खाने से सुख हुआ, जब पेट में कीडे पड गये तो वही दुख में कारण हो गया। यानि की संसार की समस्त सामग्री दुख–मिश्रित है। वह चाकू पर लगी चासनी को चाटने पर सुख, जीभ कटने पर, दुख प्राप्त होता है उसी प्रकार विषयों की स्थिति है। सम्यक्–दृष्टि ग्रहस्थ में रहकर इन सब विषयों से यथाशक्ति विरक्त रहता है। कदाचित मजबूरन किसी वस्तु का उपभोग भी करना पड़े तो उदासीन भाव से करता है। जैसे मरीज कडवी औषधी को जबरदस्ती पीता है और सोचता है वह दिन

कब आयेंगा जब मैं औषध–पान से रहित हो जाऊँगा।

द्रव्य संग्रह गाथा 13 की टीका करते हुए ब्रह्म देव सूरि कहते हैं–"**मारण निमितं तलवरगृहीत तस्कर वदात्यनिन्दा सहितः सन्निद्रिय सुखमनुभवतीत्य विरतिसम्यक् दृर्ष्टे लक्षणम्।**" मारने के लिए कोतवाल से पकड़े हुए चोर की भाँति आत्म निन्दादि सहित इन्द्रिय सुख का अनुभव करता है। जिस प्रकार किराये के मकान मे रहने वाला मकान को अपना नहीं मानता, फिर भी जब तक रहता है, तब तक उसकी सफाई, सुधार व्यवस्था करता है, उसी प्रकार सम्यक दृष्टि की भी क्रिया होती है; क्योंकि सम्यक–दृष्टि जानता है कि कर्माधीन सुख सावधिक है, जितना कर्माधीन सुखों को भोगा जायेगा आत्मा उतनी ही कर्माधीन हो पुनः बन्धती चली जायेगी।

संसारिक जीवों के पुण्य के उदय के साथ पाप भी मिला रहता है। इस लिए सम्यक–दृष्टि जीव रेत मिले हलवा खाने के समान दुख पूर्ण इन्द्रिय सुखों की चाहना से रहित हो जाता है। सम्यक–दृष्टिभोग भोगते वक्त (समय) सिंह के सम्मुख बँधे बकरे के समान भयभीत हो, सदा अनासक्त रहता है। वह समस्त संसारिक भोग–सामग्री को **'पाप बीजे सुखेनास्था'** पाप का बीज समझता है और आस्था रहित हो जाता है। जिस प्रकार बीज को भूमि में बो दिया जाता है तो वह वृद्धि को प्राप्त होती है। नये बीज को जन्म देता है; उसी प्रकार आकांक्षा नये पाप को जन्म देती है, जिससे इसकी सन्तति चलती रहती है। सांसारिक पुण्य के उदय से नारायण, प्रति नारायण आदि पद की प्राप्ति अवश्य हो सकती है पर नरकादि का दुख अवश्यमेव भोगना पडता है पाप से मिली संपदा पाप को ही बढाती है। इस लिए निष्कांक्षित गुणधारी कर्माधीन सुख को अन्त में दुखकारी पाप बीज रूप मानकर,इस पर श्रद्धा नहीं करता है। उसी के निष्कांक्षित गुण पनपता हैं।

वास्तव में देखा जाये तो धर्म धारण कर त्याग तपस्या कर, पूजा–पाठ यात्रा वन्दना आदि कर पुण्यफल की चाहना के रूप में संसारिक वस्तु की आकांक्षा करना अपने घर में स्थित कल्पवृक्ष को काटकर धतूरे के वृक्ष को लगाना है और अपनी अज्ञानता प्रगट करता है। देव–शास्त्र–गुरु के चरणो में उपासक बनकर जाना चाहिए याचक बनकर नहीं जाना चाहिए। आराध्यत्रय के चरणो में पुजारी बनकर जाना चाहिए भिखारी बनकर नही जाना चाहिए। आराध्य त्रय के पास जाकर पदार्थ को माँगना आराध्य त्रय का अपमान है प्रधान मंत्री के साथ मित्रता है और हम प्रधान मंत्री से चपरासी पद के लिए याचना करते है तो मित्रता का अपमान है अगर प्रधान मंत्री के हम सच्चे मित्र है तो प्रधान मंत्री स्वयं चिन्ता करेगा कि योग्यता कितनी है उसी प्रकार हम आराध्य त्रय के सच्चे भक्त है तो स्वयं भक्ति के अनुसार फल की प्राप्ति हो जायेगी। आचार्य पुष्पदन्त सागर जी महाराज कहते है जब मित्रता में सन्देह होता है तभी माँगना होता है। जब

श्रद्धा में सन्देह होता है, भक्ति में कमी होती है, साधना अपूर्ण होती है तभी माँगना होता है। भगवान के सामने माँगना नहीं, स्वयं को मिटाना है। उपासना की छाती में याचना चढ़ जाती है तो सारी साधना धूल में मिल जाती है। मॉगने से प्रार्थना दूषित हो जाती है। और सारी साधना धूल में मिल जाती। आकांक्षा की बदली भक्ति के सूर्य को आच्छादित कर देती है। इस लिए जब कभी भी आराध्य त्रय के पास जाये तो कुछ मॉगे नहीं, क्यों कि माँगना अपनी क्षुद्रता को प्रगट करना है। माँग की छोटी अंजुलि में परमात्मा का विशाल सागर नहीं समा सकता है। अगर आराध्य त्रय की भक्ति कर व्रत, नियम त्याग, तपस्या कर बुद्धि के अनुसार माँग कर लिया जाता है तो वह पुण्य सीमा में कैद हो जाता है और चाही वस्तुमिल जाती है; पर सारा (समस्त) आत्मिक पुण्य समाप्त हो जाता है। इसलिए अपनी असीम भक्ति, आराधना, उपासना, त्याग, तपस्या को मांग की सीमा में कैद नहीं करना चाहिए। भक्ति आदि की चिमनी में मॉग का कालिख पुत जाता है, तो आत्मिक आनन्द की ज्योति का प्रकाश बाहर प्रगट नहीं हो पाता है।

निष्कांक्षित अंग का धारक परमात्मा की भक्ति करके कहता है–अब मेरी कोई इच्छा नहीं है, कोई भी भाव नहीं है। मैंने अपनी सब आकांक्षाओं को तिरोहित कर दिया, सब कामनाओं को दफना दिया, अपनी इच्छाओं की अर्थी उठा दी, मैंने अपनी वासना को चिता पर लिटा दिया है। अब मैं उपासना एवं साधना करना चाहता हूं। मैं आपके पास झोली फैलाने नहीं झोली छोड़ने आया हूँ। अब मैं संसारिक भोग को माँगूगानहीं, भोग को छोड कर जाऊँगा। इस प्रकार की भावना से वह मिले हुए सांसारिक पदार्थ की उपेक्षा करता है, त्याग करता है, बचता है या उदासीन भाव से भोगता है। वह यह सोचता है कि परमात्मा ने भी पहले इन्हें छोड़ा है फिर ये भगवान बने है, जिन्हें आराध्य देव ने छोडा है उसे उन्हीं से मॉगना, संसार बन्धन का कारण है, दुख का कारण है जन्म–मरण का कारण है। अगर सम्यक दर्शन प्राप्त करने के उपरात्त पुनः दुखी होना हो तो आकांक्षा से भरना। परम सुख को उपलब्ध होना हो तो निष्कांक्ष भाव से पूजा–भक्ति, आराधना, त्याग, तपस्या को अपनाये और भीतर से एक दम खाली हो जायें। आत्मा अपने आप परमात्मा की अमर अनन्त सम्पदा से भर जायेंगी। परमात्मा की भक्ति में धैर्य और इन्तजार की आवश्यकता है। भक्ति में त्याग–तपस्या में मात्र स्वयं के परमात्मा को पुकारा जाता है, प्रार्थना की जाती है, इन्तजार किया जाता है, द्वार पर दस्तक दी जाती है। जब परमात्मा आत्मा में उतरता है वह अपने जैसा बना लेता है।

निष्कांक्षित अंग कहता है अग्नि के ऊपर दूध रखकर अग्नि से प्रार्थना मत करो कि हे अग्नि देवता। दूध को गर्म कर दें। मात्र इन्तजार करो, दुध स्वतः गर्म हो जायेगा। पूर्व दिशा की ओर मुख करके खड़े हो जाओ, याचना मत करो कि हे सूर्य! तू मुझे दर्शन दे। वह सूर्य अपने आप दर्शन दे देगा। उसी प्रकार परमात्मा की भक्ति आदि करके

किसी पदार्थ की याचना नहीं करना है वह तो अपने आप प्राप्त हो जायेगा, मात्र लक्ष्य का ख्याल रखना है। परमात्मा की आराधना में अपने आप को तिनके की भाँति छोड़ देना है। त्याग की गहराई में डूब जाना है। प्रार्थना, उपासना, त्याग, साधना के कृत्य को बिना याचना के पूरा करना है याचना करने से भक्ति की दीवार गिर जाती है। परमात्मा से सम्बन्ध टूट जाता है। अयाचक माँग की प्रवृति को नहीं त्याग की प्रवृति को स्वीकारता है। इस लिए वह ग्रहस्थ जीवन में भोग से परे और साधु जीवन में कभी वृक्ष के कोटर में, कभी श्मशान में, कभी चैत्यालय में कभी एकान्त कमरें में, कभी छत में ध्यान करता है, शरीर चलाने के लिये चर्या भी करता है, जो मिला उसी में संतुष्ट होता है कभी किसी से कुछ मॉगता नहीं मात्र स्वयं को शिशु की भॉति परमात्मा रूपी मॉ के चरणों मे सोंप देता है। बस इतना सोचकर–

बिन मॉंगे मोती मिले मॉंगे मिले न भीख।
मॉंगन से मरना भला यही गुरु की सीख।।

मॉगने से भीख भी नहीं मिलती है, मिलती भी है तो तिरस्कार के साथ भिक्षा मिलती है और बिना मॉगे मोतियों के ढेर मिल जाते है। जिस माँग से तिरस्कार, फटकार, दुतकार मिलती है; ऐसी मॉग से जीवन रहित हो जाना श्रेष्ठ है। परमात्मा से मॉग करने पर संसार की दुतकार, कर्मो की फटकार, मुक्ति का तिरस्कार ही मिलता है और बिना मॉगे उपासना करने से अनन्त दर्शन ज्ञान, सुखादि मोतियो के ढेर स्वतः मिल जाते है। संसार के समस्त वस्तुओं की आकांक्षा अपमान की जननी है, जब जीव संसारिक वस्तुओं की आकांक्षा से रहित हो जाता है, तब उसे आध्यात्मिक सम्पदा के साथ स्वतः समवशरण की विभूति रूप लौकिक सम्पदा की प्राप्ति हो जाती है। इस लिए भगवान महावीर स्वामी ने कह दिया कि भगवान के पास या साधना स्वीकार कर कुछ भी मत माँगना। कदाचित भक्ति से, साधना से तप से पुण्योदय से पदार्थ सामने भी आये तो उपेक्षा कर देना त्याग कर देना, उसके प्रालोभन में नही फॅसना, उससे आकर्षित नहीं होना; क्यों कि भक्ति त्याग साधना से पुण्य जाग्रत होता है, विभूति सामने आती है।

पुण्य लुटने, देवी–देवता, राजा–महाराजा, चक्रवर्ती आदि आते है सेवा करते है, तब कही उनकी विभूति को देख कर आकांक्षा कर बैठने से पुण्य क्षीण हो जाता है। मन उनकी विभूति सम्मान को पाने को करता है। उस वक्त सावधानी आवश्यक है, मैं सत्य को पाना चाहता हूँ, असत्य के पीछे आज तक खोया ही खोया है। अब असत्य में नहीं, परमसत्य में प्रवेश पाना है अब मुझे मॉगना नही सौपना है और बीज की भाँति अपने आपको किसान के हाथों सौंप देता है और किसान भी बीज का इन्तजार करता है, धैर्य रखता है। धैर्य और इन्तजार के बीज से उपलब्धि का अंकुर फूटता है, पीला होता है, लाल होता है, हरा होता है और बढ़ते–बढ़ते वृक्ष का रूप धारण कर लेता है।

बीज का यह समर्पण भाव निष्कांक्षित भाव उसे बिना माँगे सब कुछ प्रदान कर देता है। जड़े पृथ्वी की गहराई मे चली जाती है। शाखाएँ आकाश में फैल जाती है। वृक्ष फल–पत्तों से भर जाता है। आज तक किसी भी किसान ने बीज को फोड़कर खींच कर अंकुर नहीं निकाला। मात्र बीज का समर्पण उसे इस योग्य बना देता है। संसार में आज तक किसी भी माता–पिता ने अपने पुत्र को खींच–खींच कर लम्बा नहीं किया बड़ा नहीं किया सिर्फ पुत्र अपने आपको पूर्णतया माता–पिता के चरणों में समर्पित कर देता है फिर माँ स्वयं दुध पिलाती है, भोजन पानी आदि देकर सुरक्षा देती है, जीवन दान देती है, जीने का वरदान देती है। पुत्र का समर्पण ही उसे पिता के योग्य बना देता है। उसी प्रकार भक्त साधक भी अपने आपको परमात्मा के चरणों में समर्पित कर देता है, उनका स्मरण करता है, पूजन करता है, ध्यान करता है, गुणगान करता है और एक समय वह आता कि वह स्वयं की गहराई मे प्रवेश कर स्वयं परमात्मा स्वरूप हो जाता है उसे समस्त सम्पदा की प्राप्ति बिना माँगे हो जाती है। सम्पदा का अटूट खजाना आत्मा में भरा है उसे बाहर खोजने की आवश्यकता नहीं, भीतर खोदने (खोजने) की आवश्यकता है। याचना की नहीं प्रार्थना की आवश्यकता है। अभी तक हमारी प्रार्थना, साधना झूठी है, क्योंकि हमने माँग की गन्दगी को लेकर भक्ति उपासना साधना की है। वन्दगी को लेकर नहीं की है। अब शुद्ध चैतन्य तत्व की उपलब्धि करने निष्कांक्षित अंग को धारण करें। माँग ना करे, क्यों कि भविष्य के लिए कुछ भी माँगना निदानबन्ध करना है और अप्रशस्त निदान बन्ध अन्ततः दुख में ही कारण है।

यद्यपि पंचम गुण स्थान एवं छटवें गुण स्थानवर्ती जीव भी निदानबन्ध करते है। मोहाभिभूत होकर वे विशेष भोग–पदार्थ की आकांक्षा कर लेते है। यह तत्जन्य कषाय सम्बन्धी निदान है। अप्रत्याख्यान प्रत्यख्यान और संज्जवलन कषायोदय जनित मोह की दृष्टि भी जीव को कदाचित् विवेक से रहित कर देती है और जीव स्वंय के स्वभाव को भूल कर भोगाकांक्षा रूप निदान कर लेता है। यद्यपि यह निदान सम्यक्त्व का घात नहीं करता हैं लेकिन कालान्तर में सम्यक्त्व घांत में नियमतः कारण होता है। निदान करना शुद्धोपयोग से रहित अवस्था तक है फिर भी सम्यक–दृष्टि का लक्ष्य आत्मा को पाने का होता हैं। उत्कृष्ट जीवन का उत्कर्ष चाहने वाले निदानबन्ध, निदानशल्य, निदान आर्तध्यान से रहित होने का प्रयास करते है और इहलोक, पर लोक सम्बन्धी आकांक्षा के साथ वीतराग धर्म को छोडकर अन्य धर्म को प्राप्त करने की भी आकांक्षा नहीं करता है। द्रव्य संग्रह ग्रन्थ में गाथा 41 की टीका करते हुए आचार्य ब्रह्म देव सुरि लिखते है कि–**इहलोक परलोकाशारूप भोगाकांक्षा निदान त्यागेन केवल ज्ञानादिअनन्त गुण व्यक्तिरूप मोक्षार्थ ज्ञान पूजा तपश्चरणादि करणं निष्कांक्षा गुणः भण्यते। निश्चयेन पुनस्तस्यैव**

व्यवहार निष्कांक्षा गुणस्य सहकारितवेन दृष्ट श्रुतानुभूत पञ्चेन्द्रिय भोग त्यागेन निश्चयरत्नत्रय भावनोत्पन्न पारमार्थिक स्वात्मोत्य सुखामृत रसे चित्त संतोषः स एव निष्कांक्षा गुण इति। इस लोक तथा पर लोक सम्बन्धी आशारूप भोगाकांक्षा निदान के त्याग के द्वारा केवलज्ञानादि अनन्त गुणों की प्रगटता रूप मोक्ष के लिए ज्ञान पूजा तपश्चरणादि अनुष्ठानों का करना निष्कांक्षित गुण है तथा निश्चय से उसी निष्कांक्षा गुण की सहायता से देखे सुने तथा अनुभव किये हुए जो पंचेन्द्रिय सम्बन्धी भोग है, इनके त्याग से तथा निश्चिय रत्नत्रय की भावना से उत्पन्न जो पारमार्थिक निज मोक्ष सुखरूपी अमृत रस हैं। उसमें चित्त को संतुष्ट होना निष्कांक्षित गुण है, जब तक इसका विच्छेद नहीं किया जाता है तब तक जीवात्मा, पुण्यात्मा, शुद्धात्मा एवं परमात्मा नहीं बन सकती हैं सम्यक् दृष्टि को विभाव भाव का अभाव करके देव–शास्त्र–गुरु का निष्कांक्ष उपासक बनकर मुनित्व स्वीकार कर स्वरूपभाव में स्थिर होना चाहिए।

निर्विचिकित्सा अंग - अर्थात–ग्लानि का आभाव शरीर स्वभाव से अपवित्र है, शरीर मलों का पिटारा है। इस प्रकार शरीर की वास्तविकता को जानकर सम्यक्–दृष्टि जीव रत्न त्रय से पवित्र साधक के मलयुक्त शरीर को देखकर किंचित भी ग्लानि नहीं करता है। वह शरीर की सेवा सुश्रुषा ग्लानि रहित होकर करता है। वह जानता है कि शरीर पूज्य नहीं है अपितु शरीर के भीतर आत्मा में रत्नत्रय विद्यमान है वही पूज्य है ग्रहणीय है। अतः जिस प्रकार मल में पडे हीरे को नहीं छोडा जाता है; उसी प्रकार मलिन शरीर रूपी तिजोरी के भीतर रत्नत्रय रूपी खजाना भरा है। वह छोड़ा नहीं जाता। वही उपादेय है, उन्हीं गुणों के प्रति प्रीति करता है, उसी गुणो की प्राप्ति की चाहना सम्यक–दृष्टि की होती हैं।

वास्तव में देखा जाय तो संसार के अमीर–गरीब राजा–रंक, सेठ साहूकार, विद्वान, मूर्ख सभी का शरीर माता–पिता के रज और वीर्य रूपी मल से उत्पन्न हुआ है। इसलिए सुन्दर शरीर को देख कर प्रीति करना, असुन्दर शरीर को देखकर ग्लानि करना स्वभावगत भूल है। शरीर केवलज्ञान के पूर्व अपने अशुद्ध स्वभाव को नहीं छोड़ता है। लेकिन जब इसी मलिन शरीर को धारण करते हुए रत्नत्रय को धारण कर लिया जाता है तब भीतर का परमात्मा प्रगट होने लगता है। इस संसार में देवों का शरीर मल रहित अत्यन्त पवित्र है, पर रत्नत्रय की धारण की अयोग्यता होने से पूज्य नहीं है। नारकी एवं तिर्यञ्च का शरीर अपवित्र है। पर वह भी पूर्ण रत्नत्रय के धारण की योग्यता नहीं रखते है। इसलिए ये भी अपूज्य है।

अतः मनुष्य का ही शरीर ऐसा शरीर है, जो मलों से युक्त हो कर भी रत्नत्रय धारण की योग्यता होने से पूज्य है, प्रीति योग्य हैं। अतः शरीर की अपवित्रता का ख्याल न

रखते हुए मुनियों के प्रति ग्लानि–रहित आदर व्यक्त करना ही निर्विचिकित्सा नाम का गुण है। यदि कदाचित् रत्नत्रयधारी मुनियों के शरीर में रोग हो जाये शरीर से मलादि बहने लगे शरीर से अत्यन्त दुर्गन्ध आवे कि पास बैठना, खड़ा होना भी दुभर हो जाये। ऐसी गम्भीर स्थिति में भी सम्यक् दृष्टि जीव उनकी सभी प्रकार से सेवा करता है। मनमें ग्लानि का भाव नहीं लाता उनकी सेवा को अपना सौभाग्य समझता है और उनके थूक–लार मल–मूत्र, वमन आदि को उठाने मे सफाई में ग्लानि रहित होकर, सेवाकर अपने सम्यक्त्व को दृढ करता है। सम्यक् दृष्टि जीव बाह्य रूप व मलिनता को न देख करके अन्दर के रूप व स्वच्छता को देखता है। अन्तर्दृष्टि होने के कारण उनके मन में मुनि के शरीर के प्रति ग्लानि का भाव नही गुणो के प्रति प्रीति की भावना जागृत होती है क्योंकि जब यह मलिन शरीर रत्नत्रय को धारण कर लेता है, तो जहाँ कहीं भी रत्नत्रय से युक्त होकर, भ्रमण करता है वहाँ की धरती स्वतः पावन, शान्त, सौहार्दपूर्ण हो जाती है। जैसे फूल पराग से परिपूर्ण होता है तो भौंरे स्वत चारों तरफ मण्डराने लगते हैं। इसलिए आचार्य समन्त भद्र देव ने कहा–

स्वभावतोऽशुचौकाये रत्नत्रय पवित्रते।
निर्जुगुप्सा गुण प्रीतिर्मता निर्विचिकित्सता ।।3।।

अर्थः स्वभाव से अपवित्र किन्तु रत्नत्रय से पवित्र धर्मात्माओं के शरीर में ग्लानि रहित गुणों मे प्रीति है। वह निर्विचिकित्सा नाम का अंग है

सम्यक् दृष्टि की दृष्टि शरीर पर नहीं शरीर के भीतर विद्यमान गुणों पर होती है। संसार में रूप, कुल, धन, उम्र की पूजा नहीं होती है, अपितु गुणों की पूजा होती है। इसलिए रत्नत्रय से युक्त साधक सर्वत्र पूज्य है। सम्यक्–दृष्टि जीव अपने थोडे आचरण की वृद्धि के लिए मुनियों के सम्पूर्ण आचरण को ग्रहण करने का प्रयास करता है। उसके मन में यह भाव उत्पन्न नहीं होता है कि जैन धर्म में सभी बातें अच्छी है। पर नग्न रहना स्नान न करना, दाँत नहीं धोना, मलिन शरीर का रखना, खडे होकर खाना, ये सब बाते अच्छी नहीं है इस प्रकार के विचार करने से धर्माचरण के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न होता हैं। जो सम्यक्त्व से च्युत करने में कारण है। "**गुणप्रीति**" शब्द गुणों की तरफ की दृष्टि रखने को कहता है। वह अर्जुन के समान लक्ष्य भेद के लिए मात्र आँख पर ही निगाह रखता है अर्थात् गुण पर ही निगाह रखता है; जो ग्लानि से युक्त होता है वह कदापि गुण ग्राही नहीं हो सकता है। अगर उसकी घृणा की दृष्टि होती भी है तो मात्र पापों से ही होती है। अन्य किसी से नहीं होती है।

पापों से घृणा करने वाला अगर पाप कर्मोदय से उत्पन्न अन्धा–लूला, लंगड़ा, कोढी, रोगी आदि को देखता है तो वह उनका शीघ्र उपचार, सेवा आदि करता है। वह सोचता

है– मेरा स्वभाव पाप से घृणा करने का है, पापी से नहीं। अतीत का पाप उदय में आकर इस प्रकार का फल प्रदान करता है, मुझसे ऐसा पाप न हो जाये, नहीं तो मुझे भी इस प्रकार का दुख देखना पडेगा। वह पाप से बचने रोगग्रस्त, अशक्त जीवों की सेवाकर निर्विचिकित्सा अंग का पालन करता है। सम्यक्–दृष्टि जीव की सेवा में ही अपने कल्याण का प्रारम्भ मानता है। वह शरीर की वास्तविकता को जानकर सम्यक् पथ पर अग्रसर होता हैं। वह संसार में रहता हुआ निरन्तर अपने अन्दर विद्यमान अवगुणों को देखकर उसे नजर अंदाज करता हुआ मात्र उसके गुणों की प्राप्ति का प्रयास करता है।

सम्यक्–दृष्टि जो दिगम्बर मुनि का परमोपासक होता है, वह उसके नग्न शरीर को देखता हुआ अथवा रोगादि से पीड़ित शरीर को देखता हुआ उनके शरीर से निकलता पसीना, मवाद या अन्य शारीरिक गन्दगी को देखता हुआ भी अपने भीतर घृणा के भावों को जन्म नहीं देता है। वह यह विचार नहीं करता है कि जो अपने तनको पवित्र स्वच्छ साफ, निरोग नहीं रख सके, वे क्या अपनी आत्मा को स्वच्छ साफ निरोग रख सकेंगे? सम्यक्–दृष्टि सीप की नहीं, मोती की दीप की नहीं ज्योति की आराधना करता हैं। वह शरीर की नहीं, शरीर के भीतर तिष्ठे आत्मा में विद्यमान रत्नत्रय रूप गुणों की पूजा करता है। वह बाह्य शरीर को देखकर घृणा नहीं अपितु अन्तरंग के गुणों को निहार कर उनके गुणों की प्राप्ति की हर्षातिरेक के साथ उसे पाने की भावना करता हैं और आत्मस्वभाव प्राप्ति की साधना में रत हो जाता है। सम्यक्–दृष्टि जीव शरीर के श्रृंगार से दूर भागता है। वह मुनियों के रत्नत्रय से पवित्र शरीर को देखकर यह विचार करता है कि हे आत्मन्! इस शरीर रूपी कोयले को कितना भी साबुन से घिसा जाय, इससे काला पन ही उत्पन्न होगा और पुरूषार्थ व्यर्थ जायेगा, तो फिर क्यों शरीर को देखूँ? उसे स्वच्छ रखूँ, उसके पीछे भागूँ। मेरा धर्म आत्मा की सफाई का हैं। आत्मा को साफ करने से शरीर स्वयं साफ हो जायेगां मेरी आत्मा तो अनन्त् ज्ञानादि गुणों का भण्डार है। पूर्वोपार्जित कर्मोदय से इसके गुण आच्छादित है। लेकिन आत्मा के गुणों को प्रगट करने का गुण तो मुझे भी इन मुनिराज के समान ससारिक पदार्थ से पार होकर आत्मा को प्राप्त करता हैं यही मेरा स्वभाव है, यही निज की चिकित्सा हैं।

आचार्य समन्त भद्र निर्विचिकित्सा अंग की गहराई में प्रवेश कर एक गहरी अनुभवात्मक सच्चाई को प्रगट करते हुए कह रहे है–**''स्वभाव-तौऽशुचौ काये रत्नत्रय पवित्रते।''** शरीर स्वभाव से अपवित्र है, रत्नत्रय से पवित्र होता है। अतः हे भव्य जीवो! शरीर की अपवित्रता को देखकर रत्नत्रय की अवहेलना मत कर देना अन्यथा तुम्हारे जीवन में रत्नत्रय की प्राप्ति व पूर्णता कभी नहीं हो पायेगी; क्यों कि निशंकित अंग को स्वीकार करके शास्त्र को स्वीकार कर लिया है निःकांक्षित अंग को स्वीकार करके वीतरागी परमात्मा की उपासना कर ली हैं। अब शेष बचे है– गुरु–गुरु जीवन्त हैं अभी साधना

का एवं कर्म का उतार–चढ़ाव चल रहा है। शरीर मलिन रोग ग्रस्त हो सकता है। कहीं बाह्य को देख ग्लानि का भाव उत्पन्न हो सकता है। अतः अपने परिणामों में श्रद्धा की निर्मलता रख रत्नत्रय की भावना रख ताकि सन्त के रत्नत्रय को देखकर तेरे जीवन में भी रत्नत्रय की बसन्त बहार आ सकें। यह निर्विचिकित्सा अंग सम्यक्त्व की महत्वपूर्ण कसौटी है। जो अपने आप को सम्यक् दृष्टि कहता है और मुनियों के शरीर को देखकर ग्लानि करता है, भक्ति नहीं करता है उसकी दृष्टि अभी बाहर की ओर है। वह अविवेकी है, वह तत्व ज्ञान व श्रद्धान से दूर है, अपने कर्त्तव्य से च्युत है। उसके भीतर अभी भेद ज्ञान प्रगट नहीं हुआ है। आचार्य देव निर्विचिकितसा अंग का पालन करते हुए मुनियों के प्रति भक्ति जाग्रत करा रहे है और शरीर को नहीं आत्मा को देखने की शिक्षा दे रहे है, क्योंकि इस नश्वर शरीर के भीतर ही ईश्वर विद्यमान है।

यदि मात्र शरीर की तरफ ही दृष्टि रखी जाय तो भी सम्यक दृष्टि जीव ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के शरीर से भी ग्लानि नहीं करता; क्यों कि व्यक्ति जन्म से नहीं कर्म से महान बनता है। कर्म को स्वीकारने वाला जीव दुर्दैव के कारण दुखी रहने वाला जीव व असाता के कारण घृणास्पद शरीर को धारे हुए जीव को देखकर मलिनता का भाव नहीं लाता मात्र कर्म का ही विपाक मानता है। लेकिन सिद्धान्त की तरफ दृष्टि रखी जाये तो ब्राह्मण, क्षत्रिय, वेश्य का शरीर ही रत्नत्रय से पवित्र व पूर्ण हो सकता है। शुद्र एक देश रत्नत्रय को उपलब्ध हो सकता है। इस अशुचिमय काया की पवित्रता मात्र सम्यक् दर्शन से नहीं होती है। मात्र सम्यक्–दर्शन से युक्त जीव सम्मान के योग्य है और रत्नत्रय से युक्त जीव पूजा के योग्य है; जो पूजा के योग्य है वे ही पवित्र है वे ही रत्नत्रय के धारी साधक है उन्हीं के गुणों में विशेष प्रीति, रखनी चाहिए ताकि उनके गुण आत्मा में प्रगट हो सकें।

निर्विचिकित्सा अंग के धारक जीव ग्रहस्थ जीवन में है तो वे साधक के शरीर से व अपने योग्य धार्मिक कार्यो से किञ्चित भी ग्लानि–युक्त नहीं होते और अगर वे मुनि जीवन् में प्रवेश कर गये है तो भूख प्यास शीत उष्ण आदि बाधाओं को देखकर अथवा जिन मार्ग से परिषह उपसर्ग आदि के कष्टों को बहुत झेलना पड़ता है। इस प्रकार का विचार करके मार्ग के प्रति ग्लानि नहीं करते है। मिथ्या दृष्टियों के द्वारा मुनिवेश चर्या क्रिया की निन्दा होती हो, जिन धर्म के रहस्य, भूत अर्थो को न जानने वाले स्वभाव से कुटिल, मिथ्यात्व से दूषित जीव वीतरागी भेष (वेश) की निन्दा करते है; तो भी धीर–वीर, गम्भीर मुनिराज मन में किसी भी प्रकार का ग्लानि का भाव नहीं लाते हैं। वे मुनिराज तो ऐसे समय मे संसार की विचित्रता का ही चिन्तवन करते है। सोचते है– ओह! पर्याय दृष्टि में फँसा जीव कैसा है? मेरे बाह्य रूप को देखकर भीतर के परिणाम को कलुषित कर रहा है। अहो–इसे कब सदबुद्धि आयेगी? कब यह पर्याय–दृष्टि को हटाकर

द्रव्य–दृष्टि में प्रवेश करेगा? मुनिराज की करूणामय दृष्टि उसके सुधार की ही कल्पना करती है।

सत्य तो यह है कि शरीर के दूषणों का अवलोकन करके जो पुरुष सुन्दर तत्वज्ञानी, रत्नत्रयधारी साधु से घृणा करता है वह मूढ़ बुद्धि मानों कालिमा के भय से हाथ में आये हुए स्वर्ण को छोड़ता है। जो शुद्ध आत्मा ध्यान में संलग्न है, ब्रह्मचारी है, व्रत एवं मन्त्र से पवित्र है ऐसे साधुओं द्वारा नग्न रहना, स्नान न करना, दोष युक्त नही हैं। उनकी नग्नता बालक की सहजता निर्विकारता है तथा उनका अस्नानपना जीवों की दया है। मुनिराज तो जो अंग अशुद्ध होता है मात्र उसे ही कमण्डलु के जल से शुद्ध करते है; क्यों कि अँगुली को सर्प द्वारा काट लिए जाने पर अँगुली ही काटी जाती है। नाक नहीं। उसी प्रकार शरीर का जो अंग गन्दा हो उसे ही साफ किया जाता है–अन्य नहीं। इंसान को अल्प बुद्धि से काम नहीं लेना चाहिए। बाह्य रूप को न देख कर अन्तरंग को निहारना चाहिए ताकि पाप कर्म का आश्रव न हों।

अब यहाँ मुनियों के प्रति श्रद्धा प्रगट कराने स्वरूप लम्बी व्याख्या को सुनकर कोई जिज्ञासु अपनी जिज्ञासा व्यक्त करते हुए कह रहा है कि– हे गुरुदेव! जिसकी आत्मा रत्नत्रय से युक्त है, जो साधक भाव–लिंग से युक्त नहीं है, मात्र द्रव्यलिंगी है, बाह्य चारित्र से युक्त है; क्या उन्हें भी रत्नत्रय से युक्त मानकर पूजा जा सकता है? ऐसे साधक की पूजा–उपासना–आराधना करने से क्या सम्यक्त्व कायम रह सकता है? इस जिज्ञासा का समाधान करते हुए गुरु महाराज कहते है कि–हे भव्य! बाह्य चारित्र के प्रगट हुए बिना अन्तरंग चारित्र तीन काल में भी प्रगट नहीं होता हैं। अतः छद्मस्थ जीवों को बाह्य व्यवहार चारित्र का ध्यान रखना चाहिए। अन्तरंग निश्चय चारित्र का ज्ञान छद्मस्थों को नहीं होता हैं। अतः द्रव्यलिंग को देखकर ही अपनी अवस्थानुसार सम्पूर्ण विनय भक्ति करने से सम्यक्त्व कायम रहता है। अल्पज्ञ अवस्था में रहकर भावलिंग के खोज का प्रयास तो अन्धे द्वारा सूई की खोज करने के समान व्यर्थ है। व्यवहार चारित्र रूप दिगम्बर मुद्रा को देखकर मुद्रा के प्रति सम्मान व्यक्त करना ही सम्यक् दृष्टि का लक्षण है। इन्द्रनन्दी आचार्य ने कहा भी है–

मुद्रा सर्वत्रमान्यास्यान्निर्मुद्रो नैव मन्यते।
राज मुद्रा धरोऽतयन्त हीनबच्छास्त्र निर्णयः ।।

सभी जगह मुद्रा माननीय है। मुद्रा रहित का सम्मान नहीं होता है। जिस प्रकार राज मुद्रा को धारण करने वाला अत्यन्त हीन मनुष्य भी मान्य होता है, उसी प्रकार जिन मुद्रा धारण करने वाला साधक भी मान्य है। सम्यक–दृष्टि पहले आगम कथित वेश को स्वीकार करता है फिर आगम वर्णित चारित्र की गहराई में जाता है। बाह्य चारित्र ही

अन्तंरग चारित्र को पहचानने का साधन है। चारित्र साधक, की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। अपितु उनमें विद्यमान गुणों से प्रीतिकरनी चाहिए, श्रद्धा करनी चाहिए। अगर वह अपने पद के अनुसार श्रद्धासेवा, परिचर्या, विनय, वैयावृत आदि नहीं करता है तो वह अपराधी है, मिथ्यात्व से युक्त है। जिन मुद्रा की विनय ही सम्यक् दृष्टि का लक्षण है। जिस प्रकार भौरा, कांटे, पांखँडी, पत्तियों आदि पर दृष्टि न रखकर मात्र पराग पर ही दृष्टि रखता है। उसी प्रकार सम्यक्–दृष्टि रत्नत्रय धारी मुनि को देखकर रत्नत्रय को ही देखता है अन्य क्रिया को नहीं देखता है। वही जीव **"निर्जुगुप्सा गुणप्रीति"** पद को सार्थक करता है, अपने जीवन में उतार पाता है अन्यथा मुद्राधारी मुनि के प्रति जरा सी ग्लानि उपेक्षा का भाव संसार के गहरे सागर में डालने में समर्थ हो जाता है।

आचार्य समन्तभद्रदेव **"गुण प्रीति"** शब्द कहकर बहुत बड़ी शिक्षा देते हुए कह रहे है कि–प्रीति करना अर्थात् निस्वार्थभाव से गुणों के प्रति स्नेह करना और अपने अन्दरप्रगट करने का पुरुषार्थ करना। गुणों के प्रति–प्रीति निस्वार्थ निष्कांक्ष भावों से होती है। अगर चमत्कार मंत्र–तंत्र शक्ति आदि को देखकर प्रीति की है तो वह प्रीति, प्रीति नहीं स्वार्थ है, बन्धन हैं। शरीर की गन्दगी, वीभत्सता को देख कर वृद्धावस्था के जर्जर शरीर को देखकर स्वाभाविक ग्लनि का भाव उत्पन्न हो और चमत्कार आदि को देखकर तात्कालिक विश्वास प्रगट हो जाये तो वह श्रद्धा निर्विचिकित्सा पूर्ण नहीं है। निर्विचिकित्सा स्वयं की आत्मा की चिकित्सा करना है। निन्दा, अपवाद, अवर्णवाद से दूर रहना है। ये सब कार्य मिथ्या दृष्टि का होता है। विचिकित्सा करना मिथ्या दृष्टि की अज्ञान मूलक क्रिया हैं। दिगम्बरत्व की साधना का रहस्य न समझकर दोषोद्भावन करना, गुणों को अन्यथा रूप प्रगट करना मिथ्यादृष्टि का कार्य है। सम्यक्–दृष्टि हंस की भाँति दूध को ही ग्रहण करता है और रत्नत्रय के धारी का पूर्ण समादर विनय करता है और अपने मलिन तन में चारित्र का कमल खिलाने का प्रयास करता है।

आचार्यो ने ग्रन्थों में भी कहा है–

अभिरेण मिरामालिणेन निम्मला निष्ठुगुणेन गुण सारां।
काएण जा विढ़प्पई साकिरिया किं न कायव्वा ।।

यदि अस्थिर शरीर से स्थिर मलिन से निर्मल और निर्गुण से सगुण क्रिया की जाती है, तो उसे क्या नहीं करना चाहिए? अर्थात् कब क्या करना चाहिए? क्योंकि यह शरीर अस्थिर मलिन और निर्गुण है तथापि इससे रत्नत्रय का भाव सहित पालन कर मोक्ष प्राप्त किया जा सकता है। वह मोक्ष स्थिर निर्मल और अनन्त गुणों से युक्त है। अतः शरीर की अपवित्रता को लक्ष्य में न रखकर, जो शरीर के माध्यम से आत्मा का हित करता है वही अपने मनुष्य जन्म व जीवन को सफल व सार्थक करता हैं।

आराध्यगुरुवर आचार्य श्री पुष्पदन्त सागर जी महाराज निर्विचिकित्सा गुण का विवेचन करते हुए कहते है कि जब आत्मा में करूणा पैदा होती है प्रेम का नीर बरसता है, आनन्द की वर्षा होती है तब साधक किसी से घृणा नहीं करता है किसी की निन्दा बुराई आलोचना द्वेष आदि नहीं करता है क्योंकि उसकी आत्मा पवित्र हो जाती है, प्रेम से परिपूर्ण हो जाती है उसकी आत्मा में चरित्र के प्रति, गुणों के प्रति श्रद्धा के सुगन्धित फूल खिल जाते है। जब सम्यक्त्व में कमी होती है, तब चारित्र के फूल नहीं दिखते, न आत्मा में श्रद्धा के फूल खिलते है अपितु काँटे दिखते है और कॉटे ही बाहर आते है।

जब निर्विचिकित्सा की साधना में कमी होती है तब दूसरो की प्रशंसा भी चुभती है, दूसरे की ख्याति, कीर्ति, पूजा, प्रभावनाको देखकर मन ईर्ष्या से भर उठता है। दूसरों की प्रशंसा का न सुहाना ही प्रशंसनीय व्यक्ति के प्रति ग्लानि के भावों को प्रदर्शित करता है। ग्लानि करना जहर पीना है, ग्लानि का भाव तभी पैदा होता है जब व्यक्ति महत्वाकांक्षा से भरता है, बाह्य पदार्थो से जुड़ता है। जब दूसरे पर दृष्टि जाती है तो नियम से प्रतिस्पर्धा का भाव उत्पन्न होता है। प्रतिस्पर्धा अहंकार को जन्म देती है और अहंकार दूसरे की नामवरी सुनकर सौत के समान ईर्ष्या करने लगता है। इसलिए तीर्थंकरों ने कह दिया–सम्यक्–दृष्टि होना है तो मुनियों से ग्लानि मत करो पराई विभूति, यश, प्रतिष्ठा देखकर भी मैं नहीं कर सका मुझे करना था इस प्रकार की भावना लाकर स्वयं के प्रति भी ग्लानि से ईर्ष्या अहंकार से मत भरों यही निर्विचिकित्सा हैं।

सम्यक्–दृष्टि जीव निर्विचिकित्सा गुण के माध्यम से स्वयं की परीक्षा कर सकता है। अगर उसके मन में निन्दा, ग्लानि, ईर्ष्या की भावना उत्पन्न हो रही है दूसरे की प्रशंसा, कीर्ति, यश, सम्मान मन को दुखित कर रही है। भगवतों, ग्रन्थों, सन्तों के प्रति श्रद्धा नहीं उपजी है तो सहज ही समझा जा सकता है कि आत्मा में अभी निर्विचिकित्सा नाम का गुण प्रगट नहीं हुआ हैं। निर्विचिकित्सा गुणधारी कमी व बुराई को बाहर निकालता है। वह फिर न किसी को काँटे चुभाता है और न किसी के फूल देने पर प्रसन्न होता है। वह माध्यस्थ भाव धारण कर ग्लानि से रहित हो जाता हैं। ग्लानि से रहित होने वाले जीव के भीतर अनेक गुणों का जागरण होता है। मुनिराज के अन्तरात्मा में यह गुण प्रगट होता है, तो उनके समक्ष एक घाट पर शेर और गाय पानी पीने लगते है, सर्प–नेवला, बिल्ली–चूहे एक स्थान पर किलकारी करने लगते है; क्योंकि मुनिराज के मन से ग्लानि का आभाव हो गया। इसलिए उनके समक्ष पशुओं ने भी अपनी–अपनी वैमनस्यता, ग्लानि के भावों को छोड़कर एक हो जाते हैं।

चौबीस तीर्थंकरों के जीवन मे परम निर्विचिकित्सा का आगमन हुआ तो वे जहॉ से गुजरें, जिस मार्ग से गुजरें वहाँ के समस्त काँटे उलटे हो गये। फूल की खिली कलियों

के ऊपर तीर्थंकर चलते थे। इस सब चमत्कार का एक मात्र कारण है–ग्लानि का सर्वथा अभाव। चौबीस तीर्थंकरों की प्रेम की ऊर्जा के समक्ष दुश्मन दुश्मनी भूल कर प्रेम से भर जाते है। स्वयं के ग्लानि के अभाव में अहंकारी, बैरी, प्रतिद्वन्दी प्रति–पक्षी तिनके की तरह शर्म से पृथ्वी में झुक जाते है। अतः सम्यक् दृष्टि को भी इस ऊँचाई का स्पर्श करने के लिए रत्नत्रय धारी मुनियों को देखकर ग्लानि रहित होकर उनके चारित्र की प्राप्ति की भावना करनी चाहिए। जुगुप्सा करने से आत्मा की सम्पदा छिन जाती है। निर्विचिकित्सा अंग का पालन करने से आत्मा की सम्पदा सुरक्षित रहती है। जीवन में कभी किसी से ग्लानि नहीं करनी चाहिए बल्कि सन्तों की महिमा–गरिमा साधना तपस्या को जानकर उसे स्वीकार कर उस रूप ढलने का पुरूषार्थ करकें स्वयं के परमात्मा को प्रगट करना चाहिए।

निर्विचिकित्सा अंग की गहराई में प्रवेश किया जाये तो इसका पालन वस्तु के यथार्थ स्वरूप को जानकर बाहर से दिखने वाली सुन्दरता– असुन्दरता, स्वच्छता–अस्वच्छता, धनवानपना–निर्धनपना, स्वस्थता–अस्वस्थता दोनों में समत्व भाव रखता है। वह जानता है कि जो आज सुन्दर है कल वह कर्मोदय से असुन्दर हो सकता है, धनवान निर्धन हो सकता है, स्वस्थ अस्वस्थ हो सकता है। मैं क्यों स्वस्थता, सुन्दरता, धनवानता से राग करूँ? और क्यों अस्वस्थता, असुन्दरता एवं निर्धनता से द्वेष करूँ, ये तो वस्तु का परिणमन है। वस्तु के परिणमन मे हर्ष विषाद आकर्षण तिरस्कार का नहीं होना ही निर्विचिकित्सा है। मेहतर या डॉक्टर की भाँति बाहर की ग्लानि का रहितपना दिखावटी है। यह सम्यक्त्व वृद्धि में कारण नहीं है। भीतर के परिणाम में श्रेय रूप ही परिलक्षित हो और सभी ग्लानि भावना का त्याग हो यही निर्विचिकित्सा अंग है। आचार्य कुन्द–कुन्द देव समयसार ग्रन्थ में कहते है कि–

जोंण करेदि दुगच्छं चेदा सव्वेसिमेवधम्माणं
सो खलुणिव्विदिगंछों सम्मदिट्ठी मुणेयव्वो।

जो चेतन आत्मा परमात्म तत्व की भावना के बल से सभी वस्तुओं के स्वभावों के प्रति जुगुप्सा, ग्लानि, निन्दा, द्वेष, विचिकित्सा नहीं करता, दुर्गन्ध के विषय में ग्लानि नहीं करता वही निर्विचिकित्सा अंग का धारी है। निश्चय की दृष्टि में सम्यक्त्व की साधना ही निर्विचिकित्सा हैं। भट्ठ अकलंक देव तत्वार्थ सूत्र की टीका करते हुए राजवार्तिक ग्रन्थ में कहते है कि–

शरीराद्य शुचि स्वभावभवगम्य शुचीतिमिथ्या संकल्पापनयः, अर्हत्प्रवचने वा इदम युक्तं घोरं कष्टं न चेदिदं सर्वमुपपन्न मित्य शुभ भावना विरहः निर्विचिकित्सता।। (अ.6 सूत्र-24)

शरीर को अत्यन्त अशुचि मानकर उसमें शुचित्व के मिथ्या संकल्प को छोड़कर

अथवा अर्हन्त के द्वारा उपदिष्ट प्रवचन में 'यह अयुक्त है, घोर कष्ट है यह सब नहीं बनता' आदि प्रकार की अशुभ भावना से चित्त विचिकित्सा नहीं करना निर्विचिकित्सा अंग है। चित्त में अशुभ भावों का उठना ही ग्लानि का भाव है। आचार्य ब्रह्मदेवसूरि भी द्रव्य संग्रह ग्रन्थगाथा 41 की टीका करते हुए कह रहे है कि–

भेदाभेद रत्नत्रयाराधक भव्य जीवानां दुर्गन्ध वीभत्सादिकंदृष्टवा धर्म बुद्धया कारूण्य भावेन वा यथा योग्यम विचिकित्सा परिहरणं द्रव्यनिर्विचिकित्सा गुणों मन्यतें। निश्चयेन पुनस्तस्यैव व्यवहार निर्विचिकित्सा गुणस्य बलेन समस्त द्वेषादि विकल्परूप कल्लोलमाला त्यागेन निर्मलात्मानुभूति लक्षणेनिज शुद्धात्मनि व्यवस्थानं निर्विचिकित्सा गुणइति। अर्थात् भेदाभेद रत्नत्रय के आराधक जीवों को दुर्गन्धी तथा आकृति आदि देखकर धर्म बुद्धि से अथवा करूणा भाव से यथा योग्य विचिकित्सा को दूर करना द्रव्य निर्विचिकित्सा गुण है तथा निश्चय से इसी व्यवहार निर्विचिकित्सा के द्वारा जबरदस्ती सारे द्वेष आदि विकल्परूप तरंगों का त्याग करके निर्मल आत्मानुभव लक्षण निज शुद्धात्मा में स्थिति करना निर्विचिकित्सा गुण है। संसार में रहते हुए भी सम्यक्त्व की शान्ति की अनुभूति के इच्छुक भव्य जीवों को समस्त विकल्प जाल छोडकर पाप–पुण्य के फल में हर्ष विषाद नहीं करते हुए अपने जीवन को परमार्थ पथ पर अग्रसर करना चाहिए। यही जीवन की सार्थकता है।

अमूढ़ दृष्टि : वर्तमान में मूढता वशात् मिथ्या पथ पर सभी प्राणी चल रहे है। कोई भीड़ को देखकर, कोई चमत्कार को देखकर, कोई सम्मान की आकाँक्षा से मिथ्यात्व को स्वीकार कर अपने जीवन को गर्त में डालते चले जा रहे हैं, लेकिन आचार्य कह रहे है –सावधान! अग्नि की प्रशंसा करने से वह जलाना नहीं छोडती है उसी प्रकार मिथ्यात्व को स्वीकार करने से वह संसार मे भटकाना नहीं छोडेगी। मिथ्यात्व जीव को बहिर्मुखी बनाता है। सम्यक् जीव को अन्तर्मुखी बनाता है। सम्यक दृष्टि जीव अन्धविश्वास पर नहीं परम्परा में जीता है। परम्परा मे जीना धर्म है, अन्ध विश्वास पर जीना अधर्म है।

अनादिकालीन परम्परा वीतरागता की है। आदिनाथ भगवान से महावीर भगवान तक, महावीर भगवान से लेकर अर्हतबली, धरसेन पुष्पदन्त, भूतबलि आचार्य तक, पुष्पदन्त भूतबली कुन्द कुन्दाचार्य से वर्तमान आचार्यतक मुनि परम्परा एक सी रही है। इस परम्परा पर चलकर मुमुक्षु जीव परमात्मा को पाने के प्रयास में रत है। ये सभी साधक परम्परा में जीने वाले है, धर्म मे जी रहे है। पर अन्धविश्वास का मार्ग कल्पना को, स्वार्थ को, तात्कालिक घटना को ही उद्योतित करता है। ऐसी घटनाओं के माध्यम से चली कुप्रथाओं पर धर्ममानकर चलना ही मूढता है। आज का मनुष्य मूढ़ताओं और अन्धविश्वासों को ही धर्म–मानता है। उसका वह दास है। उसी अंधविश्वासों को ओढता है, बिछाता

है; उसी पर सोता है। अन्ध परम्पराये उसके जीवन का अंग बन गई है। इंसान भीड़ का आदि हो गया है। ऑख बन्द करके भीड़ के पीछे भाग रहा है। सभी भीड़ का अनुसरण कर रहे है; क्योंकि संसार में मिथ्या दृष्टियों की ही भीड़ है। हम कभी जानने की कोशिश ही नहीं करते कि–धर्म क्या हैं? परमात्मा का स्वरूप क्या हैं? जिन्दगी कैसे जीनी चाहिए हम किस लिए जन्मे है?

हमारा परमात्मा हमारा गुरु कौन हो सकता है? ये सब हमने विचार नहीं किया और भीड के पीछे भाग कर अपने आपको मूढ बना दिया है। अभी हमारे कुसंस्कारों ने आत्मा को दबा लिया है। कुसंस्कारों के कुहासों से सत्य वोझिल हो गया है। अन्धविश्वासों के पत्थर के नीचे हमारा परमात्मा दब गया है। हम अभी अन्धविश्वासों में जिये जा रहे है। हमारे पूर्वज करते थे, वही हमकर रहे है। क्यों कर रहे है? किस लिए कर रहे है? यह हमें ज्ञात नहीं है। जब तक स्वयं के अन्दर बोध का जागरण न हो जाये स्वयं ही संवेदना से जिनागमानुसार शिक्षा को ग्रहण नहीं कर सके, तब तक आत्मा मे मूढ़ता का ही वास रहेगा। भीतर से बोध को जन्म देकर देव–शास्त्र–गुरु के प्रति श्रद्धा करे।सम्यक्–दृष्टि जीव श्रद्धालु होता है। पर अन्ध श्रद्धालु नहीं होता है। सम्यक–दृष्टि जीव कुपथ का नहीं सुपथ का अनुगामी होता है। वह निर्वाण पथिको पर ही अपनी श्रद्धा व्यक्त करता है। वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु को ही अपना इष्ट कल्याण कारक उद्धारक, तारक मानना ही सम्यक्त्वीं का लक्षण है। मिथ्यात्व का सत्व जिसकें भीतर बैठा है वह वीतरागता को छोडकर अस्त्र, शस्त्र, वस्त्रधारी रागी, द्वेषी, देवी–देवता की मान्यता, उपासना करता है। उन्हीं के ग्रन्थों को कल्याण कारक सुपथदाता मानता है। वह उन्हीं की प्रशंसा करता है। गुणानुवाद करता है। उन्ही को दान देता है उन्हीं से यन्त्र–तन्त्र–मन्त्र की याचना करता है उन्हीं की साधना को सब कुछ मानकर अपना जीवन समर्पित कर देता है। उन्हीं देवी–देवता–गुरु के रूप चमत्कार भक्तों की भीड देखकर स्वयं भी उसी प्रकार की चाहना को लेकर पहुँच जाता है और धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। ये सभी रागी–द्वेषी देवी–देवता स्वयं संसार–सागर में डूब रहे है ओर अपने भक्तों को भी डूबा रहे है।

मिथ्यात्व कर्म से मोहित हुआ जीव वीतरागी देवगुरु–शास्त्र को स्वीकार न करते हुए भी अगर वीतरागता के सम्मुख जाकर संसारिक वस्तुओं की आकांक्षा करता है तो वह भी कुछ अंशो मे मूढ है। सम्यक्–दृष्टि होने के इच्छुक जीव को देव्–कुदेव, धर्म–अधर्म, शास्त्र्–कुशास्त्र, गुरु–कुगुरु, दान– कुदान, पात्र–कुपात्र, देय–उपादेय, ग्रहणीय–अग्रहणीय, ऐकान्त–अनेकान्त को अच्छी तरह जान करके पक्षपात को छोडकर जो आत्म–कल्याण में साधक है उसी धर्म की उपासना करना हीं अमूढ़ दृष्टि अंग है।

संसार में मिथ्यात्व का बोल–बाला है। पग–पग पर मिथ्यात्व की वृद्धि कराने वाले मिथ्या दुष्टि जीवको कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु प्राप्त होते है ये यन्त्र–तन्त्र–मन्त्र चमत्कार आदि का प्रमाण दिखाकर धर्म से च्युत करने का प्रयास करते है। जिससे अनेक जीव मिथ्यात्व मे फँसकर अपने जीवन को घोर संसार में डाल देते है। आज मिथ्यादेव का चमत्कार सर्वत्र देखने को मिलता है। उस चमत्कार को देखकर बहिरात्मपने को प्राप्त जीव मूढ़ता में जाता है और उनकी सेवा उपासना जाप्यादि को ही धर्म मानने लगता है। संसारी जीव को देव–शास्त्र–गुरु की पहचान करके ही श्रद्धा की ओर कदम बढ़ाना चाहिए। मूढ़ भावों से चूहे को ही हँस की दृष्टि से नहीं देखना चाहिए अन्यथा आत्मा मोहाभिभूत होकर कुधर्म में परिणत हो जायेगी। आचार्य समन्त भद्र देव ने रत्नकण्ड श्रावकाचार में कहा है–

कापथे पथि दुःखानां कापथस्थेप्यसम्मतिः
असंपृक्ति रनुकीर्तिर मूढ़ा दृष्टि रूच्यते ।।14।।

दुखों के कारण भूत कुमार्ग में तथा कुमार्ग स्थितोंमें मन से सम्मत नहीं होना, वचन से प्रशंसा नहीं करना तथा काय से विनय–भक्ति नहीं करना ही अमूढ दष्टि अंग है। आचार्य समंत भद्र देव जब पाप कर्मोदय से शिव पिण्डी के समक्ष समर्पित पदार्थ को खाकर भस्मक व्याधि शान्त करने के प्रयास में थे, उस वक्त वे सम्यक्त्व के गहरे उतार–चढाव से परिपूर्ण थे; इसलिए उनकी गहरी अनुभूति कह रही है कि वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु को छोडकर कल्याण की भावना से अन्य किसी के साथ सम्बन्ध बढ़ाना मूढ़ता है और उससे विरक्त होना अमूढता है। अगर मिथ्या देव–शास्त्र–गुरु से कहीं किसी भी रूप में प्रशंसा सम्मति सम्पर्क होता है तो समझ व बोध के अभाव में राग के प्रति आसक्ति का भाव नियमतः मिथ्यादृष्टि बनाने में ही कारण बनता है; क्योंकि सम्यक्–दृष्टि द्वारा मिथ्या–दृष्टि की प्रशंसा करने से मिथ्यात्वी के अभिमान की पुष्टि होती है ओर वह प्रशंसा में फूलकर कभी भी मिथ्यातव को मूढ़ता को छोड़ने के लिये तैयार नहीं होता है। अतः गलत करना भी नहीं और गलत का स्वार्थ वशात् समर्थन भी नहीं करना चाहिए; क्योंकि मिथ्या–मार्ग मे चलना, दूसरों को चलाना या चलते हुए की प्रशंसा करना, दुःखों के मार्ग में स्वयं को ढकेलना है। अर्थात् कुदेव, कुशास्त्र, कुगुरु एवं कुदेव सेवक, कुशास्त्र सेवक, कुगुरु सेवक की मान्यता करना दुखों को निमन्त्रण देना है; क्योंकि ये स्वयं कुपथ में स्थित है। इन्हें स्वयं मंजिलका ज्ञान नहीं है। ये अनायतन है, ये बाहर से सौन्दर्य, वैभव, चमत्कार, ज्ञान सम्मान से परिपूर्ण नजर आते है, पर भीतर से शुन्य होते है। स्वयं दुख पाते हे अन्यों को दुख के मार्ग मे ढकेल देते है। ये छः अनायतन अपना प्रभाव जमाने कई प्रकार के उपायों का सहारा लेते है। लेकिन सम्यक्

में स्थिर रहने के इच्छुक जीवों को प्रलोभनो से बच कर वीतरागता के मार्ग पर ही दृढ़ रहना चाहिए। कदाचित मिथ्या देव–शास्त्र–गुरु के पास धोखे से पहुँच भी जाये तो प्रणामादि नहीं करना चाहिए। कोई कह सकता है कि णमोकार मन्त्र को पढ़ते हुए इन्हें नमस्कारादि करने मे क्या दोष है?

णमोकार मन्त्र पढ़कर नमस्कार करने में दोष ही नहीं अपितु महादोष है; क्योंकि एक तो मिथ्यात्व का सेवन है, दूसरी ओर माया चारी है, मन में वीतरागी को प्रणाम, मायाचाती से सरागी को। यह मायाचार का भाव तीर्यचं गति देने में कारण है। अतः मिथ्यामार्गी के आयतन को किसी भी रूप में सम्मानादि नहीं करना चाहिए। मन–वच–काय तीनों से छः अनायतनों से बचे रहना चाहिए और इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए–**'कापथस्तेप्य सम्मतिः'** कुमार्ग में स्थित मिथ्या दर्शनादि कें आधार भूत किसी जीव का समर्थन नहीं करना चाहिए, क्योंकि जो धर्म के विरूद्ध है उनका समर्थन करने से अधर्म का विस्तार होता है। जिससे जीवों का हित न होकर अहित होने की सम्भावना बन जाती है। कभी–कभी मनुष्य कुमार्ग में भीड़ चमत्कार आदि को देखकर सहज ही उस धर्म की प्रशसा कर देता है कि देखो! फलाने मन्दिर में कितने यात्री जाते है, फलानी मजार का क्या चमत्कार है जाने से मनोकामना की पूर्त्ति हो जाती है, सन्तान की प्राप्ति हो जाती है, धन–धान्य की वृद्धि होती है। फलाना साधक कितना अच्छा बोलता है, उसके एक–एक शब्द मे जान है। वह दिल को झकझोर देता है। एक बार जाकर सुनकर तो देखो सब भूल जाओगे। फलाने शास्त्र में कितनी अच्छी बात कहीं, पढो? इत्यादि मिथ्या देव–शास्त्र–गुरु की प्रशंसा करना मिथ्यात्व का प्रसार है। दुःखों का विस्तार है। अच्छाई को स्वीकारना कोई बुरी बात नही है जीवन को उसी रूप में ढालकर राग युक्त धर्म को स्वीकारना संसार का कारण है।

मनुष्य कुपथ पर देखा–देखी अधिक चलता है। अगर उसके पूर्वज चलते है अथवा कोई बडा व्यक्ति चलता है तो सहज ही मन उस मार्ग पर चलने का हो जाता है लेकिन मनुष्य को सावधान रहना चाहिए। तात्कालिक प्रलोभनो से बचने का प्रयास करना चाहिए। मिथ्या मार्गियो को फलता फूलता देखकर विचार करना चाहिए की इसका यह वैभव पूर्वोपार्जित पुण्य कर्म का फल है न कि वर्तमान में सेवित मिथ्या मार्ग का। उस मिथ्या मार्ग की उपासना का फल जब इसे प्राप्त होगा तब इसकी बड़ी दुर्दशा होगी तथा सम्यक् पथानुगामी को विचार करना चाहिए कि–समीचीन मार्ग पर चलकर भी मेरी स्थिति दयनीय है। यह मेरे अतीत के पाप कर्म का फल है। इस समय मेरे पाप का उदय है, पर सम्यक्–पथ पर चलने से मेरा पाप समाप्त होगा और भविष्य में परम सुखी होऊँगा। इस प्रकार का विचार करना चाहिए और कभी भी न मिथ्या पथ की प्रशंसा

करनी चाहिए न मिथ्या पथ को स्वीकार करना चाहिए।

यहाँ मिथ्या पथ की प्रशंसा का निषेध है। मिथ्या पथ के अनुयायी की प्रशंसा करने से मिथ्यात्पन का प्रचार अवश्य ही होता है, पर कदाचित समाज–राष्ट्र के नेता या परोपकारादि करने वाले, ईमानदारी पूर्वक जीवन व्यतीत करने वाले प्रजा जनों को शन्ति पहुँचाने वाले की प्रशंसा करना बुरी बात नहीं है और न इस प्रकार की प्रशंसा करने से सम्यक्त्व मे दुषण आता है। सम्यक्त्व में दूषण तो मात्र कुपथगामी की प्रशंसा, सेवा सम्पर्क से ही आता है।

इस दुषभ पंचम काल में 363 मिथ्या मान्यतायें बहुत विस्तार को प्राप्त हो चुकी है। जगह जगह मूढ़ मान्यता, नवीन विचार धारा, कर्म शैली को लेकर पथ–भ्रष्ट करने, मिथ्या देवी–देवता का सहार लेकर कई तथा कथित गुरु आ रहे है और मिथ्या शास्त्र देते चले जा रहे है। इन मिथ्या दृष्टियों से सदैव बचना चाहिए और **असंपृक्ति रनुत्कीर्ति** अर्थात् शारीरिक सम्पर्क और वाचनिक प्रशंसा से रहित हो जाना चाहिए। आचार्य समन्त भद्र देव शरीरिक सम्पर्क का भी निषेध करे रहे है, क्योंकि जहाँ शरीर का सम्पर्क होता है वहाँ नियमतः मन वचन का सम्पर्क हो जाता है; क्यों कि मन कमजोर है। इस लिए अनायतन में जाना भी वर्जित है। तात्कालिक भयाकृति को देख मन झुक जाये और मिथ्यात्व आ जाये। कभी–कभी लोक–व्यवहार के कारण भी साथ देना पड़ जाता है। कुदेव सेवक के साथ कभी कुदेव आलय गये और मित्र को दिखाने, उसे प्रणाम कर लिया तो दुखों का मार्ग पुन. प्रारम्भ हो जाने की सम्भावना है। कभी व्यापारादि के कारण, कभी विवाहादि के कारण, कभी सत्ता प्राप्ति की आकांक्षा से, कभी संकोचवशात, कभी अपना कार्य कराने की आकांक्षा से भी शारीरिक सम्पर्क बनाने से मिथात्व आ सकता है। (अतः मिथ्या दृष्टियो से सम्पर्क बनाने पर भी व्यवहारिक क्रियाओं में, सामाजिक क्रिया में साथ अवश्य देना चाहिए।) पर धर्म की आकांक्षा से शारीरिक सम्बन्ध बनाना मूढ़ता है, मिथ्यात्व का समर्थन है। यहॉ श्रद्धा पूर्वक किये गये सम्पर्क का निषेध है वचन से प्रशंसा का निषेध किया है।

आधुनिक प्रसार साधनों से मिथ्या मार्ग का विशेष प्रचार होता है। उसे सुनकर मुख से उसकी प्रशंसा करना भी मूढ़ता है। सम्यक्–दृष्टि की श्रद्धा जिन मार्ग में सुमेरू की तरह अचल रहती है। उसके मन में एक ही धारणा होती है कि जिनेन्द्र भगवान द्वारा प्रतिपादित धर्म ही मुक्ति को प्रदान करने वाला है, दुःखों को निकालने वाला है। आत्मा के लिए हितकारक है बाकी सभी धर्म संसार परिभ्रमण के कारण है। मिथ्या धर्म सुख मार्ग के कंटक है, भ्रम–जाल मे फॅसाने वाला है। सम्यक दृष्टि जीव न श्रद्धा करता है न स्वीकारता है, न तद्नुकुल आचरण करता है बल्कि उसे हेय मानकर छोड़ देता है।

जो मनुष्य वीतराग धर्म को पाकर भी अन्य धर्म को स्वीकार करता है, वह जड़ बुद्धि का धारक जीव महल में लगे कल्प–वृक्ष को उखाड़ कर धतूरें के पेड़ को बोता है। चिन्तामणि रत्न को दूर फेंककर काँच का टुकड़ा स्वीकार करता है पर्वत सदृश ऊँचे हाथी को बेचकर गधे को खरीदता है; जो मिथ्या दृष्टि जीव सर्व–धर्म समन्वय भावों को लेकर जैन धर्म की समानता अन्य धर्मो के साथ करता है वह अमृत को विष तुल्य जल को अग्नि के समान प्रकाश को अन्धकार के समूह के समान, मित्र को शत्रु के समान, चिन्तामणि–रत्न को पत्थर के समान समझता है अमूढ़–दृष्टि अंग का पान करने वाला समन्वय को नहीं समर्पण को महान् समझता हैं। समन्वय का अर्थ होता है–मेल–जोल बढ़ाना और समर्पण का अर्थ होता है–मिथ्या दृष्टि को सम्यक् दृष्टि बनाने का प्रयत्न करना। अमूढ दृष्टि अंग सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंग है। जैन धर्म कोई रूढ़ी नहीं है। जीवन रूपान्तरण की सीढियॉं है– सम्यक् दर्शन अन्धविश्वासगत नहीं, सम्यक् दर्शन वीतरागता के श्रद्धानगत है इसलिए दुखों के मार्ग मिथ्यात्व से बचे सन्मार्ग में चले वीतरागता को ही स्वीकारना अमूढ दृष्टि है। वीतरागता को स्वीकारने का अर्थ यह नहीं है कि अन्य सरागियों का अपमान करना, अपितु उनके प्रति मध्यस्थभाव रखना चाहिए। जिस प्रकार माता को अपना ही पुत्र प्रिय होता है लेकिन वह अन्य के पुत्रों से द्वेष नहीं करती है, उसी प्रकार सम्यक् दुष्टि वीतराग धर्म से ही स्नेह करता है, अन्य से द्वेष नहीं करता है। अपितु हिंसा परिग्रह आदि बाह्य आडम्बर की अधिकता देखकर उससे विरक्त हो जाता हैं। भट्ट अकलंक देव 'राजवार्तिक' नामक ग्रन्थ में कहते है कि–

बहुविधेतु दुर्नय दर्शनवर्त्मसु तत्वदाया समानेषु युक्तभाव ।
परीक्षा चक्षुसा व्यवसाय विरहित मोहता अमुढ़ दृष्टिता ।।

बहुत प्रकार के मिथ्या वादियों के एकान्त दर्शनों में तत्व बुद्धि और युक्ति युक्तता छोड़कर परीक्षा रूपी चक्षु द्वारा सत्य असत्य का निर्णय करता हुआ मोह रहित होना अमूढ दृष्टिता हैं। आचार्य ब्रह्मदेव सूरि भी द्रव्य संग्रह मे निश्चय व्यवहार अमूढ दृष्टि का लक्षण निरूपित करते हुए कहते है कि–

कुदृष्टिभिर्यत्प्रणीतं अज्ञानि जन वित्त चमत्कारोंत्पादकं दृष्टवा श्रुत्वा च योऽसौमूढ़ भावेन धर्म बुद्धया तंत्र सीचं भक्ति न कुरुते स एवं व्यवहारोऽमूढ़ दृष्टि रूच्यते। निश्चयेन पुनः तस्यैव व्यवहार मूढ दृष्टि गुणस्य-प्रसादनान्तस्तत्व बहिस्तत्व निश्चये जाते सति समस्त मिथ्यात्व रागादि शुभाशुभ संकल्प विकल्पेष्टात्म बुद्धि मुपादेय बुद्धि हित बुद्धि ममत्वा भावंत्यक्तवा त्रिगुप्ति रूपेण विशुद्ध ज्ञान-दर्शन स्वभावे निजात्मनि यन्निश्चलावस्यानं तदेवामूढ़ दृष्टि दृष्टि त्वमिति।।

कुदृष्टियों के द्वारा बनाये हुए अज्ञानियों के चित्त में विस्मय करने वाले रसायनादि

शास्त्रों को देखकर या सुनकर जो कोई मूढ़ भाव से धर्म बुद्धि करके उनमें प्रीति तथा भक्ति नहीं करता है उसको व्यवहार से अमूढ़ दृष्टि कहते है तथा निश्चय से व्यवहार अमूढ़ दृष्टि के प्रसाद से जब अन्तरंग बहिरंग तत्व का निरुपण हो जाता है तब सम्पूर्ण मिथ्यात्व रागादि शुभाशुभ संकल्प विकल्पों में इष्ट बुद्धि को छोड़कर त्रिगुप्ति रूप से विशुद्ध ज्ञान दर्शन स्वभावी निजात्मा में निश्चल अवस्थान करता है वह अमूढ दृष्टि गुण है।

उपगुहन अंग : स्वर्ण स्वभाव से शुद्ध होता है पर बाहरी किट्ठ कालिमा के कारण उसमें दोष उत्पन्न हो जाता है। अग्नि स्वर्ण के दोषों का जलाकर स्वर्ण को पुनः शुद्ध कर देती है। अग्नि स्वर्ण की अशुद्धि को दूर करने के उपरान्त वह स्वर्ण के किट्ठ कालिमा को लेकर ढिढोरा नहीं पीटती की इस स्वर्ण में इतना मैल था मैंने शुद्ध किया है अपितु उस मैल को जलाकर राख कर देती है, ताकि किसी को इस मैल का ज्ञान न हो। उसी प्रकार सम्यक्-दृष्टि जीव भी मूढता से रहित हो वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु का उपासक हो जाता है। वह वीतरागी सर्वज्ञ देव द्वारा प्रणीत मार्ग पर चलने वाले हजारों साधकों को देखता है। कदाचित् स्वर्ण सदृश शृद्ध मोक्ष मार्ग में चलते वक्त पूर्व कर्मवशात् अथवा स्वार्थवशात् अज्ञानी, अशक्त जीवों द्वारा कोई दूषण आ जाये, कोई कलंक लग जाये तो सम्यक् दृष्टि जीव उनके दोषों को समाप्त करने की चेष्टा करता है, उसके दोषों को पी जाता है, उन दोषों को छुपा देता है। किसी भी प्रकार का विज्ञापन नहीं करता हैं। सम्यक्-दृष्टि अग्नि के समान बनकर दोष युक्त स्वर्ण को निर्दोष स्वर्ण अर्थात् मोक्षमार्गी बनाने का प्रयास करता है अथवा उस दोष को ढाकने का प्रयास करता है।

प्रज्ञा एवं प्रतिभा के प्रचण्ड सूर्य आचार्य पुष्पदन्त सागर जी महाराज उपगुहन अंग का विवेचन करते हुए कहते हैं कि उपगुहन अंग का पालन करने वाला जीव कभी किसी को कमी नहीं देखता है न कमी खोजता है, वह न किसी की बुराई करता है, न बुराई सुनता है, वह मात्र स्वय के चित्त के दर्पण को मॉजता है, घिसता है, स्वच्छ करताह" और स्वयं के परमात्मा के प्रतिबिम्ब को उभारता है, जब चित्त साफ हो जाता है तो पर के दुश्कृत्य नजर भी नहीं आते, बुराईयाँ दिखती नहीं है। मात्र अच्छाईयॉ ही अच्छाईयॉ नजर आती है; क्योंकि वह जानता है कि दूसरे के दोषों को देखना, उसका विज्ञापन करना, दूसरे से बैर की गांठ बाँधना है, बैर की गाँठ बाँधने वाला कभी सम्यक्-दृष्टि नहीं हो सकता है। आचार्य समन्तभद्र देव ने रत्न करण्ड श्रावकाचार में कहा है-

स्वयं शुद्धस्य मार्गस्य बालाशक्त जना श्रयाम्
वाच्यतां यत्प्रमार्जन्ति तदवदन्ति उपगुहनम्।।15।।

अर्थात् स्वभाव से पवित्र मोक्ष मार्ग की अज्ञानी तथा असमर्थजनों के निमित्त से

उत्पन्न हुई निन्दा को समाप्त करना परिमार्जित करना उपगुहन अंग है। यह बात विशेष ध्यान रखने योग्य है कि धर्म में कभी कोई मलिनता नहीं आती है। लेकिन सम्यक्–दृष्टि जीव धर्मात्मा की मलिनता को देखकर धर्म को नहीं छोड़ता है और न ही धर्मात्मा की निन्दा करता है। अपितु उसे ढ़ाकने का प्रयास करता है। सम्यक–दृष्टि जीव दोषों का समर्थक नहीं होता है। वह मात्र धर्म की सुरक्षा के लिए धर्मात्मा के दोषों को ढ़ाकता है। कदाचित् धर्मात्मा के दोषों की वृद्धि हो जाती है तो उसे न ढाककर अव्यक्त रूप से उसी धर्मात्मा के समक्ष प्रगट करता है और धर्म की निन्दा–हॅसी न हो, इस प्रकार की शिक्षा देता है और विनम्रता पूर्वक निवेदन करता है कि आपका यह भेष जिन धर्म की प्रभावना के लिए है। अगर आप जिन मार्ग मूलक वेश को धारण करके दुष्कृत्य करेंगे तो जिन धर्म की बहुत बड़ी हानि होगी। अतः आप सावधान रहकर धर्म क्रिया करें ताकि जिन धर्म की वृद्धि हो सकें। धर्म की हानि 'बाल और अशक्त' जनों से ही होती है। बाल का अर्थ है–क्रिया के विवेक से रहित व्यक्ति और अशक्त का अर्थ है क्रिया को सही ढंग से न करने में प्रवृत अशक्त व्यक्ति। इनका बाल उम्र व वृद्ध उम्र से सम्बन्ध नहीं अपितु कृत्य से सम्बन्ध है। ऐसा समझना चाहिए।

संसार में अनेक प्रकार के जीव है। सभी की शारीरिक सामर्थ्य भिन्न–भिन्न है। अतः जिन धर्मावलाम्बियों के क्रिया–कलापों को देखकर उनके मोहनीय कर्म का उदय अथवा अनुत्साह दुर्बलता, परिस्थितिया धर्म के प्रति अरुचि समझकर, उसकी हानि कर चेष्टाओं को देखते हुए भी अनदेखा कर देना चाहिए। यही वास्तविक उपगुहन है; क्योंकि संसार में प्रत्येक जीव का कर्म भिन्न–भिन्न है। व्यक्ति के कौन से कर्म का उदय आ जाये और वह कर्मोदय में कौन सा कृत्य कर बैठे कहा नहीं जा सकता। अन्तरंग परिणाम और बहिरंग कृत्य सदा एक से नहीं रहते है। द्रव्य क्षेत्र–काल के अनुसार सतत् जीवों के भावों में, परिणामों में परिवर्तन आ रहा है। इसलिए सम्यक् दृष्टि जीव स्वयं धर्म की निन्दा से बचता है और बाल अशक्त जीवों द्वारा धर्म की होती हुई निन्दा हानि को बचाने का प्रयास करता है। सम्यक्–दृष्टि जीव की भक्ति सावधानी पूर्वक होती है, मूढ़ता पूर्वक नहीं होती है। वह स्वयं दोषों से रहित होता हुआ अन्य को भी दोषों से रहित करने का प्रयास करता है।

जो सम्यक–दृष्टि जीव पर के दोषों को छिपाता है, दूर करता है, दोषों को गुप्त रखकर धर्म की निन्दा होने से बचाता है। वह स्वयं के सम्यक्–दर्शन को निर्मल करता है। शुद्ध मोक्षमार्ग में निर्मलता व्यापे, अवर्णवाद न हो, निन्दा न हो मोक्षमार्गी की शिथिल क्रिया को देखकर मिथ्या दृष्टि जन उपहास न करे, दोष न लगावें, लोगों की धर्म के प्रति आस्था न डिगे, ऐसा प्रयत्न करता है किसी मिथ्या दृष्टि या अधपके श्रद्धालु के मन में यह भाव जाग्रत हो जावें कि जैन–धर्म में नग्न वेश में मुनि एवं छुल्लक, ऐलक,

आर्यिका आगम अनुसार वेश में रहते हैं ओर इस प्रकार का–दुष्कृत्य करते हैं ऐसी परिस्थिति में सम्यक्–दृष्टि धैर्य के साथ श्रद्धा–पूर्वक कुधारणा को तोडता हुआ सम्यक्त्व का ख्याल रखताहुआ अन्य के दोषों को दूर करता है और निन्दा को आच्छादित करता है।

सम्यक्–दृष्टि की चिन्तन धारा अत्यन्त निर्मल होती है। कदाचित किसी में वह दोष देख भी लेता है तो **"णाणा जीवा णाणा कम्मा"** वह सोचता है कि संसार में अनेक प्रकार के जीव है और अनेक प्रकार के कर्म है। यह जीव अनादिकाल से कर्मो के वशीभूत होकर संसार में घूम रहा है। अतः इसके पास आठो कर्मो का भार है, कदाचित् पूर्व कर्मोदय से मोहनीय कर्म वशात् कषाय का उद्रेक हो जाये, चारित्र में शिथिलता आ जाये, राग–द्वेष की उत्पत्ति हो जाये तो कोई नई बात नही हैं। मनुष्य की प्रवृति बुरे कार्यो में शीघ्र हो जाती हैं। श्रेष्ठ कर्मों में नही हो पाती है। जैसे बालक स्कूल में जाता है– पढता कम है, खेलता ज्यादा है, उसी प्रकार पंचमकाल का साधक साधना कम विराधना ज्यादा करता है तो भी सम्यक् दृष्टि जीव विराधना की ओर ध्यान न देते हुए, यही विचार करना चाहिए कि इस साधक ने दुषम पंचम काल के तूफान के बीच इसने इतने समय तक धर्म की, चारित्र की ज्योति को सुरक्षित रखा है। यह बहुत बड़ी बात है। इसके तीव्र पापोदय के कारण ही यह चारित्र में शिथिल हुआ है। धर्म की निन्दा का कारण बना है। इसमें इसके पुरूषार्थ का व पूर्व कर्मोदय का दोष है। यह जीव तो करूणा का पात्र है। मैं अगर इसके दोषों का उद्घाटन करूँगा तो मेरे द्वारा ही धर्म की अप्रभावना होगी, क्यों मैं इसकी निन्दा करूँ। मैं तो इसके सुधार का निमित्त बनूगाँ मैं तो बाल एवं अशक्त जनों की क्रिया को नजर अंदाज करता हुआ पापों से बचूँगा ओर अन्य के दोषों को दबाऊँगा वह जानता है कि संसार का प्रत्येक मनुष्य क्रोधमान माया लोभ से भरा हुआ है। उसके कदम जल्दी गलत मार्ग पर पड जाते है। मन उसी प्रकार विषयों को देखकर फिसल जाता है। जैसे केले के छिलके पर पॉव पड़ने पर आदमी फिसल जाता है। मन गिद्ध की भाँति विषयों को ही पकडता है, क्योंकि अनादि सम्बन्ध है। इसलिए अच्छाई सीखनी पडती है, बुराई छोडनी पड़ती है। बुराई को छोड़ना–छुडवाना मेरा कार्य है, मुझे न किसी की निन्दा करनी है न किसी से बैर लेना है। मुझे तो फिटकरी की भॉति बनना है और सम्यक्त्व रूपी जल में उठते हुए कचरे को दबाना है। इस दुस्सम काल में मानसिक विकृतियॉ ज्यादा है।

अभी सन्मार्ग में लगाने वाले कम एवं मिथ्या मार्ग में ढ़केलने वाले ज्यादा हैं। कदाचित् जिनेन्द्रोक्त मार्ग की निन्दा सुनकर कोई बाल या अशक्त जीव सम्यक्–चारित्र को छोड़कर शिथिल क्रिया करे तो उसे उस ही काल में उसके दोषों को दबा देना ही उपगुहन हैं। जैसे एक मॉ अपनी पुत्री के अनेक दोषों को देखकर भी उसे अपनी पुत्री

समझकर उसके दोषों को छिपा लेती है। एकान्त में–ताड़ना आदि देकर उसे उसके दुष्कृत्य को छोडने की प्रेरणा देली है, उसी प्रकार सम्यक्–दृष्टि पहले दोष को देखकर जिन–मार्ग में अपनत्व की बुद्धि रखते हुए दोष को छुपाता है तथा एकान्त में दोषी को विनय, भय या ताडना आदि देकर मार्ग मालिन न हो, इस प्रकार का कार्य करता है।

सम्यक्–दृष्टि की करुणा अपार होती है। मॉ की ममता से भी ज्यादा होती है। माँ का प्यार तो पुत्र–पुत्री तक ही रहता है, पर सम्यक्–दृष्टि का प्यार समष्टि के प्राणियों के प्रति होती है। मॉ पुत्री के जघन्य अपराध पर भी पर्दा डाल देती है; उसी प्रकार सम्यक्–दृष्टि जीव धर्मात्मा के जघन्य अपराध को भी गौण कर देता है। यदि कोई जीव स्वयं को सम्यक् दृष्टि कहता है और धर्म तथा धर्मात्मा की निन्दा करता है तो ऐसे व्यक्तियो से सदैव सावधान रहना चाहिए। अगर कोई जीव दुश्मनी वशात् कान में लोहे का गर्म घोल डाले तो भी उसे क्षमा कर देना, लेकिन अगर कोई धर्मात्मा के कान में निन्दा के शब्द डाले तो उसे स्वीकार नहीं करना चाहिए, क्योंकि कान में लोहे का गर्म घोल दो चार दिन या उसी भव मे कष्ट देगा, लेकिन निन्दा द्वारा उपार्जित पाप भव–भव में जीव को कष्ट देगा।

सम्यक् दृष्टि जीव गुणानुरागी होता है। दोषानुरागी नहीं होता है। जिस प्रकार कोई व्यक्ति बाजार में जिस उद्देश्य से भ्रमण करता है, उसे बाजार में वह वस्तु विशेष रूप से दिखाई पडती है उसी प्रकार सम्यक्–दृष्टि भी संसार के बाजार में गुण–ग्राही बन कर घूमता है। इसलिए उसे गुण ही दिखाई पडते है, अवगुण नहीं, क्योंकि सम्यक् दृष्टि गुणों का इच्छुक है, दोषों का इच्छुक नहीं है। यह घटना बहु प्रसिद्ध है कि–गुरु ने दुर्योधन को नगर भ्रमण के हेतु भेजा और कहा–जाओ। नगर से बुरे–बुरे व्यक्तियों को पकड लाओ? दुर्योधन गया और आधी दूर पहुँचते ही 23 बुरे व्यक्तियों को पकड़ लाया और गुरु को सौंप दिया। युधिष्ठिर को भेजा जाओ। तुम भी नगर भ्रमण करके बुरे व्यक्तियों को ले आओ? युधिष्ठिर नगर गये सवेरे से शाम तक घूमें और वापस खाली आ गये। गुरु ने पूछा–क्यों! तुम्हें एक भी बुरा व्यक्ति नहीं मिला? तब युधिष्ठिर कहते हैं–गुरुदेव!

बुरा जो देखन मैं चला बुरा न मिलया कोय।
जो दिल खोजा आपना मुझसा बुरा न कोय।।

इस संसार मे सबसे बुरा मैं ही हूं, अन्य कोई बुरा नहीं है। वास्तव में जब गन्दगी मन में होती है तब ही बाहर गन्दगी दिखाई पडती हैं। दर्पण में दाग नहीं होता है। चेहरे पर दाग होता है। उस दाग को दर्पण दिखा देता है। दूसरा व्यक्ति दोष पूर्ण नहीं होता, हम स्वयं दोष पूर्ण होते हैं। इसलिए दूसरे के दोष दिख जाते हैं। दर्पण में देखने से पूर्व

चेहरे को धोना आवश्यक है। दूसरों में कमी देखने के पूर्व स्वयं के दामन में झाँककर देखना आवश्यक है। दर्पण में प्रतिबिम्ब दागिला दिखें तो दर्पण को दोषी मत ठहराना, स्वयं के चेहरे पर ध्यान देना; क्योंकि सम्यक्–दृष्टि सदा अपने दोषों को देखता है और दूसरों के गुणों को तथा अपने दोषों को प्रगट करता है वह अपने गुणों को छिपाता है तथा दूसरे के दोषों को छिपाता है। वह अपनी निन्दा करता है तथा दूसरे की प्रशंसा करता है। दूसरों के दोषों के छिपाने के कारण ही इस गुण का नाम उपगुहन अंग पडा है। इस सम्बन्ध में 'कार्तिकेयानुप्रेक्षा' ग्रन्थ में एक महत्वपूर्ण गाथा है–

जो परदोषं गोवदिणिय सुकयं जाणपयऽदे लोए।
भवियव्व भावणरओ उवगुहण कारओ सो दु ।।419।।

जो सम्यक्–दृष्टि दूसरे के दोषों को ढाकता है और अपने सुकृत को लोक में प्रकाशित नहीं करता है। भवितव्यता की भावना में रत रहता है। उसके उपगुहन अंग होता है। वर्तमान में हमारा अधिकतम समय दूसरों की निन्दा व अपनी प्रशंसा करते हुए बीत रहा है। आज हमारी कुबुद्धि दूसरें के सरसों बराबर दोष पहाड व अपने पहाडवत् दोष सरसों के समान प्रतिभाषित होते हैं। हम दूसरों के दोषों का व अपने गुणों का ढिंडोरा पीटते हैं तो हमारी यह प्रवृत्ति अत्यन्त घातक है और सम्यक्त्व की समाप्ति का कारण है। अत. आत्म–निन्दा पर प्रशंसा स्वीकार करके उच्च गोत्र का बन्ध करते हुए सम्यक्त्व की सुरक्षा करनी चाहिए।

यह बात अनुभवसिद्ध है कि अज्ञानी असमर्थ व्यक्ति या परिस्थिति में फँसे हुए व्यक्ति में यदि कोई दोष है, अगर उसे प्रगट कर दिया जाता है तो व्यक्ति में सुधार की अपेक्षा बिगाड की सम्भावना अधिक हो जाती है, क्योंकि दोषी व्यक्ति में अहंकार उत्पन्न हो जाता है। अतः दोषों के न प्रगट करने में ही भला है। सम्यक् दृष्टि तो चाहता है कि किसी भी माध्यम से धर्म का लोप न हो। धर्म मार्ग में धब्बा न लगे वह येन केन प्रकारेण दूषित हृदय युक्त मिथ्या दृष्टियों से धर्म को बचाता है और सद्मार्ग में चलने वाले जीवो के दोषों को गुप्त रखता है। जैन मार्ग तो शुद्ध है, निन्दा योग्य नहीं है, फिर भी मुनि, आर्यिका, श्रावक–श्राविका के द्वारा अज्ञान या प्रमाद से अथवा शरीरिक, मानसिक वाचिक कोई दोष उत्पन्न हो जावे या दुराग्रही द्वारा द्वेष वश लगाये गये दोषों के कारण जिनेन्द्रोक्त पवित्र धर्म की निन्दा उत्पन्न हो जाये तो सम्यक् दृष्टि को सामर्थ्यानुसार उसे दूर करना चाहिए और जिन मार्ग की रक्षा करनी चाहिए। यदि सम्यक्–दृष्टि ऐसा नहीं करेंगे तो अन्य जीव जिन–धर्म से विमुख हो जायेगे और धर्म का मार्ग लोप हो जायेगा। इस लिए सम्यक्–दृष्टि धर्म वृद्धि हेतु प्रसंगानुसार ही कार्य करता है। जहाँ दोष को ढाकने की बात होती है वहाँ दोषों को ढाक देता है। ढ़ाकना और बढ़ाना विवेक पूर्ण

कार्य है। अगर किसी में गुण अधिक दोष एकाध नजर आये ऐसे व्यक्ति से विशेष प्रभावना होती हो तो सावधान चित्त से दोषों को न देखकर प्रभावी व्यक्ति के गुणों की ओर दृष्टि रखकर अपना कार्य करना चाहिए अन्यथा धर्म की भारी निन्दा होने की सम्भावना रहती है।

उपगुहन अंग आत्म सुरक्षा का कवच है। उप का अर्थ है। पास। गुहन का अर्थ है– दवादेना, छिपा देना, पीठ कर लेना, मुखफेर लेना, ध्यान नहीं देना अर्थात् किसी की कमी दिखे तो उसकी आत्मा तक मत पहुँचाना उस पर पर्दा डाल देना। दृष्टि को वहाँ से हटा देना; क्योंकि गलत वस्तु को देख कर मन भी गलत हो जायेगा। यह मन कैमरे की भाँति है। कैमरे को जिस पदार्थ के सामने रखोगे और बटन दवाओगे वही तस्वीर आयेगी रील गन्दी हो जायेगीं मानव भी एक रील है, आँखे उसकी लेंस है वह जैसा देखेगी वैसी ही सूचना मन तक पहुँचायेगी, मन विचलित होगा, तनाव से भरेगा, तुम स्वयं परेशान हो जाओगे इसलिए न तुम परेशान हो न दूसरे को परेशान करों अपितु उपगुहन अंग का पालन करना ही श्रेष्ठ है। अगर उपगुहन अंग की ओर भी गहराई में प्रवेश करते है तो इसका अर्थ होता है किसी की बुराई को देखना ही मत, अपनी दृष्टि को इतनी प्रबल विशाल बना लेना कि किसी की कमी नजर न आयें, मन मे कुविचार उठने ही न पायें। मन को बुराई से बचाना ही असली उपगुह्न है। मन के सरोवर में बुराई की काई जमने नहीं देना, चित्त की भूमि पर बुराई की झाड–झंकार उगने ही नहीं देना, मन के सागर में बुराईयों के मगरमच्छ को तैरने ही न देने का नाम ही उपगुहन अंग है।

किसी की कमियों पर ध्यान देने से मन गन्दा होता है और आत्मा कर्मो से बन्धती है। आत्म विकास करने के लिए, मैत्री भाव बढाने के लिए यह अंग महत्वपूर्ण अंग है। अगर किसी के दोष नजर भी आये तो उस व्यक्ति की बुराई मत करना उसकी परिस्थिति को समझना क्योंकि कभी कभी व्यक्ति गलती नहीं करता है, परिस्थितियाँ गलती करवा देती है। इस लिए परिस्थतियो को समझकर ही आगे का कार्य करे। परिस्थिति को समझे बिना मात्र कृत्य को देख दोषारोपण किया जाता है तो स्वयं को भी कष्टों का सामना करना पडता है, क्योंकि ये सभी जानते है कि किसी को पत्थर मारना है तो सबसे पहले स्वयं के हाथो मे पत्थर लेना होगा, किसी को चाकू मारना है तो सबसे पहले अपने ही हाथों में चाकू लेना होगा अगर किसी के घर में आग लगानी है तो सबसे पहले स्वयं के हाथ में अग्नि लेनी होगी। इसी प्रकार अगर किसी की निन्दा करनी है तो सबसे पहले स्वयं के मन को गन्दा करना ही पडेगा। मन के गन्दे होने से स्वयं को ही कर्मो का आश्रव होगा; क्योंकि यह कहा नहीं जा सकता कि शिथिलता को स्वीकारने वाला जानबूझकर शिथिल है या परिस्थिति वशात्। अगर परिस्थितिवशात्त कृत्य हुआ है

तो मजबूरी है। अनिच्छा पूर्वक दोष महादोष रूप नहीं होता है इसलिए उसकी पाप का आश्रव नहीं सोचने, कहने वाले को ही पापाश्रव हैं।

आचार्य समन्त भद्र देव कह रहे है कि–दूसरे के दोष देखना, खोजना अज्ञानता का प्रतीक है। ज्ञानी दोष नहीं देखता गुण ग्रहण करता है। अगर कोई अपने आपको सम्यक् दृष्टि कहकर दूसरे के दोष देखता है तो इसका अर्थ हुआ कि उसका लक्ष्य सत्य नहीं असत्य है, गुण नहीं अवगुण है। सम्यक्–दृष्टि को कभी किसी की कमी दिखाई पड जाती है तो वह तुरन्त छोटा बन जाता है उसका मित्र बन जाता है, उसका प्रेमी बन जाता है और उसके एकदम निकट चला जाता है और उसे अपने प्रेम से इतना प्लावितकर देता है कि वह अपने दोष को छोड़कर शुद्ध चित्त का धारी हो जाता है। इसी का नाम सम्यक् मैत्री, सच्ची करूणा या उपगुह्न अंग है।

हे सम्यक्त्वइच्छुक भव्य जीवों! सीता को याद करों? रामचन्द्र जी ने सीता को कृतान्त वक्र सेनापति द्वारा बन में छुडवा दिया था, उस वक्त भी सम्यक–दृष्टि सीता ने राम की बुराई नहीं की। अपितु राम को सन्देश दिया कि हे स्वामिन्! जिस प्रकार किसी धोबी के कहने से आपने मुझे वन में छुडवा दिया है उसी प्रकार किसी अज्ञानी मिथ्या दृष्टि के कहने से अपना जिन धर्म मत छोड देना। मैं तो अपने पूर्व कृत कर्मो का फल भोग रही हूँ। आपके द्वारा दी गई सजा कर्म निर्जरा में कारण है, आपकी निन्दा में नहीं। आपने मुझे छोडा कोई बात नही पर जिन धर्म मत छोड देना अन्यथा भव की भटकन पुनः प्रारम्भ ही जायेगी सम्यक–दृष्टि जानता है कि यह धर्म मेरा है, जिन शासन हमारा है अगर इसे कोई छोड़ता है या इसकी कोई निन्दा करता है तो धर्म एवं धर्मात्मा दोनों ही बदनाम होते है और लोगों की धार्मिक आस्था, श्रद्धा, विश्वास समाप्त हो जायेगा। इसलिए धर्म, धर्मात्मा एवं स्वयं की आत्मा की सुरक्षा के लिए यह जीव उपगुहन अंग का पालन करता है। व्यवहार उपगुहन अंग का पालन हम किसी भी रूप में उपर्युक्त गुण–दोष का ख्याल रखते हुए सतत् पालन कर सकते है। निश्चय उपगुहन अंग के पालन करने के लिए आचार्य ब्रह्मदेव सूरि 'द्रव्य संग्रह' ग्रन्थ में विवक्षित विषय का विस्तरीकरण करते हुए कहते है कि–

निश्चयनयेन पुनः तस्यैव व्यवहारोपगुहन गुणस्य तस्यैव सहकारित्वेन निज निरंजन निर्दोष परमात्मनः प्रच्छादकाः ये मिथ्यात्व रागादि दोषास्तेषां तस्मिनेव परमात्मनि सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुष्ठान रूपेण यद्यानं तेन प्रच्छानं बिनाशनं गोपनं झम्पनं तदेवोपगूहनमिति ।।41/174।।

निश्चय नय से व्यवहार उपगुहन गुण की सहायता से अपने निरंजन निर्दोष परमात्मा को ढ़कने वाले रागादि दोषों को उसी परमात्मा में सम्यक् श्रद्धान ज्ञानानुष्ठानरूप ध्यान

के द्वारा ढकना, नाश करना, छिपाना, झम्पन करना सो उपगुहन गुण है।

अन्त में इतना ही ख्याल रखे–उपगुहन का अर्थ है–दूसरे को ऊपर उठाने की आतुरता–आकांक्षा–अभिप्सा ओर अनुपगुहन का अर्थ है–दूसरे को गिराने की आतुरता, दूसरों को अपमानित करने की अभिप्सा दूसरे क`अवमानना की आकांक्षा। उपगुहन अंग आत्मिक प्रेम प्रगट करता है। स्वयं को दूसरे के लिए अर्पित करता है, पर के उत्थान की भावना से भरता है। उपगुहन का फूल तभी खिल सकता है जब सम्यक् दृष्टि जीव सभी जीवों को अपने समान देखने लगता है। इसी से परदोष दर्शन का अन्त होता है और आत्मिक–प्रेम का जन्म होता है। किसी की बुराई करने से परमात्मा नहीं मिलता अपितु आत्मिकता प्रदान करने से स्वयं का परमात्मा प्रगट होता हैं। जैसे बाँसुरी को तोडने से संगीत पैदा नहीं होता बल्कि बॉसुरी को फूँकने से संगीत पैदा होता है; उसी प्रकार व्यक्ति की निन्दा करने से जीवन महान् नहीं बनता बल्कि व्यक्ति को प्रेम की फूॅक देने से महान् बनता है। जीवन को पुष्पित् पल्लवित करने दिव्यानन्द से भरने उपगुहन अंग का पालन करें। दूसरे की कमी कभी न देखें, स्वयं की कमी अभी देखे। यह साधना सॉप के सीधे चलने जैसी कठिन साधना है; क्योंकि हमारे मन का दीपक शुद्ध भावना की चिमनी से रहित है जरा सी बाहर दोषों की हवा चलती है तो तुरन्त कपकपाँ जाती है, उसी कपकपाहट को दूर करने स्वयं पवित्र होकर, अन्यों को पवित्र करें। यही उपगुहन अंग है आत्मा का परिमार्जन है

अब यहॉ कदाचित् पर के दोष दिखे या कोई चारित्र से पतित होगे तो उसे उस चारित्र मे पुनः स्थापित कराने की बात करते हुए आचार्य देव ने छटवें नम्बर पर स्थितकरण अंग को रखा है

स्थितिकरण अंग : संसार में इंसान की प्रवृत्ति अत्यन्त विपरीत है। वह गिरते हुए को तो गिराता ही है, पर चढ़ते हुए को भी गिराने की चेष्टा करता है, पर समयक् दृष्टि की विशेषता होती है कि वह न तो चढते हुए को गिराता है, न गिरते हुए को और धक्का देता है अपितु करूणार्द होकर धर्माभिभूत होकर धर्म से, त्याग से, च्युत होते हुए इन्सान को ऊपर उठाने की, उसे संभालने की, पुनः धर्म में–त्याग में स्थित करने की चेष्टा करता है, सहारा देता है; क्योंकि विकलांग मनुष्य को बैशाखी का सहारा मिल जाता है तो वह अशक्त होकर भी सशक्त होकर बैशाखी के सहारे मीलों की यात्रा तय कर लेता है; उसी प्रकार मनुष्य किसी कारणवशात् या दर्शन व चारित्र मोहनीय कर्मोदय के कारण से दर्शन व चारित्र से च्युत होता है तो उसे धर्मात्मा जनों को सहज प्यार दुलार देकर संभालना चाहिए।

आज चारों तरफ मिथ्यात्व का बोल बाला हैं, चारों तरफ उसी की महिमा का गुण गान हो रहा है। उन्हीं के चमत्कार दृष्टि गोचर हो रहे है मनुष्य का मन चंचल है।

चमत्कार अथवा प्रभाव को देखकर वह विचलित हो जाता है। सांसारिकता में उलझकर सम्यक् पथ से भटक कर और अपने दुखों से मुक्त होने मिथ्या दृष्टि देवी–देवता के पास निरन्तर भाग रहा है। जरा सा मन्त्र सिद्धि या भभूत, गण्डा, ताबीज उसे मिल जाता है तो वह इँसान संयोग वशात् हुए कार्य को देवी–देवता की कृपा मानकर उन्हीं की आराधना–उपासना में तल्लीन हो जाता है। इससे इंस"न भटक जाता है और इंसान मिथ्यात्व को धीरे से स्वीकार कर लेता है। इसलिए समन्त भद्र देव ने कहा है–

दर्शनाच्चरणा द्वापि चलतां धर्म वत्सलैः।
प्रत्यवस्थापनं प्राज्ञैः स्थितिकरण मुच्यते ।।

सम्यक्–दर्शन एवं सम्यक्–चारित्र से चलायमान होने वाले लोगों का धर्म वत्सल जनों के द्वारा पुनः स्थापना करने को प्रज्ञा पुरूषस्थितिकरण अग कहते है। यहाँ तीन ही वाक्य मुख्य है–**दर्शनाच्चरणा–धर्म वत्सलै** और **प्राज्ञैः**। अर्थात् धर्म के प्रति वात्सल्य भाव होने के कारण प्रज्ञा पुरूष दर्शन व चारित्र से च्युत होने वाले जीवों को संभालता है। निजी स्वार्थ साधने नहीं। सबसे पहले दर्शन शब्द लिया यानी आचार्य कहना चाह रहे है कि– अगृहीत मिथ्यात्व तो अन्तरंग की परिणति है। वह दिखाई नही पडती पर गृहीत मिथ्यात्व बाह्य परिणति है। वह दिखाई पडती है। कम से कम गृहीत मिथ्यात्व तो पहले छूटे। इसलिए आचार्यो ने दर्शन शब्द लिया अर्थात् सम्यक् दर्शन से च्युत होते हुए प्राणी को स्थिर करना अर्थात् **प्राज्ञैः** प्रज्ञावान पुरुष पहले स्वयं स्थिर होता है, विशुद्ध परिणाम वाला होता है। वह संसारी प्राणियों को देखता है कि कई इंसान स्वार्थ पूर्ति के लिए मिथ्यात्व का सेवन कर रहे है। मिथ्यात्व की पुष्टि वाले स्थानों में भ्रमण कर रहे हैं अपनी मनोकामना की पूर्ति के लिए उन्हीं की जाप–पाठ–पूजा–स्मरण कर रहे हैं। उसे उस मिथ्याकृत्य से छुड़ाने, गृहीत मिथ्यात्व से छुडाने, पहले वीतरागता के सम्मुख लाने का प्रयास करता है और उसे वीतरागता के पोषक तीर्थ महावीर जी तिजारा, पद्म–प्रभु, संमेद शिखर, गिरनार, चम्पापुर पावापुर, पुष्पगिरी आदि की वन्दना करने की प्रेरणा देता है। उसे दिगम्बर सन्तों के पास ले जाता हैं और उसके मन को सन्तुष्ट करता है। किसी कारण वशात् वह परेशान है, क्लान्त है दुखी है पीडित है तो उसे वीतरागता के पोषक मन्त्र–यन्त्र देता है।

मुनिराज का आशीर्वाद दिलाता है। णमोकार मन्त्र, भक्तामर, मृत्युंजयी, चौसठ ऋद्धि, शान्ति विधान, सिद्धचक्र, कल्याण मन्दिर आदि विधान करवाता है ताकि वह गृहीत मिथ्यात्व से बचे, वीतरागता की ओंर अग्रसर होवें। ऐसी–प्रेरणा **"धर्म वत्सलैः"** धर्म के प्रति वात्सल्य की भावना से जाग्रत करें। यह प्रेरणा नियमतः राग से हटा कर वीतरागता की ओर प्रेरित करेगी। अगर किसी साधक सन्त ने उसे मन्त्र दिया है, उसे दिगम्बरत्व

की ओर अग्रसर किया है तो उसे संभाला ही है अन्यथा वह दुखी इंसान दुख से मुक्ति पाने मिथ्यात्व का सेवन करता तो धर्म से ही वंचित हो जाता। जैन तीर्थो पर जाना, मन्त्र जपना, वीतरागता के पोषक विधान आदि करना उसे दर्शन में स्थिर करना है उसे मूढ़ता से बचाना है उसे अज्ञान से दूर करना ही प्रथम स्थितिकरण अंग हैं।

आचार्य श्री पुष्पदन्त सागर जी महाराज कहते है कि स्वयं संभलना, दूसरों को संभालना, स्वयं खडे होना, दूसरों को खडे होने देना, स्वंय जीना, दूसरों को भी जीने की कला सिखाना, स्वयं चलना, दूसरों को भी चलना सीखाना, स्वयं उठना, दूसरों को उठाना, स्वंय खाना और भूखों को भी खिलाने का नाम ही स्थितिकरण अंग है। सच है जब तक इंसान स्वयं नहीं संभालेगा, स्वयं नहीं चलेगा, स्वयं नहीं उठेगा, स्वयं नहीं खायेगा तो वह दूसरों को कैसे संभालेगा, कैसे चलायेगा, कैसे उठायेगा, कैसे खिलायेगा। अगर हम किसी गिरते हुए को उठायेगे तो हमारा कर्म हमें उठायेगा, हमारा पुण्य हमें संभालेगा स्थितिकरण अंग कह रहा है कि इस संसार में कोई जानबूझकर पतित हो रहा है, कोई परिस्थिति वशात् हो रहा है तो कोई मोहवशात् धर्म को छोड़ रहा है, उसे संभालना आवश्यक है। **''धर्म वत्सलैः''** अगर हमें धर्म से वात्सल्य है तो; क्योंकि दर्शनाच्चरणा द्वापि कहा यानि दर्शन व चारित्र से स्खलित हो रहा है। अगर कोई साधर्मी भाई संयम से पतित हो रहा हो–अपने व्रतों से, संकल्पों से, नियमों से, धर्म से पलायन कर रहा हो, डर कर भाग रहा हो, शिथिल हो रहा हो तो प्रेम से पास बुलाकर बैठाकर, समझा कर पुन उसी मे स्थित करना ही स्थितिकरण अंग है। यह बडे साहस का कार्य है।

आज का आदमी इसके विपरीत चल रहा है। सद्गुण का विस्तार नहीं, हास करने की भावना से भरा है। उसकी आदत मिटाने की, गिराने की है, तमाशा देखने की है। एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से बडे प्रेम से पुछ रहा था कि अगर मैं माउण्ट एवरेस्ट की चोटी पर चढ जाऊँगा तो तुम मुझे क्या दोगे? दूसरा कहता है–धक्का। हम भी धक्का देने मे माहिर है। हम भी यही सोचते है पडौसी मिट जाये, मर जाये, मुकदमा चले, आग लग जाये, तो मजा आ जाये क्योकि हम पाप में जीते है; तो मन में पाप विचार ही उत्पन्न होते हैं इसलिए संभालने का काम कम करते है। व्यंग कसने का गिराने का ज्यादा करते है। हमारी आदत गिराने की है, उठाने की नही है। हम चाहते है–दूसरा गिरे, मिटे, पिटे, बदनाम हो ताकि आनन्द मिले। ईर्ष्या की भावना ही विपरीत चिन्तन कराती हैं। पर स्थितिकरण का अर्थ है–हृदय की सरलता, मन की सहजता, दया से ओत प्रोत हो जाना। जिसका हृदय करूणा से, मैत्री से, सहजता से भरा होता है वही सेवा कर सकता है, वही दूसरे को उठा सकता है, वह अहो भाव प्रदर्शित कर सकता है। स्थितिकरण अंग को वही स्वीकारता है। जो स्वयं प्रकाश में हो, जिसने स्वयं की

अमावस्या को पूनम बना दिया हो वही पर को भी प्रकाश देने मे सक्षम होता है। जिसकी आत्मा पवित्र हो जाती है, वही दूसरे को गले से लगा पाता है। धर्म की अनुभूति जिसे होती है वही पराये का कल्मष धोने तैयार होता है। जब दूसरे की पीड़ा स्वयं की पीडा बन जाती है, तभी "**धर्म वत्सलैः**" भावना का जागरण होता है।

अगर हमारा साधर्मी धर्म से पतित हो रहा हो और हम खड़े–खडे देख रहे है मजाक उड़ा रहे है तो स्वयं के धर्म की हानि कर रहे है। हम प्राज्ञैः अर्थात प्रज्ञा पुरुषनहीं अज्ञैः अज्ञानी पुरुष है। स्वंय के धर्म को बदनाम कर रहे है। पथ और पथिक दोनों को कलंकित करने मे सहयोगी बन रहे है। जबकि दोनों ही मोक्ष मार्ग के पथिक है। दोनों का लक्ष्य एक है, दोनों का साध्य एक है, ध्येय एक है, मंजिल एक है फिर ईर्ष्या नहीं होनी चाहिए अपितु सफर के सहयोगी बनकर गन्तव्य तक पहुँचाना चाहिए स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका करते हुए आचार्य शुभ चन्द्र कहते है कि– **भेदाभेद रत्नत्रययाधारस्य चतुर्रसंघस्य मध्ये सदा कोऽपि दर्शन-चारित्र मोहोदयेन दर्शन ज्ञान चारित्र न परित्यक्तु व्यवहारेण वाच्छति तदागमा विरोधेने यथाशक्या धर्म श्रवणेन वाऽर्थेन वा सामर्थयेन वा केनाप्युपायेन यद्धर्मे स्थिरत्वं क्रियते तद्स्थिरीकरणमिति। तथा दर्शन चारित्र मोहोदय जनित समस्त मिथ्यात्व रागादि विकल्प जाल त्यागेन निज परमात्मा स्वभावेनोत्पन्न परमानन्देके लक्षण सुखामृत रसास्वादेन तल्लयतन्मय परम समरसी भावेन चिन्तस्थिकरणमिति (का. गा 420/180)**

मुनि–आर्यिका, श्रावक– श्राविका के भेद से चार प्रकार के संघ मे से जब कोई व्यक्ति दर्शन मोहनीय या चारित्र मोहनीय कर्म के उदय से सम्यक् दर्शन या सम्यक् चारित्र को छोड़ना चाहता हो तो यथा शक्ति आगमानुकुल धर्म का उपदेश देकर या धन की सहायता देकर यथा शक्ति का प्रयोग करके अथवा अन्य उपाय से भी जो उसे धर्म में स्थित किया जाता है उसे व्यवहार से स्थितिकरण अंग कहते है और मिथ्यात्व राग–द्वेष आदि समस्त विकल्प जाल को त्याग कर अपने आत्म स्वभाव में स्थिर होना निश्चय से स्थितिकरण गुण है।

सच है, धर्मोपदेश तो स्थिरता का पहला माध्यम है, पर कोई जिन भक्त पूजा–पाठ–भक्ति करता हो, परिवार में धन का अभाव हो वह प्रलोभनों में फॅसकर मिथ्या मार्ग–यह कह कर अपना रहा हो कि इतने दिन पूजा–भक्ति की कौन सा कार्य सिद्ध हो गया। पेट भर रोटी भी नसीब नहीं हो रही, आगे की बात ही छोड़ो ? अब तो मैं फलाने देवता की उपासना कँरूगा ताकि जिन्दगी तो ठीक चले और इस भावों से भरकर अगर जिन धर्म से मुक्त हो रहा हो तो उसे संभालने धन भी देना स्थितिकरण है कि ले भैया! आज से तेरी व्यवस्था मैं करता हूँ तू जिन धर्म ना छोड़, प्रभु से नाता जोड और आत्मा का उद्धार कर। यह भावना भी धन देकर धर्म मे स्थिर करना है। कदाचित् कोई साधक घर–बार

त्यागकर मुनि दीक्षा धारण कर ले, बाद में किसी कारण वशात् परिवार के लोग भूखे हो और मुनिराज को इसकी जानकारी हुई–मुनिराज के मन मे मोहाभिभूत हो परिवार के भरण–पोषण का ख्याल आया कही वे पद को छोड़कर परिवार के लिए पुनः घर जाते है। ऐसी जानकारी किसी श्रेष्ठ ग्रहस्थ को मिले तो वह मुनिराज को संवोधन करें और कहे–मुनिराज! रत्नत्रय का मार्ग दुर्लभ है आपको सुलभता से प्राप्त हुआ है आप परिवार का मोह छोडे आत्म ध्यान करे। हम उनकी व्यवस्था कर देगे। बस इतना कहने से, व्यवस्था करने से मुनिराज भी निर्विकल्प साधना में पुनः स्थिर हो जायेंगे और आप भी **"प्राज्ञै"** प्रज्ञावान श्रावक की श्रेणी में आ जायेगे।

कभी शक्ति के माध्यम से भी स्थिर करना होता है। अपनी बिरादरी का स्वार्थ, यश–धन, लिप्सा के कारण विधर्म को स्वीकारता है तब समाज के प्रभावी व्यक्ति दबाव डालकर उसे स्वधर्म में स्थित करते है। वारिषेण मुनिराज ने विचलित होते पुष्पडाल मुनिराज को शक्ति का प्रयोग करके प्रेम से ही पुनः मुनि धर्म में स्थापित किया। यह कहकर नहीं पिण्ड छुडाया कि मुनि तो बन गये लेकिन कानी स्त्री का भी मोह नहीं छोड़ पाये, जाओ उसके पीछे मरों, न ही ढिढोरा पीटा की कैसे–कैसे लोग सन्यासी बन जाते है, अपितु स्वयं राजगृह जाकर अपनी ग्रहस्थ अवस्था की 32 स्त्रियों के सौन्दर्य का दर्शन करा कर सम्बोधन करते है कि–स्त्री के पीछे कितने जन्म बर्बाद किये अब भी अगर बर्बाद करोगे तो अपनी आत्मा मे लगे धर्म के कल्पवृक्ष को उखाड़ कर वासना के बेशरम के वृक्ष लगा कर अपने जीवन को विषाक्त करोगे। सम्बोधन ने असर किया वे पुनः मुनि–धर्म मे स्थिर हो गये। प्रज्ञावान ही स्थिर करता है। मुर्ख तो और व्यंग कसकर धर्म से हतोत्साहित करता है।

स्वधर्म मे स्थित करने के सभी माध्यम स्वीकृत है। स्थितिकरण अंग मे कारण है। स्वयं के धर्म व्रत संकल्प आचरण को छोडे बिना अन्य जीवों को सद्धर्म में, आचारण में, त्याग में स्थिर करना ही स्थितिकरण अंग है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र ने **"दर्शना चरणा द्वापि"** कहा। दर्शन से एवं चारित्र से पतित जनों को स्थिर करना हो स्थितिकरण अंग है। आज का इंसान संकीर्ण विचार धारा के साथ विलासी विचार धारा का हो चुका है। खाओ पिओ और मौज करों की प्रवृति पनपने के कारण चारित्र के प्रति रूझान नहीं है, यदि है भी तो बचपन की चीज नहीं पचपन की है ऐसा मानकर जवानी मे चारित्र का न पालन करता है, न करने देता है अपितु उसे पिछड़ा समझकर नकार देता है। कई लोग आज भी रात्रि भोजन त्याग कर देते है, पूजा करते है, सामायिक करते है, शराब नहीं पीते, अभक्ष्य भक्षण नहीं करते तो लोग उनके इस त्याग की प्रशंसा नहीं करते अपितु व्यंग कसते है, आ गया बड़ा भगतजी है। कदाचित् व्यंग न कसे तो त्याग को प्रोत्साहित न करके इंतजार करते है–कब इसका नियम टूटे और हम व्यंग कसे और

कदाचित् कहीं उसकी त्रुटि दिखाई पड जाती है तब उसका ढिढोरा पीटते है और कहते है–देखा बड़ा त्यागी बन रहा था, आ गया ना चौराहे पर। मालूम था हमें नया मुल्ला ज्यादा प्याज खाता है। जब तक साधु थे तब तक किया अब आ गया ना चौराहे पर। मालूम था मुझें–कितने दिन का भगत है यह। इस प्रकार व्यंग कसकर उसे प्रताडित करते है। उसकी जिन्दगी मे पुनः त्याग का फूल खिलाने की बजाय धर्म के प्रति ग्लानि का भाव उत्पन्न कर देते है। कॉटे ही कॉटे उत्पन्न कर देते है। हमारे भीतर की राग–द्वेष की भावना उसे गिराने में ही प्रसन्न चित्त होती है। गिरने वाले का उपहास् नहीं करना चाहिए अपितु दुनाउत्साह पुनः स्थापित करने का भाव उसके मन में भर देना चाहिए। इसलिए आचार्यो ने **धर्मवत्सलैः** शब्द लेकर कई बात का समाधान कर दिया कि किसी दुश्मन को भी चारित्र से सद्धर्म से च्युत होते देखो तो धर्म के कारण उसे संभालो। स्थितिकरण का अर्थ ही यही होता है कि व्यवहार में व्रतों मे स्थित होना निश्चय में, स्वाभाव में स्थित होना। आचार्य कुन्द–कुन्द देव ने 'समयसार' गन्थ में लिखा है–

उम्मंगं गच्छन्तं सिवमग्गे जो ठवेदि अप्पाणं।
सोठिदि करणेण जुदो सम्मदिट्ठि मुणेयव्वों ।।234।।

उन्मार्ग में जाते हुए आत्मा को जो शिव मार्ग (सन्मार्ग में) स्थित करता है, वही वास्तविक स्थिति करण है। ऐसा सम्यक्–दृष्टि मुनिजन कहते है। **''प्रत्यवस्थापनंप्राज्ञैः''** प्रज्ञावान पुरुष संसारिक मार्ग से हटाकर मोक्ष मार्ग मे स्थित करते है। जो जैनकुल में जन्म लेकर निज धर्म को छोड़कर मिथ्या मार्ग में जा रहा हो सम्यक् मार्ग से भटक गया हो, मुनिराजों की सेवा भक्ति से विस्मृत हो गया हो, त्याग को जड की क्रिया बताकर उसे छोड दिया हो, स्वाध्याय संयम से विमुख हो गया हो यानि देव शास्त्र गुरु का द्वार भूल गया हो उसे उनकी महिमा बताकर पुनः सन्मार्ग मे स्थापित कर देने का नाम ही स्थितिकरण अंग है, क्योंकि इस संसार में जब इॅसान को मार्ग सुलभ दिखता है, संगति खराब मिलती है, धन का आगमन दिखता है, भोग का प्रलोभन दिखता है। साक्षात् चमत्कार नजर आता है, बाहर सम्मान और यश मिलता है, तब लोग भटक जाते है, बहक जाते है, सत्य को भूल जाते है। धर्म से दूर जाते है, व्यसनी हो जाते है, मिथ्यात्वी हो जाते है, हिंसक हो जाते है उन्हें प्रशम, संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य गुण के जागरण करने का पुरुषार्थ करना ही स्थितिकरण अंग है।

इस अंग का पालन करना सम्पूर्ण समर्पण का प्रतीक है। जीवन को न्यौछावर करना पडता है। आज का युग बडा विपरीत है। कोई सत्य के मार्ग पर कदम बढ़ाने को उत्सुक हो तो उसकी टॉग खींचने वाले छत्तीस मिल जाते है। उसे किसी भी प्रकार का लांछन लगाकर पुनः संसार में घसीटना चाहते है। विलासिता के युग में कुछ ऐसे भी उत्पन्न हो गये है, जो त्याग को हेय बताकर मात्र ज्ञान के पीछे दौड़ा रहे है ओर

चारित्र की उपेक्षा कर रहे है। उन्हे भी आगम का बोध कराकर विभाव से स्वभाव मे लाने की चेष्टा करें। संसार सागर पार करना एक दुरूह कार्य है। इसमें अनेक व्यवधान बाधायें आती है। बाहर का आकर्षण लुभाता है। कदम बहकने के चाँस ज्यादा है। इसलिए न तो इस मार्ग में घबराये, न ही हीन भावना लाये अपितु परिणामों को संभाले और पुन. पटरी से उतरी गाडी को पटरी पर ले आये और गन्तव्य की ओर चल पड़े। ससार मे ऐसा कोई भी प्राणी नहीं है जिससे गलती न होती हो। पर गलती को दोहराना नहीं चाहिए..........गलती करके स्वयं की निन्दा गर्हा करते हुए स्वयं में स्थित हो व दूसरे की गलती दीख जाये तो सम्बोधन करे। उसे भी स्थिर करे। सम्यक् मार्ग में आना और लाना ही तो स्थितिकरण अंग है।

आज के दुस्सम पचमकाल मे बन्दर हाथी की पीठ पर बैठना चाह रहे है यानि संयमी का स्थितिकरण असंयमी करना चाह रहे है। धन से, सुरक्षा से, दान से तो कर सकते है पर मात्र ज्ञान में कमी निकालकर ढिढोरा पीट कर कदापि स्थितिकरण नहीं कर सकते। पंचमकाल में संहननहीन है फिर भी साधक चतुर्थ काल की उत्कृष्ट संहनन की चर्या को अपनाकर चल रहे है। चतुर्थ काल में बज्रवृषभ नाराच संहनन था तलवार भी चला दिया जाय तो भी शरीर का कुछ भी नही बिगड़ता था, आज तो असम्प्राप्तासृपाटिका संहनन है शास्त्र के पन्ने पलटते वक्त किनारे की धार भी लग जाये तो अंगुली कट जाती है उस काल के साधना की तुलना इस काल में करना रूई की तुलना लोहे से करना है इसलिए तुलनात्मक अध्ययन न करके सोचे पथ शिथिलता के कई कारण उत्पन्न हो सकते है, कई परिस्थिति आ सकती है बिमारी हो, ज्ञान का अभाव हो, मौसम प्रतिकूल हो, चर्या सही नहीं हो पा रही हो यातो सहयोग देकर कर्त्तव्य का पालन करते हुए कारण जानकर पूर्ण सहारा देना चाहिए, लेकिन दुष्प्रचार–प्रसार करते हुए अस्थितिकरण करने की कौशिश नहीं करनी चाहिए। समस्या को समझकर ही समाधान करना चाहिए, किसी दूसरे से किसी के बारे मे कुछ सुनकर टीका–टिप्पणी पर एक दम से उतारू नहीं होना चाहिए साहस पूर्वक समझाना चाहिए, न समझे तो जीव की ऐसी ही परिणति समझकर मौन हो जाना चाहिए। संसार में किस साधक को कब चारित्र मोहनीय कर्म का उदय आ जायें, कहा नहीं जा सकता। मुनि पुष्पडाल का आया मुनि माघनन्दि का आया, द्वीपायन मुनि का आया, रथनेमि का आया। कुछ परिणामों से कुछ कृत्यों से च्युत हुए, कुछ संभल गयें, कुछ फिसल गये। यह परिणामों की विचित्रता थी। पर धर्मनिष्ठ ऐसी स्थिति को देखकर भी यही भाव मन में धारता है। **"प्रत्यवस्थापन प्राज्ञैः धर्म वत्सलैः"** धर्म के वात्सल्य से मैं इन्हे पुनः स्थिर करूँगा, स्थिर रहूँगा चाहे दुनिया मुझे कुछ भी कहे चाहे मुझे प्राण ही गॅवाने पड़े और यही विचारे कि मेरे पास तो एक भी व्रत नहीं है। इनके पास अणुव्रत महाव्रत तो है। अरे! मेरा जीवन तो छलनी के समान है जहाँ

छेद ही छेद है। इनका जीवन तो सुई के समान है, एक छेद आ भी गया तो कपड़े सीने के ही काम आयेगां कोई बात नहीं सोचकर टाल दें।

मैं एक नगर मे गया। एक श्रावक मेरे पास प्रतिदिन आता, बस एक ही बात कहता वर्तमान में मुनि नहीं होते, मूलाचार का पालन नहीं करते, चारों तरफ शिथिला चार है। अब सभी मुनियों को एक साथ मिलकर बैठना चाहिए ओर मुनियों की आचार संहिता बननी चाहिए हो सकता है कही किसी मुनि में कोई कमी देख ली हो। उसी नजरिये से सभी मुनिराज को देख रहे थे। मुझे भी देखा, पर मैं तीन–चार दिनों तक उनकी बात सुनता रहा। यही सोच कर प्रतिदिन मेरी क्रिया देखेंगे अपने आप ही श्रद्धा से भरेंगे, हो सकता है अतीत का कोई शिथिल दृश्य मस्तिष्क में बैठा होगा, वह समयानुसार निकल जायेगा; क्योंकि कभी–कभी एक मछली सारे तालाब को गन्दा कर देती है तो एक कमल सारे सरोवर की शोभा भी बढा देता है। खैर दिन बीते–एक दिन वे पान चबाते मेरे पास आये। मैंने उनसे कहा–आजकल के सारे श्रावक भ्रष्ट हो गये, उन्हें इतना भी नहीं मालूम कि मन्दिर में चमड़े पहन कर आना चाहिए या नहीं। मुनियों के पास पान खाकर आना चाहिए या नहीं। श्रावक को रात्रि भोजन करना चाहिए या नहीं। ग्रहस्थों में बडा शिथिलाचार पनप गया है। अब सभी श्रावकों को एक साथ मिलकर एक श्रावकाचार बनाना चाहिए ताकि पता लगे एक श्रावक को देव–शास्त्र–गुरु के पास कैसे जाना चाहिए? वे मेरी बात सुनकर सहम गये। उन्हें अपनी गलती का ऐहसास हुआ। सच है स्वयं गड्ढ़े में गिरे हुए है, स्वयं डूब रहे है दूसरे को क्या निकालेंगे दूसरों को क्या बचायेंगे? पहले निज पर शासन हो फिर अनुशान हो।

इस पंचमकाल में तो आज भी मुनियों में 95 (प्रतिशत) चर्या का मुनि धर्म का पालन हो रहा है। पर ग्रहस्थोमे तो 10 प्रतिशत ही है जो अपने ग्रहस्थ धर्म को निर्वाह कर रहा है। उसे अपने **जैनत्त्व का बोध** ही नहीं है। श्रावकत्व की क्रिया तो बहुत दूर की बात है। अतः हमें चाहिए कि हम ग्रहस्थ–धर्म का ही उचित तरीके से पालन करे। मुनि मिल जायें तो उनकी सेवा का संकल्प धारण कर चारित्र में स्थित हो जाये। हमारी सेवा भक्ति इतनी अंधी न हो कि मुनियों में शिथिलाचार पनप जायें। श्रावक की चर्या सम्बन्धी प्रमाद व अन्ध भक्ति ही मुनियों में शिथिलाचार को बढ़ाने में कारण बनती है। मुनियों का स्थितिकरण तो सहज हो सकता है। ग्रहस्थों के स्थितिकरण का पुरुषार्थ अवश्य करना चाहिए; क्योंकि आज कल ग्रहस्थ जिन धर्म से ज्यादा च्युत है। दर्शन से भी भ्रष्ट है, चारित्र से तो ओर भी भ्रष्ट है। ऐसे भटकों को सन्मार्ग में लाना ही सबसे बड़ा स्थितिकरण अंग है।

अगर ग्रहस्थ ही धर्म से च्युत हो रहा हो यानि शराब पीता हो, रात्रि भोजन करता हो, सप्त व्यसन का सेवन कर रहा हो, मन्दिर नहीं जाता हो, अभक्ष्य भक्षण में संकोच

न करता हो, बीड़ी–सिगरेट, तम्बाकू खाता हो तो उसे समझाकर मार्ग में पुनः स्थिर करना चाहिए। समझाते हुए कहना चाहिए–अरे भव्य श्रावक! मनुष्य पर्याय है। तुम जैन कुल में उत्पन्न हुए हो, अच्छा घर–द्वार मिल गया और तुम इतना घिनौना कार्य कर रहे हो, शराब पी रहे हो, व्यसन सेवन कर रहे हो, रात्रि में भोजन कर रहे हो, क्यों बुराईयों को स्वीकार कर रहे हो, अरे! इनके सेवन से घर की प्रतिष्ठा समाप्त होती है। इज्जत खराब होती है परिवार का मुख नीचा होता है, कुल कलंकित होता है। अरे! इन बुराईयों को स्वीकारने से आत्मा पतित होती है, काया क्षीण होती है, वासनायें भड़कती है, धर्म ध्वंश होता है। अरे! लोग तुम्हें शराबी–जुवाडी कहते है, दूर बैठते है घर में कलह होती है, सम्पति का बर्बादीकरण है। क्षणिक सुख के पीछे क्यों धर्म को बदनाम करते हों? उठो! जागो !! शराब की जगह दूध पीओ। रात्रि भोजन न करके दिन में ही खाओं। बीडी–सिगरेट पीकर अपना विवेक मत खोओ। आचरण सुधारों, इससे तुम्हारी–तुम्हारे परिवार की प्रतिष्ठा बढेगी।

सम्यक् संस्कार पडेंगें, धर्म प्रभावना बढ़ेगी। सोचो! जैन कुल में उत्पन्न होकर यह निकृष्ट कार्य नही..... नहीं। अब ऐसा नहीं करना। इस प्रकार के भावपूर्ण सम्बोधन से वह अवश्य ही चारित्र धारेगा और आपके माध्यम से एक ग्रहस्थ का स्थितिकरण होगा यानी उनका कुलधर्म जैन धर्म में स्थित होगा। मूलाचार ग्रन्थ में कहा है –

दंसण चरणुव भट्टे जीवे दट्ठूण धम्म बुद्धिए।
हिदमिद भवगुहिय ते खिप्पं तर्क्षो णियन्तेइ ।।262।।

सम्यक् दर्शन–ज्ञान–चारित्र से भ्रष्ट हुए जीवों को देख धर्म वृद्धि कर सुख के निमित हित–मित वचनों से उनके दोषों को दूर करके धर्म में दृढ करता है। वह शुद्ध सम्यक्त्वी स्थिति करण गुण वाला है।

आज जैन धर्मावलम्बियों की संख्या कम होने का कारण है–कि हमारे पूर्वजों ने जरा–जरा सी त्रुटियों के कारण लोगों को धर्म से बाहर किया जाति से हटाया वे दूर हो गये ओर अन्य धर्म को स्वीकार कर लिया। हमने अपने अहंकार के पीछे बाँटना सीखा है, जोड़ना नहीं आज भी कई लोग जैन आचरण करते है पर हम उन्हें स्वीकारते नहीं। तो वे चाह कर भी जिन धर्म स्वीकार नहीं कर पाते है और दूर हो जाते है। आज हम प्रलोभनों के कारण भी कुल नहीं देखते और धन–शिक्षा देखकर अपनी कन्या अजैनों को देकर धर्म का ह्रास करते है। अजैन कन्या को लेकर संस्कार देना तो फिर भी उचित है, पर अपनी कन्या को पराये घर देकर खुश होना पूर्ण अधर्म है; क्योंकि अजैन घर में जाकर कन्या विधर्मी हो जाती है। जिनधर्मीता के सारे संस्कार समयानुसार समाप्त हो जाते है। हमें चाहिए कि ऐसे कारणों से बचे और विचलित होने वाले को सम्बोध कर स्थिति करण करें।

मुनियों में कहीं शुद्धोंपयोग में मन न लगा हो तो शुभोपयोग में स्थिर करें। कदाचित कषायाभिभूत होकर अशुभोपयोग में मन चला जाये, मुख से अपशब्द निकले, काय से अशुभ प्रवृत्ति पनपे, मन में कुविचार आये तो तुरन्त स्वयं को सम्बोधन करे ओर छेदोपस्थापना को स्वीकारते हुए पुन. अपने शुभोपयोग में, फिर क्रमसे शुद्धोपयोग में स्थिर होने की चेष्टा करे। ताकि आत्मा शुद्ध परम चेतन्य तत्व परमात्मा को उपलब्ध हो सके। यह बात निश्चित है–जिसकी आत्माओ में धर्मके प्रति वात्सल्य भाव होगा वह अपनी प्रज्ञा के माध्यम से स्वय रत्नत्रयवान होगा और दूसरे को भी उस मार्ग में स्थिर करेगा; जिसकी आत्मा में प्रज्ञा का सूरज उदित हो जाता है वह नियम से साधर्मी को बढता फलता–फूलता देखता हैं। सरल चित्त इंसान की ही आत्मा से करूणा का झरना फूटता है। वही पतितों का उद्धार करता है। आत्मा के मैल धोता है। अगर हमने गिरते हुए को नहीं संभाला तो मिटता हुआ व्यक्ति बदनाम नहीं होगा अपितु धर्म भी बदनाम होगा, मार्ग भी कलंकित होगा।

ससार में सभी एक दूसरे के सहारे आगे बढ़ रहे है। बिना बीज के वृक्ष नहीं उगता, बिना वृक्ष के बीज नहीं होता। यह परस्पर का सहयोगिक सम्बन्ध है। हम स्वयं दर्शन–ज्ञान–चारित्र को स्वीकारते हुए अन्य को भी उससें स्थिर करे; यही स्थिति करण हैं। यही सोचे कि संसार की बुराईयाँ न मुझे पसन्द है न दूसरों में मै इन बुराईयों को देखना चाहता हू ँ। इसलिए यथाशक्ति मैं इसे त्यागता हूँ और दूसरों को भी बुराई से बचाने की चेष्टा करूँगा। मुझे यह संसार पसन्द नहीं है। इसलिए मैं पर को त्यागता हूँ। निजात्मा में लीन होता हूँ। यही विभाव का त्याग भाव वास्तविक स्थितिकरण अंग है।

वात्सल्य अंग : सम्बोधन करके गिरते हुए को संभालना, धर्म में स्थिर करना सरल है; पर उस व्यक्ति के प्रति प्रेमभाव से परिपूर्ण होना, आत्मीय वात्सल्य प्रदान करना कठिन है। अविश्वसनीयता जिसके प्रति जाग्रत हो जाती है, उसके साथ उठना–बैठना, प्रेम को जाग्रत करना, किसी के मन में सन्देह को उत्पन्न करने वाला हो सकता है; पर वात्सल्य गुण के धारी श्रावक या श्रमण सन्देह की निगाह से परे होते है। उनके मन में मेरे बारे में वह क्या सोचेगा ? इस प्रकार की मिथ्याशल्य नहीं होती है, क्योंकि वह जानता है गलती करना मनुष्य का स्वभाव है; पर सुधार का होना भी आत्मा की पवित्रता का द्योतक है। सभी के मन से उस धब्बे को मिटाने में समय अवश्य ही लगता है। कदाचित् कोई चोरी करके पकडा जाये, पर स्त्रीगामी हो, हत्यारा हो और भावों में परिवर्तन लाकर उसे सद्मार्ग पर चला भी दिया जाये और कोई वात्सल्य से अभिभूत होकर कोई साथ देता है, तब अन्य जनो के मन में एक भाव उत्पन्न होता है। शायद यह भी गलत आदमी है; जो गलत का साथ दे रहा है ऐसी अवस्था में ग्लानि का भाव भी उत्पन्न होता है; पर वात्सल्यधारी कौन क्या सोच रहा है ? इस बारे में किञ्चित् भी विचार न करके यही

सोचता है कि प्रेम–वात्सल्य से किसी का स्थितिकरण किया है तो उसे वात्सल्य भी दूँ ताकि परिणामों की पवित्रता का निरन्तर विस्तार हो। वात्सल्य वह अन्तः सलिला है जो मानव मात्र के हृदयो को अभिसिंचित कर सहानुभूति के प्रसून मुकुलित करती है वात्सल्य जीवन के मरूस्थल को नन्दन वन बना देती है वात्सल्य सृष्टि की प्रथम प्रेरणा है जो स्वस्थ आत्मा का परिचय देती है।

वात्सल्य शब्द जैन धर्म का मौलिक शब्द है। वात्सल्य का अर्थ होता है–प्राणीमात्र के प्रति प्रेम का भाव, करुणा का भाव, मैत्री का भाव, आत्मीयता का भाव है। जिस प्रकार एक मॉ का प्रेम पुत्र के प्रति होता है उसी प्रकार यह प्रेम धर्मात्मा का धार्मिक के प्रति होता है। वात्सल्यधारी की निगाहें कमी की ओर नहीं गुण की ओर ही जाती है। जिस प्रकार मॉ को अपना काला बच्चा भी सबसे सुन्दर नजर आता है; उसी प्रकार वात्सल्यधारी को भी दूसरे के सुन्दर गुण ही नजर आते हैं। वात्सल्य गुण उसी के हृदय में प्रगट होता है। जिसके हृदय से धर्म उत्पन्न हुआ है। ओढा हुआ धर्म मात्र विद्वेष, घृणा, विघटन को ही उत्पन्न करता है। यह वात्सल्य बडा गहरा होता है। वात्सल्य में पाने की आकांक्षा नहीं, मात्र देने की आकांक्षा होती है। जैसे एक छोटा जन्मा बच्चा मॉ को कुछ भी नहीं देता–वह न चल सकता है, न बोल सकता है, न कोई विभूति उसके पास है, बिल्कुल अकेला नग्न आया है। मॉ और बेटे मे जमीन–आसमान का अन्तर है। फिर भी माँ बेटे को प्रेम देती है। खुदगीले में सोती है, पुत्र को सूखे में सुलाती है। खुद भूखी रह जाती है पर पुत्र का ख्याल रखती है। पुत्र बदले में कुछ नहीं देता। फिर भी मॉ निस्वार्थ वात्सल्य भावों से भरी रहती है। यही कारण है कि मॉ के स्तन में सफेद दूध का आगमन हो जाता है जो वात्सल्य को पराकाष्ठा का घोतक है। वह पुत्र के प्रति प्रेमाभिभूत होकर जीवन के सब सुख को छोड देती है। पाने की आकांक्षा से मुक्त होकर वात्सल्य प्रदान करती है। उसी प्रकार वात्सल्य गुणधारी भी पाने की आकांक्षा से रहित होकर धर्मात्मा से प्रेम करता है ताकि धर्म की स्थिरता के साथ बढोत्तरी भी हो सके। वात्सल्य में छोटे–बड़े का भेद समाप्त हो जाता है। वात्सल्य की भावना ही–"**बसुधैव कुटुम्बकम्**" की भावना को चरितार्थ करती है। आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है –

स्वयूथ्यान प्रति-सद्‌भाव सनाथापेत कैतवा।
प्रतिपन्तिर्यथायोग्यं वात्सल्यमभिलप्यते।।

साधर्मी भाई के प्रति उत्तम भावों से सहित होकर तथा छल–कपट रहित हो, योग्यतानुसार आदर सत्कार करना वात्सल्य अंग कहलाता है।

बिना किसी स्वार्थ के अपने साधर्मी भाई के प्रति प्रेम की धारा का बहना वात्सल्य है। यह बात निश्चित है कि ज्योति जलेगी तो प्रकाश फैलेगा, फूल सुगन्ध से भरेगा तो चारों

तरफ खुशबू फैलेगी; उसी प्रकार जब धर्म भीतर उत्पन्न होगा तो प्रेम–करुणा निश्चित रूप से जगती की ओर बहेगी। जब चेतना परिमार्जित होती है तभी वात्सल्य पैदा होता है। इसलिए आचार्य देव ने कहा–"**स्यूत्थान प्रतिसद्‌भावा**" साधर्मी के प्रतियानी अपने साथ उठने बैठने वाले के प्रति "**पैतकेतवा**" निश्छल भावों से, मायाचार से रहित होकर प्रेम करना ही वात्सल्य है। वात्सल्य बनावटी प्रदर्शन नहीं यथार्थ का दर्शन है। वात्सल्य सागर से भी ज्यादा गहरा होता है। अपनो को अपने में समाहित करना बड़ा कठिनकार्य है। जब कोई अपने जैसा ही कार्य करता है तो साधर्मी उसे आगे बढने नहीं देता। मन में विचार उत्पन्न होता है अगर वह आगे बढ गया तो मेरा सम्मान खो जायेगा। यही विचारधारा प्राय अपनो को आगे बढ़ाने में संकोच करती हैं। इसलिए आचार्य सोमदेव ने कहा–धर्मात्मा पुरुषों के प्रति उदार होना यह बडा कठिन कार्य है क्योकि–धर्मयुक्त पुरुष खुशामदों से मुक्त रहता है। वह अपने सद् कार्यो में लगा रहता है धर्म से संलग्न रहता है–कदाचित् वह धर्म में समय न दे पाये तो उसके द्वारा कथित कार्य का करना सहधर्मी का कर्त्तव्य होता है। क्योकि वह धन से धर्म का सहयोगी है तो तन का सहयोगी कार्य को उसी के नाम से सम्पन्न, प्रसन्नतापूर्वक करता है। वही उदार वात्सल्य धारी कहलाता है। उसके भीतर भक्ति भी भरी होती है।

वात्सल्य पुत्र के प्रति मॉ का होता है, तब वह मॉ पुत्र की त्रुटियों का ख्याल न रखते हुए भी सेवा करती है। उसी प्रकार वात्सल्यधारी त्रुटि को बढावा न देकर, न ध्यान में रखकर साधर्मी श्रावक एवं श्रमण की सेवा करता है। ढिढोरा पीट कर धर्मात्मा की मजाक नहीं उडाता अपितु मिष्ट वचन सुनाकर, वात्सल्य देकर आगे बढाता है। जो मानसिक व शारीरिक पीडा से पीडित है उसकी सेवा करता है और प्रेम प्रदान करता है, तभी साधर्मी स्वयं में स्थिर हो पाता है। जहॉ वात्सल्य है वहॉ प्रेम की सुगन्ध है। जहॉ वात्सल्य है वहॉ सौहार्द की मिठास है; जहाँ वात्सल्य है वहॉ चैतन्य तीर्थ का निर्माण है जहॉ वात्सल्य है वहाँ पत्थर की बोछार भी फूलो के हार से परिवर्तित हो, साधना में वृद्धि का उत्साह भरने में कारण है। वात्सल्यवान ज्ञानहीन को छोटा नहीं देखता, बलहीन को उपेक्षित नहीं करता, धनहीन से घृणा नही करता, रूपहीन को देखकर दूर नहीं भागता। अपितु उसका सद्‌चरित्र देखकर प्रेम बढ़ाता है लेकिन एक बात का ध्यान रखता है –"**प्रतिपर्ति यथायोग्यं**" योग्यतानुसार ही वात्सल्य वात्सल्य कहलाता है।

अर्थात् स्वय की एव पर की योग्यता के अनुसार ही वात्सल्य जताता है। पात्रता के अनुसार ही प्रेम बढता है। आचार्य पुष्पदन्त सागर जी महाराज कहते हैं कि–माँ और बेटे के बीच में प्रेम नहीं मोह होता है, बहन और भाई के बीच में प्रेम नहीं अनुराग होता है पति व पत्नी के बीच में प्रेम नहीं दैहिक वासना का व्यापार होता है। दो व्यक्तियों के बीच

प्रेम नहीं मित्रता होती है। वह जब धर्म से सम्बन्धित हो जाती है तब वही प्रेम अनुराग, स्नेह, मित्रता, आपसी वात्सल्य में परिवर्तित होकर सभी के प्रति निःसंकोच, निःसंदेह, निश्चल होकर हार्दिक अहोभाव का पवित्र सम्बन्ध हो जाता है। वही वात्सल्य अपना सर्वस्व लुटाने तैयार हो जाता है। यह स्थिति जल से भरे बादलों के समान हो जाती है जो मात्र बरसेंगे, वह भी भूमि देखकर नहीं समान रूप से बरसेगें अमीर गरीब कुटिया का भेद नही होगा बंजर उपजाऊ भूमि की अपेक्षा नही होगी वह मात्र सहज बरसात होगी वैसी ही वर्षा वात्सल्य धारी की होती है उसके प्रति प्रेम बरसने मे मात्र धर्म के प्रति आस्था है। आचरण की सामर्थ्य न होने पर स्वयं आचरण भले ही न करें, पर आचरणवान के प्रति समपर्ण जागता है। प्रेरणा देता है, स्वयं न चल सके पर चलने वाले की मदद करता है। वह मार्ग में चलने वालो की निन्दा नहीं करता अपितु प्रोत्साहित करता है। **प्रतिपर्ति यथोयोग्यं** का इतना ही अर्थ है कि अपने से नीचे वालों में करुणात्मक वात्सल्य होता है ऊपर वालो में श्रद्धात्मक वात्सल्य होता हैं करूणात्मक वात्सल्य कहता है– नीचे वाला आगे बढे और श्रद्धात्मक वात्सल्य कहता है–मैं भी कब उस ऊँचाई का स्पर्श करूँ। उस ऊचाई को पाने सम्पूर्ण जीवन दॉव पर लगा देता है। वात्सल्य के सद्भाव में व्यक्ति अत्यधिक संवेदनशील हो जाता है। अन्य प्राणियों का स्पन्दन उसका स्पन्दन हो जाता है। वात्सल्यधारी की चेतना एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक किसी को नहीं सताती है। सम्यक्दर्शन के आठ अंगो की तुलना में वात्सल्य को सम्यक्त्व का हृदय बताया है और हृदय शरीर का मुख्य अंग है। हृदय रुक जाता है तब जीवन–लीला समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार वात्सल्य से रहित जीव हो जाता है, तब वह सम्यक्त्व विहीन हो जाता है।

हृदय में प्रेम की रसधार होती है। इसलिए वात्सल्यधारी सम्यक् दृष्टि संसार के उद्धार की कल्पना मे डूब जाता है। उसके वात्सल्य के परमाणु जहॉ–जहॉ भी बिखरेंगे वहॉ–वहॉ नित नये आध्यात्म के सम्बन्ध बनेंगे। वात्सल्य कोमल हृदय वाला ही प्रगट कर सकता है। मोक्षमार्ग में निष्ठुरता का कोई काम नहीं है। वहाँ तो पावन गंगा बहा करती है। इसलिए वात्सल्य धारी छोटे–बडे का भेद किये बिना बहता है, फिर भी ध्यान रखता है। "**प्रतिपर्तियथायोग्यं**" पात्र के प्रति यथा योग्य वात्सल्य होता है। पदानुकूल प्रेम ही विश्वास जगाता है और विश्वास करता है। जैसी पात्रता हो वैसा ही सम्मान करना पात्रता का उल्लंघन करने से वात्सल्य समाप्त हो जाता है, स्वार्थ प्रगट हो जाता है, वह नुकसान देह भी होता है। एक ही प्रकार की बिमारी बालक को, युवा को एवं वृद्ध को हो तो औषधि एक ही प्रकार की नहीं दी जाती बालक को आधी गोली, युवा को एक, वृद्ध को दो गोली दी जाती है। तीनों को 2–2 गोली दे दी जायेगी तो बालक का मरण भी हो सकता है। युवा ज्यादा बिमार पड सकता है। इसलिए औषधि योग्यता के अनुसार ही देनी चाहिए। कहीं उल्टा दिया तो वृद्ध आधी गोली युवा एक गोली तो भी कार्य नहीं चलेगा। वृद्ध का

रोग ठीक नहीं होगा। उसी प्रकार वात्सल्य भी होता है। ग्रहस्थ के प्रति अलग, विद्वान के प्रति अलग, त्यागी के प्रति अलग एवं सन्त के प्रति अलग वात्सल्य होगा। ग्रहस्थ से परिचयात्मक वात्सल्य होता है, विद्वान से शिक्षात्मक वात्सल्य होता है। त्यागी के प्रति त्यागात्मक वात्सल्य होता है एव सन्तों के प्रति श्रद्धात्मक वात्सल्य होता है। अगर सन्तों के प्रति परिचयात्मक वात्सल्य होता है तो कल्याण नहीं होता मात्र स्वार्थ की ही पूर्ति होती है कहीं ग्रहस्थ एवं विद्वान के प्रति भी श्रद्धात्मक वात्सल्य उत्पन्न हो जाये तो वह सन्त का उपासक नहीं होता। ग्रहस्थ अथवा विद्वान को ही अपना गुरु मानकर कल्याण का मार्ग ढूंढ़ता है जो वात्सल्य नहीं स्वार्थ होता है। बिना त्याग साधना के मुक्ति की आकांक्षा जाग्रत होती है। इसलिए यथा योग्य शब्द का प्रयोग किया है। आजकल वात्सल्य समाप्त हो गया है।

साधु–साधु के प्रति वात्सल्य न होने के कारण प्रतिवन्दनादि नहीं करते। विद्वान–विद्वान होकर भी मुनि चर्या मे सम्मिलित नहीं होते। धनपति–धनपति से नहीं मिल पाते। कार्यकर्त्ता–कार्यकर्त्ता से घृणा करते है। इसी कारण सन्तों मे विद्वानों में समाज में फूट है, धर्म की प्रभावना अवरुद्ध है। एक–दूसरे को अपमानित करने के चक्कर में लगे हैं। अगर कोई श्रेष्ठ कार्य करके सम्मान पाता है तो दूसरा उसकी बुराई करके काम को खराब बताकर हतोत्साहित करता है। अरे ! वात्सल्य तो वह है कि–अगर कोई कार्य न करे या गलत करे तो उसे सहयोग देकर, समझाकर उसी के माध्यम से कार्य कराना और अपना अस्तित्व भी न प्रगट होने देना ही बडप्पन है, वात्सल्य है। अगर इंसान किसी को धन–सम्पदा नहीं दे सकता तो कम से कम मुस्कान तो दे ही सकता है। अगर मुस्कान भी नहीं दे रहा है तो उस घर में जाना भी नहीं चाहिए। कहा भी है–

"जा घर प्रेम न संचरे ता घर जान मसान।
जैसे खाल लुहार की स्वास लेत बिन प्राण।"

जिस घर में, परिवार में, व्यक्ति में, समाज में, संगठन में, संघ में प्रेम नहीं है–वह श्मसान के समान है। वे लोग वैसे ही श्वास लेते हैं। जैसे लुहार की धोंकनी बिना प्राण के हवा श्वास लेती है। हृदय–शून्य प्रेम नहीं होता है। आज प्रेम के अभाव में ही व्यक्ति की महत्वाकाँक्षाएँ जागृत हो रही है। समाज में फूट बढ रही है, प्रति स्पर्द्धा की भावनायें कहती हैं कि–उसके कार्यकाल में कार्य नहीं होना चाहिए। विपक्षी कहता है–उसके कार्यकाल में कार्य नहीं होना चाहिए। दोनों कार्य में बाधक बन रहे हैं। सामाजिक कार्य अवरुद्ध हो रहे हैं। निहित स्वार्थ के पीछे सामाजिक व्यापक हितों की उपेक्षा हो रही है। स्वार्थी राक्षसी प्रवृत्ति वाले लोग अपना समय व श्रम समाज को तोड़ने में गँवा रहे हैं। विध्वसंक विचारधारा के लोगों का बोलबाला है। सृजनात्मक विचारधारा के लोग धैर्य का जामा पहने मौन बैठे हैं। क्या यह भीतर के साधर्मी वात्सल्यता के सूखते सरोवर का

द्योतक नहीं है ? अवश्य है पर क्या किया जा सकता ? वात्सल्य रत्नाकर आचार्य विमलसागर जी महाराज कहते हैं– सम्यक् दृष्टि का आचरण सुई के समान होता है, कैंची के समान नहीं, जो जोडने का कार्य करता है, काटने का नहीं। वात्सल्य की सच्ची उपलब्धि यथा योग्य जोड़ने की है तोडने में नहीं। इसलिए आचार्य सोमदेव ने कहा– धर्मात्मा पुरुषो के प्रति उदार होना, उनकी भक्ति करना, मिष्ट वचन बोलना, आदर सत्कार तथा अन्य उचित क्रियायें करना वात्सल्य है।

वर्तमान युग में वात्सल्य आचरणवान एवं आचरणहीन दोनों के प्रति रखना अनिवार्य है। आज के युग में ग्रहस्थ धर्म से मुक्त है, व्यसनों से युक्त है जैन कुल में पुण्योदय से उत्पन्न हो गया है, सम्पदा की कमी नहीं है, निन्दा से परे है, नगर में मान्य है, राजनीति के ऊँचे पद पर स्थित है, उसे भी धर्मात्माजनों को प्रेम–स्नेह देना चाहिए। यदि धर्म स्थान पर भी उसका सम्मान खो गया, सन्तों ने प्रेम नहीं दिया, मन्दिर का द्वार बन्द हो गया तो फिर उसके सुधार की संभावना नहीं रहेगी; क्योंकि मरीज डॉक्टर के पास ही ठीक हो सकता है। मरीज के पास नहीं। बुराईयों में फँसा इन्सान सन्त भगवन्त के चरणों में ही सुधर सकता है, किसी व्यसनी के पास नहीं। समाज में अगर उसकी प्रतिष्ठा है, सम्मान है तो उसके राजनीतिज्ञ पहुँच का सामाजिक सांस्कृतिक उत्थान में उपयोग करना चाहिए अगर उसके पास दानशीलता का गुण है तो दान लेकर उसे सम्मान देकर धर्म सस्कृति का उत्थान करना चाहिए। अगर उसे समाज ने यथा योग्य वात्सल्य नहीं दिया तो वह अन्य धर्म मे प्रवेश करके दान आदि करेगा, पद का उपयोग करेगा तो जिन धर्म की हानि होगी। अत सत्संग में समाज में उसका सम्मान होगा वात्सल्य मिलेगा तो आज नही तो कल उसे अपने दुराचरण पर शर्मिन्दगी महसूस होगी और वह सत्संग में हृदय परिवर्तन करने का इच्छुक होगा, क्योंकि प्रेम, वात्सल्य हिसक–क्रूर प्राणियों का भी हृदय परिवर्तित करने मे सक्षम है, तो व्यसन युक्त जीव तो तत्क्षण भी आत्म परिवर्तन कर सकता है, क्योंकि आज के युग में नाम का जैनी भी काम का है, अगर उसकी उपेक्षा की जायेगी तो और भी जिन धर्मावलम्बियों की संख्या कम होगी। इसलिए सद्ग्रहस्थ को चाहिए कि वह व्रतों के द्वारा, विद्या के द्वारा, धन के द्वारा, शरीर के द्वारा, सम्मान के द्वारा, पद के द्वारा अन्य सम्पन्न साधनों के द्वारा शारीरिक, वाचनिक, मानसिक व्यवहार द्वारा सभी के साथ वात्सल्य रखें। जो ग्रहस्थ व्यवहार साधनों से प्रेम प्रगट करता है वह पर वात्सल्य है और जो स्वयं की उत्कृष्ट साधना, परिषह, उपसर्ग आदि में भी शुभ आचरण से युक्त होना ज्ञान–ध्यान में शिथिलता का न लाना स्व वात्सल्य है। जहाँ स्व वात्सल्य है–वहॉ निजी धर्म स्थिर होता है। जहाँ पर वात्सल्य है वहाँ जिन धर्म स्थिर होता है। जो भव्य जीव–धर्म में, मुनियों में, व्रत्तियों में, जिनवाणी में, जिनालय में धर्म रुप वात्सल्य करते हैं वही तीर्थकर पद के अधिकारी होते हैं। कुरल काव्य में कहा है–

**"अस्थिहीनं यथा कीटं सुर्योदहति तेजसा।
तथा दहति धर्मश्च प्रेम शुन्यं नृकीटकम।"**

जिस प्रकार हड्डी विहीन कीट को सूर्य अपने तेज से सुखा डालता है; उसी प्रकार प्रेम–रहित मनुष्य को धर्मशीलता नष्ट कर देती है। अर्थात् धर्मवान मनुष्य वात्सल्य रहित नहीं होता। इसलिए वात्सल्य प्रत्येक जीव के लिए आवश्यक है।

वात्सल्य का अर्थ होता है–एक–दूसरे के लिए दर्पणवत् हो जाना। किसी अनजान हृदय के लिए अपने हृदय के द्वार खोल देना; जहॉ दो आत्मायें एक–दूसरे के निकट पहुँचती है वहॉ आत्मीय रहस्य उद्घाटित होते हैं। यह वात्सल्य सरलता, ॠजुता, विनम्रता, निरंकारिता सीखाता है। इसलिए आचार्य श्री पुष्पदन्त सागर जी महाराज कहते हैं कि–बात करते वक्त मन में, किंचित भी न हो शल्य, वही पर है वात्सल्य। यह वात्सल्य जीवन का आवश्यक अंग है जैसे बिना श्वास के जीव नहीं जी सकता, बिना भोजन के शरीर हष्ट–पुष्ट नहीं होता। उसी प्रकार बिना वात्सल्य के जीव जी नहीं सकता आध्यात्मिक संस्कार हष्ट–पुष्ट नहीं हो सकते। जिस प्रकार पानी बिना कारण के बहता है, वृक्ष बिना कारण के फल देता है, फूल बिना कारण के सुगन्ध देता है, दीपक बिना कारण के प्रकाश देता है, सूर्य बिना कारण के तपता है उसी प्रकार सम्यक्–दृष्टि भी बिना कारण के अपना प्रेम वात्सल्य सभी पर बरसाता है। यह वात्सल्य जिह्वा का नहीं जीवन का विषय हैं, विचार नहीं प्रयोग है, भौतिक नहीं आध्यात्मिक है, यह बाह्य प्रदर्शन नहीं आत्म दर्शन हैं। यह वात्सल्य जमी बर्फ नहीं बहता हुआ नीर है, यह वात्सल्य खाली ठूठ नहीं हरा भरा वृक्ष है, यह वात्सल्य मटके का पानी नहीं कल–कल बहती स्वच्छ सरिता का जल है। यह वात्सल्य मुरझाया फूल नहीं सुरभित फूल है। यह वात्सल्य बुझा दीपक नहीं आलोकित दीपक है। वात्सल्य सीमा में कैद नहीं अनन्त आकाश है। अगर जिन्दगी में स्वार्थ नष्ट हो जाये, मन स्वच्छ हो जाये, धर्म के प्रति आस्था जाग्रत हो जाये, दूसरे की स्वीकृति का भाव उत्पन्न हो जाये, करुणा निसृत होने लगे, आत्मा के प्रति सच्ची श्रद्धा उत्पन्न हो जाये, वही से वात्सल्य का झरना बहने लगेगा, सम्यक्–दर्शन का कमल खिल उठेगा।

प्रभावना : जहॉ आपसी प्रेम प्रदर्शित होता है, दया–दान–भक्ति–परोपकार की किरणें बिखरती हैं, वहाँ स्वतः ही वाह–वाही होती है। जहाँ सद्गुणों की, सदाचरण की, सुधर्म की वाह–वाही हो रही है, उसी का नाम प्रभावना है। प्रभावना का अर्थ है–पतन से उत्थान की यात्रा के लिए कदम बढा देना। प्रभावना का अर्थ है अपनी भक्ति को, श्रद्धा को, आचरण को इतना निर्मल बना लेना कि दूसरा उसे ग्रहण करने को लालायित हो जाये। हमारा जीने का ढंग इतना श्रेष्ठ हो, भक्ति, श्रद्धा, त्याग, दानमय हो कि दूसरा भी उसी प्रकार जीने की आकांक्षा से भर जाये। हमारी जिन्दगी में ऐसे आचरण का आगमन हो कि

हमारे उठने–बैठने, बोलने–चलने, खाने–व्यापार करने, व्यवहार करने आदि सभी क्रियाओं से श्रेष्ठता के, सदाचरण के झरने झरें। जैसे फूल के गिरने खिलने से चारों ओर का वातावरण सुवासित हो जाता है, गन्ध हवा की पीठ पर सवार होकर दूर–दूर तक महक का एहसास कराती है उसी प्रकार जीवन के प्रत्येक सदाचरणात्मक कदम सद्वाणी की पीठ पर सवार होकर दिग्दिगन्त तक जीवन परिवर्तन की मधुर महक के रूप में पहुँच जाती है। जैसे चन्दन के वृक्ष के नीचे आसपास कोई भी वृक्ष या पौधा हो वह भी सुगन्धी से भर जाता है। उसी प्रकार हमारा भी आचरण, उपदेश ऐसा हो कि जहाँ से भी गुजरे दुराचरण का अन्धकार छँट जाये और लोगों के मन में यह भाव उत्पन्न हो जाय कि हमारा जीवन–जीवन नहीं एक बोझ है, इसे हम मात्र ढो रहे हैं। इनका जीवन वास्तव में जीवन है, आत्मा का शोध है, ऐसा ही जीवन मुझे भी जीना चाहिए। ऐसा भाव दूसरे के मन में उत्पन्न हो और वह भी सत्य की ओर उन्मुख हो जाये। इसी का नाम वास्तव में प्रभावना अग है। आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है–

अज्ञानतिमिर व्याप्ति मपा कृत्य यथायथम्।
जिन शासन महात्म्य प्रकाशः स्यात्प्रभावना।।

अज्ञान रूप अन्धकार के विस्तार को समुचित उपायों से दूर करके पूर्वा पर विरोध रहित जिन धर्म, जिन शासन का महत्व प्रगट करना ही प्रभावना अंग है।

वर्तमान मे अज्ञान रूपी अन्धकार क्या है ? धर्म को न समझना, मिथ्यात्व का पोषण करना, कुगुरु, कुदेव, कुशास्त्र, कुधर्म, कुतप की आराधना करना, धर्म मर्यादा के प्रतिकूल चलना, व्यसनों से युक्त होना, हिंसा में आसक्त होना, एकान्त विपरीत, संशय, विनय, मिथ्यात्व को स्वीकारना, आधुनिकता की दौड़ में श्रेष्ठ क्रियाओं को ढोंग समझना, धन को सब कुछ मानकर धर्म को छोड देना सामाजिक सेवा को ही धर्म मानकर परम्परागत सद्धर्म, पूजा–पाठ, भक्ति आदि को क्रियाकाण्ड समझना ही अज्ञानता है। यही अज्ञानता ही व्यक्ति को सुदेव, सुशास्त्र, सुगुरु, सुतप से दूर कर रहा है। इस अज्ञानता से जीव को दूर करना एवं रत्नत्रय की महिमा बताकर सुज्ञान का आलोक फैलाना ही प्रभावना है। आज के युग में विधर्मियों के माध्यम से धर्म की अप्रभावना कम, पर सहधर्मियों के माध्यम सेधर्म की अप्रभावना ज्यादा हो रही है। आज जैन कुल में उत्पन्न होने के उपरान्त भी हमारा आचार–विचार, व्यवहार–व्यापार सब दुषित हो रहा है। हम अपने जैनत्व के आचरण से विस्मृत होते जा रहे हैं। हमारा दुषित आचरण ही हमें कलंकित कर रहा है। हमारी मर्यादा क्रिया ही लोगों से यह कहलवाने पर मजबूर कर रही है कि ये 'जैनी पानी पीवें छान के, जीव मारे जानके–शराब पीवे शान से।'

आज पानी छानकर पीने वाला जैन शराब छिप कर पी रहा है। ऐसा व्यक्ति अकलंक

नहीं बल्कि जैन धर्म में उत्पन्न एक कलंक है। अगर हम धर्म की प्रभावना नहीं कर सकते तो दुराचारी बनकर धर्म की, कुल की अप्रभावना भी नहीं कर सकते। लोग व्यक्ति को कम जानते हैं और कहते हैं–अरे ! वो जैनी ऐसा कर रहा था। इससे सारा जैन समाज बदनाम होता है। एक समय था जब जैन कुल में उत्पन्न होने वाला 50 प्रतिशत दुषित आचरण से जनमजात मुक्त होता था। 25 प्रतिशत माता–पिता के आचरण व शिक्षा से मुक्त होता था और 25 प्रतिशत गुरुकुल या सन्त संगति में आकर मुक्त हो जाता था। जैनियों के आचरण की इतनी ज्यादा प्रतिष्ठा थी कि जैन व्यक्ति की गवाही को सत्य माना जाता था और कहा जाता था कि जैन चींटी मारने से–डरते हैं तो क्यों किसी का बुरा चाहेगा ? जैन सिद्धान्तों पर निष्ठा होने–के कारण ही समाज में उनकी प्रतिष्ठा थी। आज जैनत्व का नैतिक, सामाजिक, व्यवहारिक, धार्मिक आचरण दूषित हो गया है। कदाचित् कहीं नजर आता है तो दिखावा ज्यादा होता है, क्योंकि आज सन्त श्रद्धा से विहीन ग्रहस्थ (विद्वान) अर्थ लौलुपता में फँसकर धर्मोपदेश देते हैं। चारों तरफ विलासिता का वातावरण छा गया है। इसलिए सद्धर्म के प्रति रूझान कम हो गया है, यही आचरण का प्रदूषण धर्म की अप्रभावना में कारण बन रहा है।

धर्म की प्रभावना करने के लिए हमें ऐसा जीवन जीना चाहिए कि दूसरे के लिए वह आदर्श बन जाये, मुस्कान बन जाये। आज जब जैन जहर का, चमडे का, पोल्ट्री फार्म का, चमड़े के जूते–चप्पल, पर्स–बेल्ट का, रेशमी वस्त्र का व्यापार करते हैं। आधुनिकता की दौड में गर्भपात कराते हैं, तब विधर्मी लोग जैनियों की अहिसा का मजाक उड़ाते हैं। जैन धर्म इन्हीं अज्ञानियों के द्वारा लांछित हो रहा हैं। जब जैनकुल में उत्पन्न होने वाला दहेज के लोभ के कारण बहु की हत्याकरता है, भ्रष्टाचार करता है, कार्य में ईमानदारी नहीं रखता है तो विधर्मी उपहास करते हुए कहते हैं कि ये अपरिग्रह सिद्धान्त के प्रसारक खुद धन के लोभ में मक्खी की भाँति फँस गये। जेल की हवा खा रहे हैं–हर काण्ड में प्रकाण्ड हो रहे हैं घोटाले में ये अपने धर्म की नैतिकता की आहुति दे रहे हैं। उस एक मछली के कारण पूरा जैन समाज रूपी तालाब गन्दा हो जाता है। इसलिए चाहिए कि कुल परम्परागत आचरण में श्रेष्ठता हो तो सहज ही व्यवहार प्रभावना हो जाती है। आचार्य कार्तिकेय स्वामी ने कहा है–"मिथ्यात्व विषय–कषाय, हिंसादि पाप रूप समस्त विभाव परिणामों के प्रभाव को हटाना व्यवहार प्रभावना है।"

व्यवहार सुधरता है तब सहज ही व्यक्ति आकर्षित होता है। प्रभावना तो आचरण से होती है, मात्र व्याख्यान से नहीं होती। यदि परिवार का आचरण अच्छा होता है तो परिवार अच्छा माना जाता है। जाति का आचरण अच्छा होता है। तब जाति अच्छी मानी जाती है। नगर का व्यवहार आचरण अच्छा होता है तो नगर अच्छा माना जाता है। सभी अच्छे

लोग, अच्छे मित्र, अच्छे परिवार, अच्छे नगर ही पसन्द करते हैं। कहीं स्वयं ही अच्छे आचरण करने लग जाये तो धीरे–धीरे अच्छाई का सहज ही विस्तार हो जाता है धर्म तप की सुगन्ध तो आचरण रूपी हवा की पीठ पर सवार होकर प्रत्येक जनमानस को सुगन्धित करती है। जो आचरण मात्र दूसरे को प्रभावित करने के लिए स्वीकारे जाते हैं। वे आचरण जीवन का उत्थान नहीं कर सकते; जो आचरण आत्मोत्थान के लिए किये जाते हैं वही आचरण जीवन को महान, आदर्शवान एवं अनुकरणीय बनाते हैं। प्रभावना अंग स्वयं को सदाचरण, सद्धर्म की स्वीकृति का सुन्दर परिधान पहन कर स्वयं को श्रृंगारित करने की बात करता है।

आज के युग में आधुनिक आचरण ही सभ्यता की कसौटी है। आधुनिकता पर ही लोगों को गर्व है तथाकथित डिग्रीधारी बुद्धि जीवी पूजापाठ, आराधना, तपस्या, उपवास को ढ़ोंग समझते हैं। दिगम्बर सन्तों के वेश को देखकर उनकी त्याग साधना, वीतरागता को देखकर कदाचित प्रभावित भी हो जाये तो उस परम्परा के अनुयायियों के गिरते आचरण को देखकर और भी धर्म से धर्मात्मा से दूर हो जाते हैं। संस्थापकों पर दूषण लगाना प्रारम्भ कर देते हैं। आज जैन धर्म की प्रभावना कायम है तो जैन मुनियों से है, त्याग से है ग्रहस्थों से नहीं है। अगर ग्रहस्थ भी परम्परागत जैनत्व का आचरण करता है। कुछ बाह्य प्रभावना को स्वीकार करता है, जो निश्चित प्रभावना होती है। अन्तरंग की प्रभावना तो त्यागी, सदाचारी मुनिराज करते ही हैं।

बाह्य प्रभावना करने के लिए पंचकल्याणक पूजा, विधान आदि कराना, साहित्य, जिनवाणी छपवाना, जिनेन्द्र भगवान का रथ ठाट–बाट से मुख्य मार्गो में भ्रमण कराना, बेला–तेला आदि उपवास करना, पर्यटक स्थलों में जिन तीर्थ की स्थापना करना ताकि आगन्तुक भ्रमणार्थियों को जैनत्व का बाह्य बोध हो सके।

पूरे भारत की आबादी कुछ अधिक एक अरब है उसमें जैनियों की आबादी मुश्किल से डेढ़ दो करोड है इसमें भी अनेक भेद–प्रभेद सम्प्रदाय हैं वे भी बाह्य रूप से जैनत्व की प्रभावना में साथ दे सकते हैं ताकि अन्य सम्प्रदाय में निर्दोष जैनत्व की पहचान बन सके जब कभी परस्पर मिले तो फोन में व्यापार में व्यवहार में जय जिनेन्द्र का नारा अनुगुंजित करें जैसे मुसलमान आदाब अर्ज किया करते हैं सिख मिलते हैं तो सत् श्री काल कहते हैं हिन्दु मिलते हैं तो तब जय श्री राम कहते हैं ईसाई आपस में गुडमार्निंग करते हैं तो जैनी भी व्यवहार में अपनी पहचान कायम रखने जय जिनेन्द्र कहें जैन समाज में समय की माँग को देखते हुए जैन जीवनशैली को गौरवमयी इतिहास स्थापित करने के लिए नाम के साथ जैन शब्द का प्रयोग करें तीन लोक के नक्से का चिन्ह मकान, दुकान, फैक्ट्री, स्कूल में बनवायें ताकि लोगों में जिज्ञासा हो और समझें जैन क्या है

सामाजिक विलासिता पूर्ण स्थानों पर भी जिन सूत्र व चित्र प्रदर्शित करें फिल्मों में टी. वी. इंटरनेट पर भगवान का चित्र, चरित्र, सुत्र दिखाने की चेष्टा करें स्कूल खोलें णमोकार मंत्र चौबीस तीर्थंकरों की प्रार्थना करें ताकि लाखों बच्चो के कण्ठ तक णवकार मंत्र पहुँचे स्कूल के प्रत्येक कक्ष में भगवान महावीर स्वामी या तीर्थकर अदिनाथ भगवान का चित्र लगवाये जैनो द्वारा संचालित स्कूल व्यक्तिगत हो या सामाजिक एक मानस्तंभ अवश्य ही बनवायें प्रत्येक पर्यटन स्थलों पर जैन तीर्थ एवं धर्म शिक्षा के साधन निर्मित करे ताकि देशी विदेशी उसे भी देखकर पूछे यह क्या है ? जैसे मन्दिर/जैन कौन यह प्रश्न उठे तब साहित्य प्रदशिर्नी व अन्य माध्यमो में जैनधर्म की जानकारी दी जा सके। शादी–विवाह के अवसर पर रात्रि भोजन न रखें ताकि ज्ञात हो जैनियों के यहाँ शादी हैं जमीकद न बने ताकि अहिसा की संस्कृति की पहचान हो सके जो भी जैन वकील हो डॉक्टर हो इंजीनियर हो अफसर हो राजनीतिज्ञ हो व्यापारी हो शिक्षक हो तो अपने क्षेत्र में अपने आचरण से शब्दों से या ड्रेससें ऐसी पहचान प्रस्तुत करे की सामने वाला स्वत ही पहचान जाये यह जैन है या जब कभी किसी भी स्थान पर सभा में सम्मानित हो बोलने का अवसर आये तो मंत्रणमोकार एक बार अवश्य ही उच्चरित करे ताकि पता चले की यह जैनी है इसलिए णमोकारमंत्र पढा या जिन तीर्थकरो का नाम लेकर कहें "प्रभु महावीर स्वामी की कृपा से। कोई ट्रॉसपोर्ट कम्पनी हो तो जैनं जयतु शासनम् यतो धर्मस्ततो जयः त्रिलोक का नक्सा णमोकारमंत्र व जैन शब्द को उजागर करें ताकि कम से कम नाम से तो जैन पहचान मे आये अगर अच्छा लेखक है तो जैनत्व की अनेक शिक्षा संस्कार संस्कृति से परिपूर्ण कथा, सूत्र, श्लोक का धर्मग्रन्थ के नाम से तीर्थंकरो के नाम से प्रस्तुत करें ताकि जैन शास्त्र पुराण की कथाऐं लोगों तक पहुँचे फिर थोडा स्वयं का भी आचरण तदनुरूप बनाये अपने ऑफिस मे महावीर की तस्वीर या णमोकारमंत्र रखें पूजा पाठ करें छना जल पीवे रात्रि में न खायें सात्विकता की पहचान बनाये जब अपने व्यापार व्यवहार में जैन शब्द का बोध होने लगे तो आचार्य सोमदेव ने कहा कि–"जिन बिम्ब जिनायतन के द्वारा ज्ञान तप एवं महापूजाओं के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए। आज जिन बिम्ब जिनालय ही हमारी सस्कृति को कायम रखे हुए हैं।" आचार्य पद्मनन्दी ने कहा है–"सरसों के बराबर भी जिन प्रतिमा, बेल के पत्ते के बराबर मन्दिर बनाकर विराजमान करने वाला स्वर्ग का पात्र है।" इस प्रकार की प्रेरणा धर्म प्रभावनार्थ ही है। उसी का परिणाम है कि आज हजारों जैन प्रतिमायें सस्कृति की प्राचीनता को दर्शा रहे हैं। हमारे पूर्वजों ने सैकडों मन्दिर, हजारों मूर्त्तियाँ बनाकर धरोहर के रूप में दी हैं। आतातताइयों ने हजारों प्रतिमाएँ खण्डित की, जैन संस्कृति को मिटाना चाहा। वे मूर्त्तियाँ टूटी–फूटी जमीन में दब गई, भूकम्प ने मन्दिरों को गिराया, प्रतिमाएँ ऑखों से ओझल हुई पर आज वही प्रतिमाएँ भूगर्भ से प्राप्त हो रही है और जैन धर्म की पताका फहरा रही है। इसी कारण

आज जैनियों के सैकडों अतिशय क्षेत्र बन गये। प्रतिमा की प्रभावना ही श्रवण बेल गोला की एव बावनगजा की मूर्ति को विश्व के आश्चर्य के रूप में प्रदर्शित कर रही है। इसलिए जिसे जैनत्व का बोध हो गया हो, वे पूजापाठ, जप–तप, पंचकल्याणक करवा के प्रतिमा आदि विराजमान कर धर्म की प्रभावना करनी चाहिए।

इस प्रकार का श्रेष्ठ कार्य करना भी जिन धर्म की प्रभावना है। इस प्रकार की प्रभावना करने वाले श्रावकों को चाहिए कि धर्म में धब्बा न लगे। इस लिए वे व्यसन मुक्त जीवन जीयें। पान, बीडी, सिगरेट, गुटका, तम्बाकू तीन मकार का सेवन न करें ताकि देखने वाले को लगे–देखो ! कितना स्वयं अनुशासित है और धर्म की प्रभावना के लिए समय दे रहा है। नगर मे मुनि–आर्यिका आदि पिच्छी धारियों का आगमन हो तो उत्साह पूर्वक समस्त नर–नारी मिलकर उन्हें नगर प्रवेश करायें, विहार करायें, चर्या में प्रभावना करें; यही धर्म की पहचान है। वास्तविक प्रभावना आचरण का सुधार है। नैतिक आचरण अच्छा होता है तो धार्मिकता ज्यादा शोभायमान होती है। जिसके जीवन में नैतिकता हो, सदाचारीपना हो, ईमानदारी हो तो उसे देखकर दूसरे पर सहज ही प्रभाव पडता है। व्यक्ति के साथ परिवार की इज्जत बढती है। कहीं वह सम्पन्न हो, सामाजिक श्रेष्ठ कार्य करता हो तो नगर का भी यश फैलता है, समाज का भी नाम होता है। आज के युग में जैन धर्म की पहचान ग्रहस्थो से कम मुनियों से ज्यादा है। एक समय ऐसा था जब ग्रहस्थ को देखकर लगता था यह जैनी है। आज मुनियो के पीछे जब श्रावक चलता है तभी पता चलता है कि ये सब जैन हैं। हमारे भीतर से धर्म के प्रति समर्पण का भाव समाप्त हो गया है। अगर प्रभावना चाहते हैं तो आचार्य कार्तिकेय कहते हैं–

विद्या एव मन्त्र आदि के बल द्वारा तथा तप व दान आदि के द्वारा जैन धर्म का उत्कर्ष करना बाह्य प्रभावना है। जैन धर्म का इतिहास देखा जाये तो विद्या के द्वारा प्रभावना आचार्य अकलंक देव ने की। छ. माह तक बौद्धों से शास्त्रार्थ करते रहे और अन्त में बौद्धों की तारा देवी को लात मार कर समाज के सम्मुख जैन धर्म की महिमा का बखान किया। आज इसी का परिणाम है कि जैन धर्म अपने अस्तित्व को लेकर अपनी पहचान को बरकरार रखा है। मन्त्र के द्वारा प्रभावना आचार्य विद्यानन्दि ने की, तब मुस्लिम शासकों ने उन्हें पकड लिया और सभा के मध्य अपमानित करके कहने लगे आप सड़कों पर नग्न घूमते हैं। अहिंसावादी बनकर कमण्डलो में मछली लेकर ढ़ोंग करते हैं और उन्हें बन्धन मे बॉधकर रख दिया। मन्त्र से मुस्लिम मन्त्रियों ने कमण्डल में मछली पैदा कर दी, पर मंत्र के ज्ञाता श्री विद्यानन्द मुनि ने अपने मंत्र के प्रभाव से उस कमण्डल में फूल का निर्माण कर दिया। मुसलमान हत्प्रभ देखने लगे, चारों तरफ जैन धर्म की जय–जयकार होने लगी। वे मुसलमान भी जैन बन गये। धर्म की प्रभावना के लिए सभी अहिंसात्मक सद्कर्त्तव्य स्वीकार्य है। वे ही सन्त विद्या, मन्त्र, चमत्कार आदि के माध्यम से प्रभावना कर

सकते हैं; जो प्रसन्नमना हो, गम्भीर हो, सहनशील हो; क्योंकि भीतर प्रसन्नचित् इन्सान ही धर्म की प्रभावना कर सकता है। जो इन्सान परम आनन्द को उपलब्ध हो जाता है जगति का प्रत्येक प्राणी उसका मित्र बन जाता है। सबके मन में उसके प्रति प्रेम उमड़ने लगता है।

प्रभावना का अर्थ है–ऐसी जिन्दगी जीओ जो दूसरे के लिए आदर्श बन जाये। जो आत्मिक आनन्द से भरा होता है वह कभी पाप नहीं करता, हिंसा नहीं करता हत्या नहीं करता, किसी को अपमानित नहीं करता, ऊपर चढ़ते हुए को नीचे नहीं गिराता, अनाचार–दुराचार–व्याभिचार किंचित् भी नहीं करता। वैरागी जीव सदा आनन्द से भरे होते हैं। वे कभी भी गलत काम नहीं करते। किसी का अकल्याण नहीं करते। जिसे भीतर का स्वाद मिल चुका है वे बाहर के स्वाद के पीछे नहीं भागते। तीर्थंकर आत्मिक आनन्द में डूबे रहते हैं, तब ही जगति के कल्याण के लिए वरदान बन जाते हैं। स्वयं भी आनन्दित रहते हैं दूसरों को भी आनन्दित करते हैं। प्रभावना करने वाले अपने ऊपर हँसते हैं। भूलकर भी दूसरे के ऊपर नहीं हँसते; जो दूसरों को अपमानित होता देखकर हँसते हैं, कमियाँ देखकर मजाक उड़ाते हैं, दूसरे के धार्मिक क्रिया में कमियॉ ढूँढते हैं और दुनिया में बखान करते हैं, स्वयं सदाचरण किंचित् भी नहीं करते वे जिन धर्म की सबसे ज्यादा अप्रभावना करते हैं।

आज देखा जाये तो प्रायः पण्डित–पुजारी–धर्मात्मा कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं। इसी कारण धर्म के प्रति लोगों का विश्वास घट गया है। साधु भी सांसरिक प्रलोभनों में फॅसकर जीविका के लिए, यश के लिए ही मात्र मन्त्र–तन्त्र, उपदेश साधना करने में लग गये हैं, जिससे आस्था मे कमी आयी है साधक को चाहिए कि प्रभावना न हो तो कोई बात नहीं, पर ऐसा आचरण कदापि न करें कि धर्म की अप्रभावना हो। जिससे विश्वास घटे। ऐसा आचरण करें कि धर्म का उत्थान भले ही न हो, पर स्वयं का उत्थान हो, जीवन पवित्र व महान् हो यही उसकी धर्म प्रभावना है। इसलिए आचार्य अमृतचन्द देव ने 'पुरुषार्थ सिद्धि उपाय' में कहा है–

"आत्मप्रभावनीयो रत्नत्रय तेजसा सतत मेव।
ज्ञानतपो जिन पुजा विद्यातिशयेश्च जिनधर्मः।।"

रत्नत्रय के तेज से निरन्तर ही अपनी आत्मा को प्रभावित करना चाहिए तथा दान, तप, जिन पूजा और विद्या के अतिशय के द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए। सच है–जिसे अपनी आत्मा की अमरता का भान हो गया हो, अमृत की झलक मिल गई हो, परमात्मा का बोध हो गया हो, वही जिन धर्म की प्रभावना को करता है। खदान खुदवाने वही तैयार होता है जिसे हीरे मिलने की उम्मीद जाग गई हो। उपवन वही लगाता है जिसे खुशबु का एहसास हो गया हो चट्टान तोड़कर वही लाता है जिसके हाथ में शिल्पकला

उत्पन्न हो गई हो ताकि वह प्रतिमा गढ सकें। सागर में गोते वही लगाता है जिसे मोतियों का पता चल गया हो और जिन धर्म की प्रभावना वही करता है जिसने अपनी आत्मा को परिमार्जित कर लिया हो। उसी के लिए कहा गया है कि–

"अष्ट अंग के धारण करते निज प्रतीति होती मुखरित"

अर्थात् जो सम्पूर्ण मिथ्या, सन्देहों से संशयों से, भयों से, मदों से मुक्त हो गया हो, सासारिक–आकांक्षाओ के जाल मे न फॅसा हो, जिसके भीतर से घृणा पलायन कर गई हो, जो वीतरागता के साथ आत्म आस्था में दृढ हो, जिसके भीतर स्वयं के गुण एवं पर के अवगुण ढाकने की वृत्ति पनप गई हो, जो सदैव पारस्परिक सौहार्द से परिपूर्ण हो, जिसका हृदय वात्सल्य की सौरभ से सुवासित हो गया हो, जिसके हृदय में अपने–पराये का भेद समाप्त हो गया हो, जो सदाचरण के माध्यम से विकृति के बाजार में संस्कृति का शंख गुजायमान करने के लिए तैयार हो तो नियम से ग्रहस्थ जीवन में श्रद्धानुभूति होती है वह उसी वेश मे 12वें स्वर्ग तक, अणुव्रती के भेष में 16 स्वर्ग तक एवं मुनिवेश में स्वर्ग मोक्ष तक जाने का अधिकारी होता है।

सराग अवस्था में श्रद्धानुभूति करता है, वीतराग अवस्था में निज की प्रतीति, आत्मानुभूति करता है उसकी आत्मदर्शन की क्षमता प्रगट हो जाती है। ये सम्यक् दर्शन के आठ अग व्यवहार पक्ष एवं निश्चय पक्ष को लेकर हैं। दोनों में से अपनी योग्यतानुसार एक भी पक्ष का अभाव किसी भी रूप में होता है तो यात्रा अधूरी रहती हैं। ऊँची कक्षा के छात्र बनने के पूर्व नीची कक्षा का प्रमाण पत्र आवश्यक है। आत्मानुभूमि के पूर्व श्रद्धानुभूति आवश्यक है। लहरो को देखने से पानी के स्वाद का अनुभव नहीं होता, जल पीने से स्वाद मिलता है। ग्रहस्थ जीवन के अनुसार ही व्यवहार का धर्म का पालन करते हुए धर्म प्रभावना करनी चाहिए। आचार्य पुष्पदन्त सागर जी महाराज कहते हैं कि– निशंकित, निष्कांक्षित, अमूढदृष्टि, स्थितिकरण ये व्यक्तिगत निश्चयात्मक अंग है तथा निर्विचिकित्सा, उपगुहन, वात्सल्य एवं प्रभावना सामाजिक संगठन, सौहार्द तथा बाह्य प्रभावना के लिए है। जिसके अन्तरंग में सम्यक् दर्शन के साथ अष्ट अंग की भावना हार्दिकता से जाग्रत हो जाती है। वह आदर्शो की मात्र प्रशंसा नहीं करता, पसन्द करता है मात्र उसकी चर्चा नहीं करता अपितु आचरण भी करता है, वही आचरण उसकी प्रभावना है। इसी प्रभावना को वीतराग अवस्था में देख कर–

"मुक्तिरमा उसको लख करके हो जाती झट आकर्षित"

मोक्ष रूपी लक्ष्मी आकर्षित हो जाती है और वरमाला पहनाकर अपने साथ उसे मोक्ष में अनन्त दर्शन ज्ञान, सुख, वीर्य पाकर आत्मा मे मग्न हो जाती है। इसलिए जैनत्व का बोध करने, हम प्रारम्भिक आचरण स्वीकारें सम्यक्त्व का बोध करे अष्ट अंग को धारण करे ताकि मुक्ति का द्वार खुल सके।

"सम्यक् ज्ञान"

जीवन की मावस को करता पूर्ण चन्द्र सम उजियाला।
ज्ञान वही सद्ज्ञान कहाता जो खोले निज पटताला।।
पूर्ण ज्ञान बिना मुक्ति न होती यही ज्ञान की महिमा है।
ज्ञान सह चारित्र होय तो बढ़ती जीवन गरिमा है।।16।।

अर्थ :

जीवन की अमावस्या में पूर्णिमा सा प्रकाश प्रदान करने वाला एवं हृदय कपाट खोलने वाला ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान कहलाता है। ज्ञान के साथ चारित्र होता है तब ज्ञान की गरिमा बढ़ जाती है और वही ज्ञान पूर्ण ज्ञान अर्थात् केवल्य ज्ञान हो जाता है। यह ज्ञान की महिमा है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

अज्ञान के गहन अन्धकार से निकालने वाला सम्यक् ज्ञान होता है। ज्ञान स्वय को परिमार्जित करता है। इस संसार में ज्ञान से रहित कोई भी जीव नहीं है। एक निगोदिया जीव के पास भी लब्धयक्षर के बराबर ज्ञान है, पर वह कुज्ञान है। सम्यक् ज्ञान तो संशय विपर्यय व अनध्यवसाय से रहित होता है, प्रमाणिक होता है। सम्यक् ज्ञान ही जीव को दिव्य रोशनी प्रदान करता है। ज्ञान स्वयं को अनुशासनबद्ध करता है। सम्यक् ज्ञान जीव को दुश्प्रवृत्तियों से बचाता है। इसलिए कहा–

"जीवन की मावस को करता पूर्ण चन्द्र सम उजियाला"

गहन जीवन के अँधियारे में सम्यक् ज्ञान ही दिव्यता की छटा उत्पन्न करता है, लेकिन सामान्य ज्ञान नहीं। सामान्य ज्ञान वस्तु से परिचय कराता है, पर बोध प्रदान नहीं करता। ज्ञान तो सभी जीवों में है। एकेन्द्रिय वृक्ष में भी इतना ज्ञान है कि उसकी जड़ें पानी तक स्वतः पहुँच जाती हैं। दो इन्द्रिय जीव भी रक्षा हेतु सिकुड़ जाता है। चींटी भी गन्ध के माध्यम से मिठास तक पहुँच जाती है, भँवरा भी काठ छेद कर अपनी सुरक्षा कर लेता है। पंचेन्द्रिय जीव भी ज्ञान के बल पर अपना स्थान, भोजन–पानी की व्यवस्था स्वतः कर लेते हैं। दर्जी को कपडे सीने के डिजाइन का पूर्ण ज्ञान है, शिल्पकार को सुन्दर आकृति–मूर्ति बनाने का ज्ञान है, इंजीनियर को सडक, पुल, मकान बनाने का पूर्ण ज्ञान है, बढ़ई को सुन्दर द्वार–अलमारी बनाने का ज्ञान है, डॉक्टर को मर्ज का ज्ञान है, रसोईये

को भोजन बनाने का ज्ञान है, ड्राईवर को गाड़ी चलाने का ज्ञान है, विद्यार्थी को परीक्षा में पास होने का ज्ञान है; पर ये सभी जीवों का सारा ज्ञान लौकिक है, संसारी है। पदार्थ तक पहुँच रखता है। इस ज्ञान से परमात्मा का कोई सम्बनध नहीं है। स्वयं के उत्थान का कोई सम्बन्ध नहीं है। यह ज्ञान लौकिक है, अलौकिक नहीं। ज्ञान तो वही है, जो आत्म–कल्याण करें। पदार्थ को संचालित करने का ज्ञान सांसारिक सुखदाता है। स्वयं को छोड पर की यात्रा कराने में कारण है। जैसे एक बुढिया के हाथ से सुई गिर गयी। वह घर के बाहर निकल आयी और सुई ढूँढने लगी। किसी पथिक का वहाँ से गुजरना हुआ, उसने उस वृद्धा से पूछा कि–अम्मा आप यहाँ क्या ढूँढ रही हो ? तब उस वृद्धा ने कहा–बेटा सुई ढूँढ रही हूँ। बेटे ने पूछा–अम्मा सुई कहाँ गिरी थी ? वृद्धा ने कहा–बेटा सुई तो कमरे मे गिरी थी। बेटा कहता है–अम्मा ! तो फिर तुम उसे बाहर क्यों ढूढ़ रही हो ? वृद्धा कहती है–बेटा अन्दर अन्धकार था इसलिए मैं बाहर ढूँढ़ रही हूँ। तब बेटा कहता है–अम्मा ! जहॉ सुई गिरी है वही ढूँढना चाहिए अन्य स्थान पर नहीं। बस उस वृद्धा जैसी स्थिति वर्तमान के ज्ञानियों की है।

पदार्थ को पाने का ज्ञान है उसी के विस्तार को, समझ को सुख मान रहे हैं और उसी के ज्ञान मे अहकारीहोकर वास्तविक ज्ञान से वंचित है। आत्मा से उत्पन्न होने वाले ज्ञान की तलाश नहीं है पुस्तको से शास्त्रों से मिलने वाली जानकारी की तलाश है उसी उधार ज्ञान को अपना मान रहे हैं। पर शास्त्रकार कहते हैं कि–

"ज्ञान वही सद्ज्ञान कहाता, जो खोले निज पट ताला।"

सम्यक् ज्ञान तो वही है जो हृदय के कपाट खोल दें। वस्तु का वास्तविक परिचय करा दें, स्वय के संसार भ्रमण का बोध करा दें, आत्मीय प्यास जाग्रत कर दें, वही सम्यक् ज्ञान है। अलौकिक ज्ञान है। मिथ्या ज्ञान व सम्यक् ज्ञान में जरा सा ही अन्तर है। मिथ्या ज्ञान संसार–वृद्धि मे कारण है, पेट भरने की कला सिखाता है, जीवन निर्वाह की प्रेरणा देता है। पदार्थ विस्तार की शिक्षा देता है, शरीर की ओर सारा ध्यान लगाता है, हिसा–अधर्म–पाप को स्वीकारने में संकोच नहीं करता है, द्वन्द्व–क्लेश–उलझनें–अशान्ति का जीवन जिलाता है, असली–नकली पदार्थों को एक–मेक कर देता है; पर सम्यक् ज्ञान सन्यास वृद्धि में कारण होता है, आत्मा को प्रकाशित करने की कला सिखाता है, जीवन निर्वाण की प्रेरणा देता है, स्वपर कल्याण की शिक्षा देता है, आत्मा की ओर ध्यान लगाता है, अहिंसा–धर्म–पुण्य को स्वीकारने को उत्साहित रहता है, अपूर्व शान्ति की तलाश में रहता है, असली को असली–नकली को नकली ही स्वीकारता है, चेतन्य आत्म तत्व को पाने की प्रेरणा देता है।

आध्यात्मिक अलौकिक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए शास्त्र की आवश्यकता होती है। जब तक आध्यात्मिक सन्त या ग्रन्थ से जीव का परिचय नहीं होता तब तक कल्याण का पथ भी प्रदर्शित नहीं होता। शास्त्र को सम्यक् ज्ञान वृद्धि का माध्यम बनाकर ही निज-पर के द्वार उद्घाटित किये जा सकते हैं। यद्यपि ज्ञान आत्मा में है पर शास्त्र सम्यक् ज्ञान प्रगट करने का माध्यम है। शास्त्र मील के पत्थर है, शास्त्र अँगुली के इशारे हैं। मील के पत्थर मे नगर नहीं होता, पर नगर तक पहुँचने के इशारे होते हैं। अँगुली में चाँद नहीं होता पर चाँद की ओर इशारा होता है, उसी प्रकार ज्ञान शास्त्र में नहीं होता, शास्त्र में तो मात्र पूर्ण ज्ञान को पाने का ईशारा होता है। उसी इशारे को समझने के लिए श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा ही ज्ञान को सम्यक् ज्ञान के रूप में परिवर्तित कर देता है। यह सम्यक् ज्ञान अनेक धर्मात्मक स्व पर पदार्थो का ज्ञान कराने में सूर्य के समान है। सम्यक् दर्शन व सम्यक् ज्ञान यद्यपि दोनों एक साथ होते हैं तो भी लक्षण की अपेक्षा दोनों में भेद है। उन दोनों के लक्षण क्रमशः श्रद्धा करना व जानना है। सम्यक् दर्शन कारण है, सम्यक् ज्ञान कार्य है। दोनों का निमित नैमित्तिक सम्बन्ध है। जिस प्रकार दीपक और प्रकाश दोनों युगपत् होते हैं फिर भी दीपक हो तो प्रकाश होता है। इसलिए दीपक कारण है, प्रकाश कार्य है। यद्यपि पूर्व के ज्ञान में कोई अन्तर नहीं होता पर भीतर से जाग्रत विवेक, श्रद्धा ही मिथ्या ज्ञान को सम्यक् ज्ञान में परिणत कर देता है। सम्यक् ज्ञान श्रद्धा गुण की परिणति है। इसे इस दृष्टान्त के माध्यम से समझे एक गुरू के समीप दो शिष्य पहुँचे, गुरु ने ज्ञान दिया। अन्त में उनकी परीक्षा करने हेतु दोनों शिष्यों को आम तोड़कर लाने का आदेश दिया ? दोनों शिष्य गये और वृक्ष से आम तोड लाये। गुरु जी ने आम स्वीकार किये और एक शिष्य से पूछा-तुम आम कैसे लाये ? शिष्य ने कहा-गुरुदेव दो चार पत्थर एकत्र किये और वृक्षों की डालियों के आम को निशाना बनाकर पत्थर फेंका-परिणाम स्वरूप मुझे यह आम प्राप्त हुए। अच्छा यह बताओ इस कृत्य से तुमने क्या शिक्षा ली ? गुरु जी ! मैंने इस वृक्ष से सहनशीलता और परोपकारिता की शिक्षा ली कि-यह वृक्ष पत्थर खाकर भी मुझे स्वादिष्ट फल प्रदान कर रहा है। हमें चाहिए कि हम भी अपकार का बदला उपकार से चुकायें। गुरूजी ने आशीर्वाद दिया दुसरे शिष्य को बुलाया और उससे भी पूछा तुम आम कैसे लाये गुरु जी पत्थर मारा आम गिरे और मैं ले आया। गुरु जी ने कहा-अच्छा इससे तुमने क्या शिक्षा ली ? शिष्य ने कहा-यही शिक्षा ली कि दुनिया में कोई मार खाये बिना किसको क्या देता है ? क्रिया दोनों की एक है पर समझ का, विवेक का पूर्ण अन्तर है। विवेक् के अभाव में वही क्रिया अज्ञान मूलक हो जाती है। आम तोड़ने का दोनों को ज्ञान है पर अर्थ समझने में जमीन-आसमान का अन्तर है। ज्ञान चाहे मिथ्या

हो या सम्यक् ज्ञान में अन्तर नहीं होता; दोनों पानी को पानी, वृक्ष को वृक्ष जानते हैं, अच्छे को अच्छा, बुरे को बुरा जानते हैं पर दृष्टि बदलते ही उस वस्तु के प्रति समझ में अन्तर आ जाता है। इन्द्रभूति जब तक मिथ्या ज्ञान मे रचे–पचे थे, मिथ्यावादी थे, पर मान स्तम्भ को देखकर जैसे ही श्रद्धा से भरे वही ज्ञान सम्यक् ज्ञान हो गया और तुरन्त जैनेश्वरी दीक्षा ले ली। इसलिए कहा–

"ज्ञान वही सद्ज्ञान कहाता जो खोले निज पटताला"

सम्यक् ज्ञान आत्म कल्याण का द्वार खोल देता है।

सम्यक् ज्ञान होने के उपरान्त जीवन का आन्तरिक एवं बाह्य परिवर्तन निश्चित ही होता है। आचार्य सोमदेव ने कहा है–सम्यक् ज्ञान मनुष्य का तीसरा नेत्र है। जिस प्रकार जन्म से अन्धे मनुष्य की लाठी ऊँची–नीची जगह को बतला कर उसे चलने और रुकने में मदद देती है उसी प्रकार सम्यक् ज्ञान हित और अहित का विवेचन करके धर्मात्मा पुरुषों को हितकारक कार्यों में लगाता है और अहित कार्य करने से रोकता है। ज्ञान तो विषय भूत पदार्थो को ही जानता है; किन्तु शास्त्र इन्द्रियों के विषयभूत और अतीन्द्रिय दोनों प्रकार के पदार्थों का ज्ञान कराता है। अतः यदि ज्ञाता का मन राग–द्वेष, ईर्ष्या–वैमनस्यता आदि दुर्भावों से रहित है तो उसे तत्व का ज्ञान होना दुर्लभ नहीं है। यदि तत्व को जान लेने पर भी मनुष्य की बुद्धि अन्धकार में रहती है तो जैसे उल्लू के लिए प्रकाश व्यर्थ है वैसे ही उस मनुष्य का ज्ञान भी व्यर्थ है। स्पष्ट वस्तु में भी बुद्धि का विपरीत होना ज्ञाता के ही दोष को बतलाता है। जैसे–पीलिया के रोगी को वस्तु भी पीली दिखती है। इसमें वस्तु का दोष नहीं, आँखों का ही दोष है। आचार्य समन्तभद्र देव ने सम्यक् ज्ञान के विषय में श्रेष्ठ श्लोक दिया है–

अन्यूनमनतिरिक्तं याथातत्थ्यं बिना च विपरीतात्
निः सन्देहं वेद यदाहुस्तज्ज्ञानमागमिनः।।

जो वस्तु स्वरूप को न्यूनता–अधिकता, विपरीतता व सन्देह से रहित जैसा का तैसा यथार्थ रूप से जानता है। उसे आगम के ज्ञाता सम्यक् ज्ञान कहते है; क्योंकि वस्तु की न्यूनता सहित जानने से, कथन करने से अव्याप्ति दोष आता है। अधिकता के साथ जानने व कथन करने से अतिव्याप्ति दोष आता है। विपरीत जानने से, कथन करने से सद्मार्ग के विपरीत ही आत्मा का रुझान होता है। सन्देह करने से बढते हुए कदम रुक जाते हैं। इसलिए यथार्थ वस्तु की यथार्थ सम्यक् आगमानुरूप जानकारी ही सम्यक् ज्ञान है। वही ज्ञान मोक्ष मार्ग के अनुरूप है। आत्म कल्याण करने में समर्थ है। सम्यक् ज्ञान के बिना तत्वों का निश्चय सम्भव नहीं है। तत्वों के प्रति श्रद्धा एवं ज्ञान के बिना न कर्मों का विनाश हो सकता है न ही मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। जिस प्रकार प्रकाश एवं मार्ग के बिना मंजिल की प्राप्ति असम्भव है। उसी प्रकार ज्ञान एवं श्रद्धा के बिना सद्गति एवं

मुक्ति की प्राप्ति भी असंभव है। जो मनुष्य निर्मल सम्यक् ज्ञान गुणों से विभूषित है। उसके तत्वों की प्राप्ति एवं कर्मों का नाश करना कठिन कार्य नहीं है। इसलिए मनुष्य को सम्यक् ज्ञान की आराधना निरन्तर करनी चाहिए। सम्यक् ज्ञान को आगमज्ञों ने चारों अनुयोगों में विभाजित किया है। जिसे प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानयोग एवं द्रव्यानुयोग कहा है। जिसे **प्रथमं करणं चरणं द्रव्यं नमः** के रूप मे प्रतिदिन प्रणाम किया जाता है।

प्रथमानुयोग : धर्म की प्रारम्भिक शिक्षा का नाम प्रथमानुयोग है या जिस ग्रन्थ में पुण्य–पाप करने वाले प्रसिद्ध पुरुषों का वर्णन हो, वह प्रथमानुयोग है। या जिस ग्रन्थ में तीर्यञ्च से तीर्थकर तक, जानवर से जगदीश्वर तक इन्सान से भगवान तक किसी जीव की सम्पूर्ण यात्रा का व्याख्यान हो वह प्रथमानुयोग कहलाता है। प्रथमानुयोग में प्रथम उपदेश कथाओं के माध्यम से दिया जाता है। जिस प्रकार एक विद्यार्थी पहले प्राथमिक फिर माध्यामिक फिर उच्चतर फिर कॉलेज तक की यात्रा क्रमानुसार करता है, उसी प्रकार एक श्रद्धालु भी प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग, द्रव्यानुयोग की यात्रा करता है। जैसे प्राथमिक कक्षा में पढने वाले बालक को कथा–चित्र, दृश्य–जीवनी के माध्यम से ज्ञान कराया जाता है, वैसे ही धर्म जिज्ञासु को प्रथमानुयोग के माध्यम से धर्म का बोध कराया जाता है।

प्रथमानुयोग के अध्ययन से बाल, वृद्ध, युवा, अज्ञानी, अक्षर ज्ञानी सभी शीघ्रता से घटनाओं के माध्यम से बोध को प्राप्त होते हैं। प्रथमानुयोग ही प्रथम अवस्था में मिथ्यात्व से हटाकर सम्यक्त्व का प्रतिबोधन कराता है। प्रथमानुयोग वर्तमान काल के अनुसार एक नोविल (उपन्यास) की भॉति है या किसी पिक्चर की भॉति है। जैसे एक उपन्यास में किसी को प्रमुख पात्र बनाकर उसके जीवन, रहन–सहन, माता–पिता, सम्पर्क, व्यापार, कुकृत्य, सुकृत्य सभी का वर्णन किया जाता है। अन्त में उसका रहस्य किसी भी रूप मे उद्घाटित होता है। अथवा पिक्चर में किसी के जीवन की झॉकी तीन घण्टे तक दिखाई जाती है। अन्त में मिलन, बिछोह, मृत्यु या लक्ष्य प्राप्ति दिखाई जाती है। उसी प्रकार प्रथमानुयोग में भी किसी भी महान् पुरुष की जीवन झाँकी उस काल की सामाजिक दशा, वेश–भूषा, रहन–सहन, रीति–रिवाज, सभ्यता, संस्कृति, रुप–साज, व्यापार, पारिवारिक स्थिति, तात्कालीन परिस्थिति, देश, राज्य–विस्तार, नदी–सरोवर, पर्वत, गुफा, उद्यान, फल–फूल, पशु–पक्षी, सग्राम, कला, शिक्षा, आभूषण, प्रसाधन, वैभव, वाहन, संगीत, रिद्धि–सिद्धि, नाट्यगायन, आहार–विहार, आमोद–प्रमोद, युद्ध–सन्धि सभी का वर्णन तात्कालिक कालानुसार या शताब्दियों वर्ष पूर्व के पुरुषों के साथ तात्कालिक लेखक की उपस्थिति के समय का वर्णन अवश्य ही प्राप्त होता है। जिससे तात्कालिक, सामाजिक, भौगोलिक, पारिवारिक, राजनीतिक गतिविधियों की जानकारी होती है। सभी का लक्ष्य बुराई की

विदाई अच्छाई की दुहाई का ही होता है। जैसे अस्वस्थ बालक को कडवी औषधि चासनी के साथ देने से वह शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है, उसी प्रकार संसारी जीवन के पुराण पुरुषों के कथा प्रसंगों के माध्यम से धार्मिक, आध्यात्मिक रत्नत्रय प्राप्ति मूलक मोक्ष मार्ग एवं मोक्ष के स्वरूप को अच्छी तरह से समझाया जा सकता है।

प्रथमानुयोग की सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें महापुरुषों के अतीत के जीवन चरित्र, क्रियाकलाप गति गतान्तर भ्रमण, भ्रमण का कारण, राजा–रंक, अमीर–गरीब, अपकारी–उपकारी–पद्धारी–पदहीन, सेठ–साहूकार, मित्र–दुश्मन, स्त्री–पुरुष, पशु–पक्षी, देव–नारकी, ग्रहस्थ–मुनि, सभी का वर्णन मर्यादानुसार करके अन्तिम पुण्य–पाप, धर्म–अधर्म, रूप परिणाम को दर्शाकर धार्मिकता का अंश देकर भव्य जीवों को संसार की वास्तविकता का दर्शन कराकर वैराग्य की ओर उन्मुख करने की विशेष प्रेरणा दी जाती है। प्रथमानुयोग में साहित्यिक विविधताओ को दर्शाने के लिए अनेक प्रकार के छन्द, अलंकार, सूत्र, वाक्य, वीररस, श्रृंगार रस, शान्तरस आदि नवरस, नीति–वाक्य परिवार–राज्य सचालन आदि का विस्तृत वर्णन किया जाता है। किसी भी पुराण अथवा चरित्र को उठाकर देखेगे तो जहॉ योद्धा का वर्णन होगा वहॉ वीर रस भरी बातें होगी; जहाँ स्त्री के विवाह का प्रसंग होगा तो श्रृंगार रस की बातें होगी; जहॉ राज्य संचालन होगा वहाँ नीति वाक्य होंगे, जहॉ धोखेबाज होंगे वहॉ क्रूर नीति के वाक्य होगे, जहॉ सन्यास की बात होगी वहॉ वैराग्य रूप बारह भावना होगी, जहॉ सुकृत्य का परिणाम होगा वहाँ स्वर्ग, मोक्ष, सौहार्द, राज्य स्थापना की बात होगी, जहॉ दुष्कृत्य का परिणाम होगा वहाँ द्वन्द्व, क्लेश, उलझनें, अशान्ति, पीडा, विघटन, आपसी दूरियाँ होगी। सभी उतराव–चढ़ाव, धूप–छाँव, जीवन–मरण, सुख–दु.ख, लाभ–हानि, संसार–मोक्ष की चर्चा करते समय केवल लक्ष्य अशुभ पाप से बचाने का व शुभपुण्य मे लगाने का होता है।

प्रथमानुयोग पुराण एवं चरित्र के रूप में सम्पूर्ण परिवार या एक व्यक्ति के चरित्र के दोनों पक्षों को उजागर करता है। प्रथमानुयोग में 169 पुरुष–महिलाओं का वर्णन होता है। जिसमें त्रेसठ शलाका पुरुषों में 24 तीर्थंकर 12 चक्रवर्ती, 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 बलभद्र का विशेष वर्णन किया गया है। इसके साथ ही 14 कुलकर, 24 तीर्थंकरों की माता, 24 तीर्थंकरो के पिता, 11 रुद्र, 24 कामदेव, 9 नारद का भी वर्णन है। अगर आज हमारे साथ तीर्थंकरों द्वारा कथित गणधरों द्वारा गुम्फित आचार्यों मुनियों द्वारा लिखित प्रथमानुयोग ग्रन्थ नहीं होते तो जैन दर्शन की प्राचीनता, अस्तित्व, मर्यादा को प्रस्तुत करने का अन्य कोई माध्यम नहीं रहता। इसी प्रथमानुयोग के माध्यम से बताया जा सकता है कि 24 तीर्थंकर 24 कामदेव तद्भव मोक्षगामी होते हैं। 9 नारायण, 9 प्रतिनारायण, 9 नारद, 11 रुद्र नियम से नरक गामी होते हैं 9 बलभद्र, 24 तीर्थंकरों के पिता स्वर्ग एवं,

मोक्ष कहीं भी अपनी साधनानुसार जा सकते हैं। 24 तीर्थंकरों की माताऐं एवं 14 कुलकर नियम से देव गति के पात्र होते हैं और कुछ भव ग्रहण कर मुक्ति के पात्र होते हैं और 12 चक्रवर्ती में अपने–अपने शुभ–अशुभ एवं शुद्ध परिणामों के अनुसार नरक–स्वर्ग एवं मोक्ष के पात्र होते है। ये सारी बातें जीवन की सम्पूर्ण घटनाओं का विवेचन प्रथमानुयोग में किया गया है। प्रथमानुयोग के पढने से मनुष्य का साहस समता साधना, भविष्य के प्रति सोच, आदर्श पुरुषो का चरित्र ज्ञान होता है और अपनी समझ के अनुसार आदर्श पुरुषों की जीवन झाकियाँ को देखकर आते हुए दुःखों को समता भाव से सहता है। सुख में फूलकर दुष्कृत्य या अनाधिकार चेष्टा करने का साहस नहीं कर सकता; क्योंकि उसे ज्ञात हो जाता है–अच्छे कृत्य का फल अच्छा मिलता है बुरे कृत्य का फल बुरा मिलता है। उसे याद आता है–आदिनाथ ने 6 घडी बैल के मुख को बन्द कराया, 6 मास तक आहार नहीं मिला, सीता ने क्षुल्लक एवं क्षुल्लिका को जरा लाँछन लगाया, स्वयं भी लाँछित हुई, श्रीपाल ने मुनिराज को समुद्र में फेंका–स्वयं भी समुद्र में गिरा, सुभोम चक्रवर्ती ने णमोकार मंत्र का अपमान किया नरक गया। भाई लड़ते हैं तो भाई भरत बाहुबलि के समान द्वन्द्व होता है, परिवार के द्वन्द्व का परिणाम कौरव–पाण्डव के रूप में विध्वंस होता है। व्यक्ति की दुश्मनी का परिणाम राम–रावण के समान होता है। यही जानकारी इंसान को पापों से भयभीत करती है और सद्कृत्य की प्रेरणा देती है।

वास्तव में संसार दुःखों का आलय है। निरन्तर दुःखो का सामना जीव को किसी न किसी रूप में करना पडता है। ऐसे दुःख के समय में साहस प्रथमानुयोग ही देता है। वह महान् पुरुषों के जीवन चरित्र को जानकर अपने भीतर वीरत्व को जाग्रत कर हताश–निराश मन को उल्लास से भरता है और महान् पुरुषों के आदर्श को सामने रखकर सोचता है कि–सकट की घडी में ये विचलित नहीं हुए, साहस रखा और सफलता प्राप्त की। मैं भी शान्त चित्त होकर रहूँगा। तूफान आया है अवश्य ही जायेगा और सुख के अतिरेक में व्यसन में नहीं फँसूँगा। सोचेगा–तीर्थंकर चक्रवर्ती ने भी इस सुख को छोड़ वैराग्य को धारण किया। इसलिए यह सुख नहीं, सुखाभास है तात्कालिक सुख आया है, मैं इसे छोडकर शाश्वत सुख पाने के लिए इनके जैसा ही वैरागी बनूँगा। इसलिए यह प्रथमानुयोग ही मनुष्य को धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष का रहस्य बताकर लक्ष्य प्राप्ति की प्रेरणा देने वाला है। प्रथमानुयोग का अध्ययन अवश्य ही करना चाहिए; क्योंकि प्रथमानुयोग ही यह शिक्षा देता है कि–जिसके जीवन में धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष के ये चार पुरुषार्थ समझदारी से प्रवेश किये हैं, वह संसार–मार्ग व सन्यास मार्ग दोनों को ही निर्दोष चलाने की चेष्टा करेगा। वह धर्म के साथ रहकर अर्थ उपार्जन करेगा। ईमानदारी का, दान का प्रवेश होगा। धर्म के साथ काम का सेवन करेगा स्वदार सन्तोष व्रत वंश के अंश को जन्म देने की भावना

से पालन होगा। और ग्रहस्थ जीवन को भी मजबूरी एवं कर्त्तव्य मानकर ही चलायेगा और अन्त तक धर्म सहित मोक्ष पुरुषार्थ करेगा तो इहलोक व परलोक दोनों ही संभाल जायेगा; क्योंकि धर्म–मोक्ष प्राप्त करने का आकांक्षी ग्रहस्थ जीवन में रहकर परम्परा से मोक्ष देने वाले साधन देव–शास्त्र–गुरु की पूजा–उपासना करेगा, चेत्य–चेत्यालय का निर्माण करेगा, सत्पात्रों को आहार, औषध, अभयज्ञान, दान देगा, व्रत नियम संयम का यथा शक्ति पालन करेगा; पाप से मन हटाकर पुण्यकर्मों में लगायेगा; धर्म पर, तत्व पर दृढ़ श्रद्धान करेगा तो निश्चित ही बाह्य पाप प्रवृत्ति रुकेंगी और उसका धर्म पुरुषार्थ ग्रहस्थानुकूल परम्परा से मुक्ति देने में कारण बनेगा। कहीं मुनि चर्या स्वीकार लिया तो स्वर्ग या मोक्ष दोनो का पात्र हो सकता है। इसलिए आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है–

"प्रथमानुयोग मर्थाख्यानं चरितं पुराणमपि पुण्यम्।
बोधि समाधि निधानं बोधति बोध समीचीनम्।।

प्रथमानुयोग में चारों पुरुषार्थों का पुराण पुरुषों का कथन है, जो पुण्य में कारण है। बोधि समाधि के खजाने हैं। यह समीचीन बोध को जाग्रत करने वाले है। सच है पूज्य पुरुषों के पद चिन्हो पर चलकर ही स्वयं का कल्याण किया जा सकता है। बोधि से ही सम्यक् ज्ञान जो सम्यक् दर्शन के साथ होता है। सम्यक् चरित्र को प्रगट करने की प्रेरणा देता है, जहाँ जीव को बोधि की प्राप्ति होती है, समाधि की चेष्टा करता है, जंगल में भी हो तो जटायु पक्षी की भाँति राम की गोद अर्थात् किसी सन्त की चरण सन्निधी में स्वयं के प्राणों के विसर्जन की कामना जाग्रत होती है, जो जीवों के कर्म निर्जरा का कारण होती है। प्रथमानुयोग सभी प्रकार के श्रोताओं के लिए अनिवार्य है, उपादेय है, कर्म निर्जरा में कारण है, जो प्रथमानुयोग को हेय विकृति के जागरण में कारण मानता है वह आगम के एक अंश का लोप करता है, वह मिथ्या दृष्टि है वह ज्ञान में वरिष्ठ होकर भी कनिष्ट है; जो प्रथमानुयोग को स्वीकार कर तदानुसार अपने जीवन को पवित्र करता है वह कनिष्ट होकर–भी वरिष्ट है, क्योंकि उसने ज्ञान के महत्व को ही नहीं आदर्श को, चरित्र को महत्व दिया है। यह प्रथमानुयोग ग्रन्थ पद्मपुराण, आदिनाथ पुराण उत्तर पुराण पाण्डव पुराण वरांग चरित्र छत्र चुढ़ामणि प्रद्युम्न चरित्र आदि कई नामों से उपलब्ध है। प्रथमानुयोग को श्रृंगार कथा, राजनीति चर्या, युद्ध वर्णन समझकर छोड़ नहीं देना चाहिए, अपितु कोयले में हीरे को तलाशना चाहिए। सोचना चाहिए इतनी विभूति इतना सौन्दर्य, इतनी प्रतिष्ठा, इतना राज्य, इतनी रानियाँ, इतने सेवक, इतने पुत्र–पुत्रियाँ, इतना सांसारिक सुख होने के बाद भी ये जीव इन सबको छोड़कर वैरागी हो गये और मैं एक मकान, एक गाड़ी, एक पत्नी को पाकर भी इसमें रचा–पचा हूँ। धिक्कार है मेरी जिन्दगी को ! महापुरुषों के जूते के बराबर भी मेरे पास सम्पदा नहीं और मेरी अकड़ सातवें

आसमान पर है। नहीं। यह अकडपतन का द्वार है मैं इसे छोडता हूँ और आज से आदर्श पुरुष की भाँति अपना जीवन जीऊँगा। इतना विचार किया तो निश्चित ही प्रथमानुयोग आधि–व्याधि–उपाधि से मुक्त करके बोधि और समाधि का मार्ग प्रशस्त करेगा और मोक्ष मार्ग का चयन करके वह जीव अपने परिणामों को और भी सँभालने के लिए करणानुयोग का सहारा लेगा।

करणानुयोग : समस्त बाह्य संसार को जानने के लिए एवं संसार भ्रमण के कारणों को जानने के लिए करणानुयोग का सहारा लेना आवश्यक है। करणानुयोग को ज्ञान, अपने मन को चिन्तन के रूप में किसी भी विषय पर एकाग्रचित कर अपने परिणामों को निर्मल रख सकते हैं। इस अनुयोग में जीव के परिणामों का विशेष वर्णन किया गया है। करणानुयोग में ही लोक–अलोक का, उत्सर्पिणी–अवसर्पिणी काल परिवर्तन का, चारों गतियो की लम्बाई–चौडाई–ऊँचाई, गुणस्थान, मार्गणा आदि का विशेष वर्णन है। इसलिए इसे 'गणितानुयोग' भी कहते हैं। वास्तव में यह लोक अकृत्रिम अनादि अनिधन स्वभाव से निष्पन्न जीवादि द्रव्यों से युक्त सर्वाकाश के अवयव रूप नित्य असंख्यात प्रदेशी है। यह लोक पॉव फैलाकर, कमर मे हाथ रखे खडे पुरुष के आकार का है। इसकी ऊँचाई 14 राजू प्रमाण है, इसकी चौडाई 07 राजू प्रमाण है। पूर्व–पश्चिम व्यास भूमि मुख में सात, एक, पाँच और एक राजू प्रमाण है। सामान्यतया यह लोक मध्य लोक से 07 राजू ऊपर व 07 राजू नीचे है। ऊपर स्वर्ग और मोक्ष है, नीचे नरक एवं निगोद है, मध्य में मनुष्य, तिर्यञ्च व व्यन्तरादिदेव हैं। इसके बाहर मात्र स्थावर जीव है। इस लोक में असंख्यात द्वीप सागर–पर्वत आदि हैं।

इस अनुयोग के अध्ययन से ही इस सृष्टि के आकार–प्रकार का ज्ञान होता है। किसने बनाया ? कैसे बनाया ? अनादि से है। युगों का परिवर्तन कैसे होता है ? कब होता है ? किस प्रकार का होता है ? क्यों होता है ? कोई करता है या स्वतः होता है ? इसमें जीव कहॉ से आते हैं ? कहॉ जाते हैं ? क्यों आते हैं ? क्यों भ्रमण करते हैं ? कैसे परिणाम सुधारते हैं ? कैसे मोक्ष को जाते हैं ? आदि कई भूत–भविष्य–वर्तमान भूगोल–खगोल आदि का वर्णन है। यह समस्त संसार को सम्यक् ज्ञान द्वारा, अप्रत्यक्ष दर्पणवत् दिखाता है। इस ज्ञान की पूर्णता होती है, तब सभी चीजें प्रत्यक्ष दर्पणवत् झलकने लगती हैं; क्योंकि कहा है–

"पूर्णज्ञान बिन मुक्ति न होती यही ज्ञान की महिमा है।"

संसार को समझने के लिए ज्ञान की आवश्यकता है, पर बुद्धि–मूलक नहीं, विवेक–मूलक ज्ञान की आवश्यकता है। बुद्धि के विकास से सम्मान बढ सकता है, पर आचरण नहीं। आचरण श्रद्धा से ही बढता है जो श्रद्धा से करणानुयोग के माध्यम से यह जान लिया

कि–यह जीव कहाँ से, किस कारण से आया है एवं कहाँ किस परिणामों से जायेगा यह जानकर वह सहम जाता है उसे आत्म बोध होता है ! मन एकाग्र करने के लिए यह अनुयोग महत्वपूर्ण है। पर इसमें पारंगत, पैनी–बुद्धि के लोग ही होते हैं। इसका अध्ययन ज्ञान वृद्धि के लिए आवश्यक है, जो स्वयं के परिणामों के बारे में गुण स्थान मार्गणा के बारे में किंचित भी जानकारी रखता है, वह गुण स्थान बढ़ाने नियमतः **चरणानुयोग** का सहारा लेता है। जिसे समन्तभद्र आचार्य ने कहा है–

गृह मेध्य नगाराणां चारित्रोत्पत्ति वृद्धि रक्षांगम्।
चरणानुयोगसमयं सम्यग्ज्ञानं विजानाति।।

चरणानुयोग में गृहस्थएवं मुनियों के चरित्र की उत्पत्ति, वृद्धि और रक्षा के कारण भूत उपाय और उसके उत्तम सुख–रूप, महान् फल भव्यों के द्वारा निरन्तर विस्तार से अच्छी तरह जाने जाते हैं, वह चरणानुयोग है। सम्यक् ज्ञान मात्र ज्ञान होता है, पर यथा शक्ति क्रिया के अनुसार ही वह ज्ञान मान्य है, सम्यक् है अन्यथा मूर्ख के सिर पर शास्त्रों का बोझ है। सम्यक् ज्ञान के पश्चात् अल्प चरित्र भी महा उपकार करता है और भव बीज को धीरे–धीरे सुखाने का कार्य प्रारम्भ कर देता है। सम्यक् ज्ञान प्राप्त करने के लिए चरित्र की जानकारी होना आवश्यक है। जिसे मार्ग का ज्ञान नहीं होगा उसका चलना ऑखों पर पट्टी बँधे बैल की भाँति निरर्थक है, मात्र भ्रमण में ही कारण है। यद्यपि संसार में सदाचारी लाखों जीव हैं, पर श्रावकाचारी सैकड़ों की संख्या में ही है। इसलिए आचार्य अमृत चन्द्र ने 'पुरुषार्थसिद्धि' ग्रन्थ में कहा है–

नहि सम्यग्व्यपदेशं चरित्राम् ज्ञान पूर्वकं लभते
ज्ञानानन्तर मुक्तं चारित्राराधनं तस्मात्।

जिसके अज्ञानपूर्वक चारित्र है वह चारित्र सम्यक् चारित्र नहीं कहलाता। इसके लिए सम्यक् ज्ञान के पश्चात् होने वाला चरित्र ही सच्चा चारित्र है अन्यथा मात्र पाप क्रिया के त्याग रूप ही चारित्र है, इससे मोक्ष मार्ग की सिद्धि नहीं होगी, मात्र स्वर्ग का द्वार खुलेगा; क्योंकि देव, शास्त्र, गुरु के प्रति श्रद्धा नहीं है, न ही उनके द्वारा व्रतों का, संकल्पों का ग्रहण है। अतः श्रद्धा के आभाव में ज्ञान व ज्ञान के अभाव में चारित्र वैसे ही काल्पनिक है जैसे भूमि के अभाव में वृक्ष व वृक्ष के अभाव में फल काल्पनिक है। ज्ञान का अर्थ शास्त्रों का भार मस्तिष्क में लादना नहीं मात्र वीतरागता के प्रति श्रद्धा तदानुकूल ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। यही चरणानुयोग का ज्ञान चारित्र की उत्पत्ति व रक्षा करता हुआ अन्तरंग परिणामों को निर्मल कर आत्मा के दर्शन कराने में कारण है। इसलिए चरणानुयोग के बाद अन्तिम भेद **द्रव्यानुयोग** कहा है; क्योंकि जहाँ ज्ञान है वही चारित्र है, जहाँ चारित्र है वही

आत्मा के दर्शन हैं। द्रव्यानुयोग का दिव्य प्रकाश आत्मा के दर्शन करता है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है–

जीव जीव सुतत्वे पुण्या पुण्ये चबन्ध मौक्षो च
द्रव्यानुयोग दीपः श्रुत विद्यालोक मातनुतेः

द्रव्यानुयोग : यह द्रव्यानुयोग रूपी दीपक जीव–अजीव रूप तत्व के पुण्य–पाप और बन्ध–मोक्ष को प्रकाशित करने वाला है तथा द्रव्य श्रुत के साथ भाव श्रुत को भी विस्तारित करता है। द्रव्यानुयोग की कसौटी पर कस कर ही पूर्णरुपेण वस्तु तथ्य को समझा जाता है। द्रव्यानुयोग मोक्ष मार्ग में कहीं पर भी न अटकाता है, न भरमाता है; जो द्रव्यानुयोग के स्वरूप को समझ लेता है वह पूर्ण ज्ञानी होता है। इसलिए कहा है–

"ज्ञान सह चारित्र होय तो बड़ती जीवन गरिमा है।"

जहाँ द्रव्यानुयोग का वास्तविक प्रकाश आया, जीवन की गरिमा बढ़ जाती है। वह दाता ही ज्ञानी कहलाने का अधिकारी होता है। वह सम्यक् ज्ञानी अपने आपको कभी सम्यक्–दृष्टि नहीं कहता, वह तो मात्र देव–शास्त्र–गुरु थे; जो है, जो होवेंगे उनकी आराधना करता है, क्योंकि ज्ञान जब चारित्र के चरणों में झुक जाता है, तो स्वतः ही सम्यक्–ज्ञान हो जाता है। आचार्य अमृत चन्द्रदेव ने कहा है– मैं स्वयं सम्यक् दृष्टि हूँ, मुझे कभी बन्ध नहीं होता ऐसा मानकर जिसका मुख गर्व से ऊँचा और पुलकित हो रहा है ऐसे रागी जीव भले ही महाव्रत आदि का आचरण करें तथा समितियों की उत्कृष्टता का आलम्बन करे तथापि वे पापी ही हैं, क्योकि वे आत्मा और अनात्मा के ज्ञान से रहित होने से सम्यक्त्व से रहित हैं। इसलिए स्वयं को सम्यक्–दृष्टि घोषित करने की मूर्खता भरी पुरुषार्थ कर रहा है। जैसे एक शेर जंगल में भ्रमण कर रहा था। सोचा मैं जंगल का सबसे शक्तिशाली प्राणी हूँ जगलवासी मुझे शक्तिशाली मानते हैं या नहीं आज पता करता हूँ वह शेर जंगल में भ्रमण करता हुआ चला। गीदड़ मिला–उससे पूछा–इस जंगल में मैं सबसे शक्तिशाली हूँ क्या तुम मानते हो ? गीदड़ ने कहा–हाँ नाथ ! आपके सिवा और कौन इस जंगल में शक्तिशाली है। इसलिए तो आपको जंगल का राजा कहते हैं। इसी प्रकार शेर, गधा, कुत्ता, खरगोश, नील गाय, लकड़बग्गा सभी से पूछा–सभी ने यही उत्तर दिया। रास्ते में एक हाथी आ रहा था, उससे भी पूछने गया। हाथी ने आव देखा न ताव और शेर को अपनी सूण्ड में उठाया ओर 20 फीट दूर फेंक दिया। वह शेर अपने धूल झाडता हुआ आया और हाथी से कहने लगा यार ! तुमसे मैंने मात्र पूछा था कि मैं शक्तिशाली हूं या नहीं ? तुम्हें नहीं बताना था न बताते, पर इस प्रकार की हरकत तो नहीं करते। हाथी ने कहा–जो शक्तिशाली होता है वह घोषणा नहीं करता अवसर आने पर उसके कृत्य शक्तिशाली होने का प्रमाण स्वतः ही दे देते हैं। उसी प्रकार जो सम्यक् दृष्टि

होता है वह अपने आपको सम्यक् दृष्टि होने की घोषणा नही करता। वह तो निश्छल देव–शास्त्र–गुरु की भक्ति–श्रद्धा करता है। षट् कर्त्तव्य का पालन करता है। वही कृत्य बता देता है कि यह सम्यक् दृष्टि है। वह अपने ज्ञान का उपयोग अपने उत्थान में करता है, स्वयं की कमी निकालने में करता है दूसरों की नहीं।

सम्यक् ज्ञानी जीव सदैव धैर्य को धारण करते है। संसार–समुद्र से तिरने की इच्छा रखते हैं, सप्त भयों को नष्ट करने वाले होते हैं, महायोद्धा के समान धर्म में सदा उत्साहित रहते हैं, विषय वासनाओं को जलाते हैं, आत्महित का चिन्तन करते हैं, सुख शान्ति की चाल चलते है, सद्गुणों की ज्योति से स्वयं को प्रकाशित करते हैं, आत्म स्वरूप में रुचि रखते हैं, विनम्रता की प्रतिमूर्त्ति होते हैं, सौहार्द से परिपूर्ण पाप भीरु होते हैं, हृदय की कुटिलता को छोडकर सरल चित्त हो प्रसन्नचित् जीते हैं, दुख सन्ताप की राह नहीं चलते और अपनी क्षमतानुसार कर्मरज से मुक्त होकर भक्ति–ध्यान में तल्लीन हो आत्मस्वरूप में विश्राम किया करते हैं। सम्यक् ज्ञानी की सबसे बड़ी विशेषता होती है कि वह स्वयं त्याग का इच्छुक रहता है, सक्षम न होने पर त्यागी के प्रति बहुमान से भर जाता है। सम्यक् ज्ञान टॉर्च की भॉति दूसरों को प्रकाशित नहीं करता अपितु, दीपक की भाँति स्वय प्रकाशित होता है। यह प्रथम अवस्था में मति श्रुत ज्ञान के रूप में प्रकाशित होता है द्वितीय अवस्था मे अवधि मन. पर्यय ज्ञान के रूप में होता है न भी हो तो को बाधा नहीं है अन्तिम केवल ज्ञान का रूप होता है स्वयं के परमात्मा को पाने अपने भीतर सम्यक् ज्ञान का दीप जलायें ताकि मोक्ष मार्ग प्रशस्त हो सके। पापों से मुक्ति हो सके। आचार्य अमित गति 'योग सार ग्रन्थ' मे कहते हैं–

न ज्ञानी लिप्यते पापैर्मानुमानिव तामसैः।
विषयै वध्यते ज्ञानी न संनद्धः शैरेरिव
अनुष्ठानास्पदं ज्ञानं ज्ञानं मोहतमोऽपहम्।
पुरुषार्थ करं ज्ञानं ज्ञानं निवृत्ति साधनम्।।

अर्थात्– सम्यक् ज्ञानी पापों से उसी प्रकार लिप्त नहीं होता जिस प्रकार सूर्य अन्धकार से लिप्त नहीं होता। ज्ञानी विषयों से उसी प्रकार नहीं बंधता जिस प्रकार कवच पहना हुआ योद्धा वाणों से नहीं बिंधता। यह सम्यक् ज्ञान क्रिया कर्म के अनुष्ठान का आधार है, मोहान्धकार का नाश करने वाला है, पुरुष के प्रयोजन को पूरा करने वाला है और मोक्ष का साधन है। अतः मिथ्या ज्ञान को छोड़ सम्यक् ज्ञान को पाये ताकि केवल ज्ञान प्रगट हो सके।

"सम्यक् चारित्र"

रुक जाता आश्रव कर्मों का जो ले लेता है चारित्र।
धुल जाता है कर्म मैल और हो जाता जीवन पवित्र।।
धन खोया कुछ ना खोया पर स्वास्थ्य खोया कुछ खोया है।
खोया गर चारित्र यहाँ तो कई जन्मों तक रोया है।।17।।

अर्थ :

जो व्यक्ति सम्यक्–चारित्र को ग्रहण कर लेता है उसके कर्मों का आश्रव रूक जाता है। कर्म मैल धुल जाता है और जीवन पवित्र हो जाता है। इस संसार में रहकर अगर धन खोया तो कुछ भी नहीं खोया, अगर स्वास्थ्य खोया तो कुछ खोया है और कहीं चारित्र खो दिया तो सब कुछ खो दिया, ऐसा समझना चाहिये क्योंकि चारित्र खोने वाला कई जन्मों तक रोता है अर्थात दु:खो को सहन करता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

जो जीवन को पवित्र करता है, उसे चारित्र कहते हैं। चारित्र आत्म–साधना का महत्वपूर्ण ही नहीं, अनिवार्य अंग है। दिव्य वचनों को सुनकर–समझकर आत्मा में उतारना सम्यक चारित्र है। मनुष्य अपने ज्ञान के माध्यम से पुण्य–पाप, शुभ–अशुभ, धर्म–अधर्म, हेय–उपादेय या संसार की नश्वरता, आत्मा की अमरता को जान लेवे, पर ज्ञान को आचरण में परिवर्तित न करे, अपने मन व इन्द्रियों को शुभ क्रियाओं में न लगावे तो कर्मों की शृंखला चलती रहेगी, जिससे मस्तिष्क में भरा ज्ञान व्यर्थ सिद्ध होगा। आत्मा को जन्म–मरण से मुक्त करने के लिए पूर्वोपार्जित कर्मों की निर्जरा करने के लिए प्रत्येक क्रिया में सावधानी बरतने का नाम ही चारित्र है। इसलिए आचार्य नेमिचन्द सिद्धान्त चक्रवर्ती ने **'द्रव्य संग्रह'** में कहा है–

"असुहादो विणिवित्ति-सुहे पवित्तिय जाण चारित्तं"

अशुभ कार्य से निवृत्ति व शुभ कार्यों में प्रवृत्ति का नाम ही चारित्र है।

अर्थात् जो पापान्धकारमय जीवन को पुण्य के प्रकाश से भर दे, जो स्व से पहचान करने की विधि बताये और चलाये जो हमारे पतित जीवन को पावन बनाकर ऊपर उठा

दे, वही चारित्र है। ज्ञान जीवन को अनुशासन बद्ध करता है और चारित्र जीवन को दुष्प्रवृत्तियों से बचाता है। जीवन में पापों का आगमन चोरों के समान चुपचाप और अतिशीघ्रता से हो जाता है। इसलिए मनुष्य जिस प्रकार अपने धन की सुरक्षा के लिए उसे तिजोरी में ताला लगाकर रखता है और मकानों की दीवारें भी ऊँची-ऊँची बनवाकर नुकीले कॉचो से परिपूर्ण कर देता है ताकि कोई चोरी न कर सके; उसी प्रकार आत्मा की सद्गुणरुपी अमूल्य सम्पदा की सुरक्षा के लिए व्रतों की दीवारें निर्मित करें। इन्द्रियों के संयमरूपी नुकीले काँच से पापरुपी चोरों को आने से रोकें ताकि कर्म रुकें और भीतर की आत्मा सुरक्षित रह सके। इसलिए कहा है-

रुक जाता आश्रव कर्मों का जो ले लेता है चारित्र।
धुल जाता है कर्म मैल और हो जाता जीवन पवित्र।।

जहॉ चारित्र आया वही पाप कर्मों का आना रुक जाता है। भौतिकता के इस युग में आध्यात्मिकता को मनुष्य भूल चुका है। मनुष्य इतना अधिक भोगों में लिप्त हो जाता है, कि जीवन के अन्तिम पडाव तक पहुँचने के बाद भी आत्म के प्रति, धर्म के प्रति, चारित्र के प्रति किंचित भी रूझान उत्पन्न नहीं होता। उसकी चरित्र-हीनता का कारण आत्मबल का अभाव व अज्ञान का विस्तार होता है; पर हम प्रथमानुयोग को उठाकर देखेंगे तो सहज ही ज्ञात होगा की महापुरूषो की महानता की आधार-शिला उनका चारित्र है। आज उनका शरीर इस धरती पर नही है, पर उनके चारित्र की सुगन्ध आज भी लोगों के लिए मार्ग-दर्शक है। चारित्रवान मनुष्य के जीवन का आकर्षण अनेकानेक जीवन की ठहरी धारा को परिवर्त्तित कर देता है।

वर्तमान युग मे ज्ञानवान होना सरल है, चारित्रवान होना अत्यन्त कठिन है। चारित्र के अभाव में ज्ञान-युक्त जीवन मुर्दे के शव की सुगन्धित फूलों से सजावट के समान उदासीन आकर्षण है। इसलिए जीवन की सार्थकता को समझने, लक्ष्य को प्राप्त करने, आध्यात्म की साधना करने-चारित्र को अवश्य ही धारें। इसलिए आचार्य समन्त भद्रदेव ने कहा कि-

मोह तिमिरापहरणे दर्शन लाभादवाप्त संज्ञानः।
रागद्वेष निवृत्यै चरणं प्रतिपद्यते साधुः।।47।।

जिसके मोह रुपी अन्धकार तिरोहित हो गया हो, सम्यक-ज्ञान की प्राप्ति हो गई हो, आत्मा से विकार निकल गये हो, सम्यक्-ज्ञान का सूर्य उदित हो गया हो-वह अपने राग-द्वेष को छोड़ने के लिए सम्यक्-चारित्र को स्वीकार करता है। जिसका मोह छूटता

है वह वीतरागी से राग करेगा, सन्तों के सानिध्य में पहुँचेगा और अपनी क्षमता के अनुसार व्रतों को स्वीकार करेगा; क्योंकि अनादिकालीन संस्कारों के कारण जीव की प्रवृति तीन रूपों में विभक्त है–पहली रागात्मक परिणति है–जिसमें पंचेन्द्रिय के विषयों के प्रति आसक्ति होती है। यह प्रवृत्ति कई दोषों की जननी है। इसका विस्तार मनुष्य को अनेक बुराईयों का घर बना देता है और इंसान विषम से विषम जहर को अमृत समझने लगता है।

दूसरा द्वेषात्मक प्रवृति है; जहाँ द्वेष है वहाँ ईर्ष्या, मात्सर्य, घृणा, संघर्ष, परायापन के विषाणु और कीटाणु, मनुष्य की सारी सद् प्रवृत्तियों के वृक्ष को खोखला करते हैं। द्वेषात्मक प्रवृत्ति संसार के दल–दल में फँसाती है।

तीसरी मोहात्मक प्रवृत्ति है, जो मिथ्यात्व के गहन अन्धकार में मनुष्य के मन को व्यामोहित कर देती है। उसे हित–अहित, इष्ट–अनिष्ट, तत्व–कुतत्व का ज्ञान नहीं होता। इन विकारो मे पहलेदर्शन मोह का नाश होता है, तब सम्यक–दर्शन का लाभ होता है फिर चारित्र–मोह का नाश होता है; तब चारित्र की इच्छा उत्पन्न होती है और यह जीव अपनी क्षमता के अनुसार चारित्र को ग्रहण करता है। तो सबसे पहले पंचाणुव्रत को स्वीकार करता है।

1. अहिंसाणुव्रत : किसी जीव को नहीं सताना ही अहिंसा है। मन–वचन–काय से न दुख देना न मारना ही अहिंसा है; क्योंकि संसार में प्रत्येक जीव में परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। किसी जीव को मारने का अर्थ है– अपने परमात्मा को मारना। अतः महापापकारी, दुखदायी, हिंसक प्रवृत्ति का त्यागना अहिंसाणुव्रत है।

2. सत्याणुव्रत : ऐसा सत्य भी न कहना की दूसरे के प्राण संकट में पड़ जाये और ऐसा झूठ भी नहीं बोलना की दूसरे को किसी उलझन में फँसकर कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करना पडे। इस भावों से अपनी वाणी पर संयम रखकर हित–मित–प्रिय वाणी का कहना सत्याणुव्रत है।

3. अचौर्याणुव्रत : किसी की गिरी हुई, पडी हुई, भूली हुई, रखी हुई वस्तु को उठाना, रखना या दूरों को न दे देना अचौर्याणुव्रत हैं।

4. ब्रहमचर्याणुव्रत: अपनी विवाहित स्त्री को छोड़कर या स्त्री मात्र का त्याग कर देना ब्रहमचर्याणुव्रत हैं।

5. परिग्रह परिमाणाणुव्रत : आवश्यक सामग्री की मर्यादा बनाकर सभी वस्तुओं का त्याग करना परिग्रह परिमाणाणुव्रत हैं। यद्यपि जैनत्व धर्म का पहला लक्षण है– अणुव्रत पालन करना। दूसरी प्रतिमाधारी का गुण है, पर धर्म के प्रति आस्था उत्पन्न करने, अपनी

आकाँक्षाओं को रोकने व सदाचरणमय जीवन बनाकर इन अणुव्रतों का पालन आवश्यक है। अगर इनका ज्ञान हो और इसके अनुकूल आचरण न हो तो यह ज्ञान गधे की पीठ पर चन्दन के भार के समान व्यर्थ है। तीर्थकर भी आठ/वर्ष के उपरान्त इसी अणुव्रत को आचरण मे अवतरित कर ग्रहस्थ जीवन में समस्त सुखों को भोगते हुए जैनत्व की मर्यादा के अनुसार जीवन व्यतीत करते हैं। अतः भविष्य को सुधारने, चारित्र धारने के लिए अणुव्रत आवश्यक है।

आज भारतीय संस्कृति त्याग के कारण ही जीवित है। जैन संस्कृति तप–त्याग एवं अहिंसामय आचरण के कारण ही जीवित है। अगर आँखों से रोशनी को निकाल दिया जाये तो आँखों का महत्व नहीं रहेगा। कानों के छिद्रों को बन्द कर दिया जाये तो कान का महत्व नहीं रहेगा, अगर हम देश से सन्तों को निकाल दें, मन्दिर से परमात्मा को निकाल दें, मुख से जिहवा को निकाल दें, प्राणों से श्वास को निकाल दें तो हमारा जीवन कष्टमय हो जायेगा; उसी प्रकार जीवन से चारित्र को निकाल दे, आचरण को निकाल दे तो जो थोडा बहुत परमात्मा की चमक व रोशनी दिखाई पड रही है वह भी समाप्त हो जायेगी। इसलिए जिस प्रकार सडक पर चलने के नियम होते है; उसी प्रकार जीवन को आचरणमय बनाने के भी नियम होते है।

सडक के नियमों का उल्लघन करने वाला दुर्घटना को प्राप्त होता है। सड़क के नियम है – लाल लाईट हो तो रूक जाना, हरी लाईट आये तो चलना–दाँये चलना–बाँये चलना, इस नियम का पालन अनिवार्य है– नहीं करने वाला दुर्घटना का शिकार होता है। हाथ–पैर टूटने की सभावना है, मृत्यु भी हो सकती है; उसी प्रकार परमात्मा तक पहुँचने के लिए मार्ग कें नियम–सयम का पालना आवश्यक है। अगर जीवन में चारित्र नहीं है तो सब कुछ शून्य है। इसी अणुव्रत की श्रृंखला में ग्रहस्थ तीन गुणव्रतों का भी पालन करता है; क्योकि अणुव्रतों की वृद्धि में व पुष्टि में जो कारण है – वह ही गुणव्रत है। वे गुणव्रत तीन है –

दिग्व्रत : अनन्त इच्छाओं को नियन्त्रित करने के लिए सम्पूर्ण दिशाओं की मर्यादा बना लेना दिग्व्रत है। इस व्रत के पालन करने से व्यर्थ की दौड़ के साथ तृष्णा का भी समापन होता है। अहिंसा की भावनाओं का विस्तार होता है।

देशव्रत : दिग्व्रत में की गई मर्यादा को और भी मर्यादित कर लेना अर्थात् सीमा में बंध जाने से पाप–प्रवृत्ति और भी कम हो जाती है; क्योंकि ग्रहस्थ जीवन में अपने नगर में ही रहने से, चलने–फिरने व्यापार, मकान, परिवार आदि के कारण कई बार व्यर्थ भ्रमण

होता है। यह प्रवृत्ति भी पाप–व्यापार की वृद्धि में कारण है इसकी मर्यादा बांध लेना देशव्रत है।

अनर्थदण्ड व्रत : मन में खोटे विचारों का उत्पन्न होना, वचन से व्यर्थ प्रलाप करना व काय से अप्रयोजनीय कुचेष्टा न करना ही अनर्थदण्डव्रत हैं। इन व्रतों का पालन करते हुए ग्रहस्थ जीवन का निर्वाह करते हुए चारित्र और आगे बढ़ाने के लिए मुनिव्रत धारण करने की शिक्षा मिलने से व्रतों का पालन करना शिक्षाव्रत है। यें चार प्रकार के हैं–

सामायिक : ग्रहस्थ को कम से कम एक घड़ी समस्त पाप–कर्मों का मन–वचन–काय–कृत–कारित–अनुमोदना से त्याग करके समता भाव धारण करना **सामायिक शिक्षा व्रत** है। आदमी 24 घण्टे इधर–उधर भटकता है, मानसिक तनाव से ग्रसित है। उसे विश्राम चाहिए तो 24 घण्टे में कम से कम 24 मिनट स्थिर होकर बैठे, स्वयं के बारे में सोचे–जो कर रहा उसका क्या अंजाम होगा ? कितना लाभदायक है, कितना हानिकारक है यह कृत्य ? इसे वह जान लेवे तो सामायिक की क्रिया व्यर्थ की आपा–धापी से मुक्त करेगी। कहा भी है –

बैठ अकेला दो घड़ी, भगवन के गुण गाया कर।
मन मन्दिर ऐ जिया झाँडु रोज लगाया कर।।

प्रोषधोपवास : भूख से कम भोजन कर अष्टमी, चतुर्दशी को एकासन उपवास कर शरीर को स्वस्थ रखें। अन्न को बचाये ताकि भूखे का पेट भर सके, अभाव में जीने की चेष्टा हो सके। इसलिए प्रोषधोपवास करें। यह स्वास्थ्य एवं धर्म प्राप्ति के लिए सहायक हैं।

भोगोपभोग परिणाम : दैनिक भोगोपभोग की सामग्री–भोजनपानी, वस्त्राभूषण, वाहन, बर्तन आदि को सीमित करना–अभिलाषा को समाप्त करना है।

अतिथि संविभाग : जैन ग्रहस्थ को चाहिए कि स्वयं धर्म के उपकार के लिए, यश की आकॉक्षा से रहित मुनि–आर्यिका श्रावक–श्राविका को प्रेम–पूर्वक भोजन कराये, रुकने को स्थान दे, यथोचित् सम्मान करे, सेवा करें–यह अतिथि संविभाग व्रत हैं। ये सब व्रत चारित्र के रूप है। यद्यपि ये क्रियाये व्रती ग्रहस्थ के करने योग्य है। एक ग्रहस्थ जैनत्व का बोध होने के उपरान्त ये क्रियाये भले ही पूर्ण–रूपेण न कर सके, पर यथा–शक्ति स्वीकार करके, अपने जीवन को आगे बढाता है तो जिन्दगी में सन्तोष का आगमन होता है। यह चारित्र जीवन के सौन्दर्य को निखारता है। चारित्र एक ऐसी अग्नि है, जो आत्मा के कषाय

का`जलाती रहती है। प्रतिक्रमण पाठ में आचार्यों ने कहा है –

व्रत समुदय मुलः संयम स्कन्ध बन्धो
यम नियम पयोर्भिवर्धित शील शाखः
समिति कलिक भारो गुप्ति गुप्त प्रवालों
गुण कुसुम सुगन्धि सत्पश्चित्र पत्रः
शिव सुख फलदायी योदयाछाय योद्धा :
शुभ जन पथिकानां खेद नोदे समर्थः
दुरितर विजतापं प्राप्ययन्नत भावं
सभव विभव हन्ये नोस्तु चारित्र वृक्षः
चारित्रं सर्व जनैश्चारित्रं प्रोक्तं च सर्व शिष्येभ्यः
प्रणमामि पंच भेदं पंचम चारित्र लाभाय।।

व्रतों के समुदाय जिनकी जड है, संयम स्कन्ध है। यम नियम के जल से जो वृद्धिगत हुआ है। अट्ठारह हजार शील जिनकी शाखायें हैं। समिति रूप कलिकाओं के भार से सुशोभित है, गुप्तियाँ पल्लव है। चौरासी लाख गुणरूपी पुष्पों की सुगन्ध से भरा हुआ है। सम्यक्त्व के विचित्र पत्र है, जो मोक्ष–रूपी फल देने वाला है। दयारूप छाया से व्याप्त है, भव्य–जन रूपी पथिकों के सताप को दूर करने में समर्थ है तथा पाप–रूपी सूर्य को नष्ट करने वाला है। ऐसा चारित्र–रूपी वृक्ष राग–द्वेष रूपी संसार को समाप्त करने प्राप्त होवें। बन्धुओं ! तीर्थकरों ने ससार–सागर से पार होने के लिए चारित्र अपनाया और अपनाने की प्रेरणा दी। यह चारित्र सोई हुई आत्मा को जाग्रत करता है। चारित्र जीवन का व्यवधान नहीं परम समाधान है। मुक्ति यात्रा का परिधान है, जहाँ परमात्मा के अमृत से आत्मा को भरने की अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है, वही इन्द्रियों की दासता से मुक्ति पाने की सशक्त तमन्ना (इच्छा) उत्पन्न होती है और जीव अपनी क्षमता के माध्यम से अपने पदानुरुप चारित्र को स्वीकार करता है।

इसलिए चारित्र बंध में कारण नही, मुक्ति में कारण है। मानव जीवन में चारित्र नहीं है तो यह जीवन दीमक लगे वृक्ष के समान है। इसलिए कहा है –

धन खोया कुछ ना खोया पर स्वास्थ्य खोया कुछ खोया है।
खोया गर चारित्र यहाँ तो कई जन्मों तक रोया है।।

इस संसार में धन खोया कुछ नहीं खोया, वह कभी भी मिल सकता है, अगर स्वास्थ्य को खो दिया तो समझों कुछ खोया, पर अपने जीवन में चारित्र खो दिया तो समझ लिजिए

सब कुछ खो दिया। अब इस जन्म में ही नहीं जन्म--जन्म तक रोना ही रोना शेष है। दुख भोगना ही शेष है। चारित्र अवश्य ही स्वीकार करना चाहिए, जिस व्यक्ति के नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य, आयु का बन्ध हो जाता है वह चारित्र को स्वीकार नहीं करता है। इसलिए सम्यक् चारित्र को, सदाचरण को स्वीकारें, क्योंकि

ऊचें गिरी से जो गिरे मरे एकहि बार।
जो चारित्र गिरी-गिरे बिगड़े जनम हजार।।

पहाड से गिरने वाला एक ही बार मरण के दुख को प्राप्त है, पर जो चारित्र के पर्वत से गिर जाता है उसके हजारों जन्म बिगड जाते हैं।

आचार्य पुष्पदत्त सागर जी महाराज कहते हैं– चारित्र एक ऐसा योद्धा है, जो मोह, शत्रु को पराजित करता है। चारित्र एक ऐसा रसायन है, जो चित् को परिमार्जित करता है। चारित्र एक ऐसा बागवान है, जो जीवन के उद्यान में परमात्मा के सुमनों को उगाता है। चारित्र की सम्पदा दुनिया की तमाम दौलतों से बढ़कर है। इसलिए भी मनुष्य को छोटे--छोटे चारित्र को स्वीकारते हुए बड़े चारित्र को पाने की तमन्ना (इच्छा) करनी चाहिए। बालू के एक–एक कण से पर्वत का निर्माण होता है, एक–एक क्षण से युग निर्मित हो जाता है, उसी प्रकार छोटे–छोटे चारित्र से मनुष्य का जीवन महान होता है।

घुटने के बल चलते चलते पाँव खडे हो जाते हैं ।
छोटे छोटे नीयम ही एक दिन बहुत बडे हो जाते हैं।।

यह चारित्र प्रथमतया सदाचार के रूप में प्रत्येक वर्ण, प्रत्येक वर्ग, प्रत्येक समाज के लिए उन्नायक है, चाहे वह डॉक्टर हो, सैनिक हो, व्यापारी हो, अधिकारी हो, नौकर हो या अन्य कोई हो – अपनी--अपनी मर्यादा के अनुसार कर्त्तव्य का पालन सदाचार व ईमानदारी पूर्वक करताहै, तो वही प्रथम सदाचार जीव को मर्यादित करके सत्य पथगामी बनाता है और संसार–सागर से मुक्त कर देता है। इसलिए चारित्र का अर्थ इतना ही समझे की हमारी सवेरे से शाम तक शाम से रात सोने तक सोने से सवेरे उठने तक, ऐसी कोई भी क्रिया न हो जो किसी के लिए कष्टकर व अनिष्ट कर हो इसे आत्मा में स्वीकारते हुए इहलोक–परलोक का सुख प्राप्त करने चारित्र धारे, स्वयं को निखारें।

"कषाय"

प्रीति विनय का नाश करे वह क्रोध मान भुजंग है।
मैत्री को जो नष्ट करें वह माया गिरगिट रंग है।।
त्याग तपस्या जीवन भर की करती लोभ समाप्त है।
इन चारों से मुक्त हुआ वह बनता पूज्य आप्त है।।18।।

अर्थ :

प्रीति का नाश करने वाला क्रोध एवं विनय का नाश करने वाला मान भुजंग (सर्प) के समान है। मैत्री को नष्ट करने वाली कषाय माया है। यह प्रतिक्षण गिरगिट के समान अपना रग बदलती है जीवन भर की त्याग तपस्या को लोभ समाप्त करता है। जो प्राणी इन चारों कषाये से मुक्त होता है वह शीघ्र ही आदणीय पूज्य भगवान बनता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

ग्रहस्थ जीवन में उलझे हुए इसान के जीवन में चारों कषायो का प्रादुर्भाव होता है, लेकिन अपने जीवन को सुखी व सौहार्द पूर्ण बनाने के लिए पत्थर के समान रेखा वाली क्रोध, सदा–सदा को दुश्मनी की दीवार खडी करने वाली मान, अन्तरंग की स्वार्थ–मूलक कुटिलता, और हाय–हाय के चक्कर में तमाम जिन्दगी को बाहर दौडाने वाली, लोभ–वृत्ति का सदैव त्याग करना चाहिए। अगर मनुष्य के पास मकान हो, दुकान हो, परिवार हो, सम्पदा हो, इज्जत हो–पर अपने आपको नियन्त्रित करने की क्षमता न हो, आक्रोषित परिणाम होते रहते हो, तो आपस में बैर–विरोध उत्पन्न होता है, जीवन दुखमय व्यतीत होता है, आपसी प्रेम का अभाव, सुख–शान्ति में रूकावट डाल देता है।

क्रोध एक ऐसी आग है, जिसे हम शत्रुओं के लिए जलाते हैं पर हम स्वयं उसमें जलकर भस्म हो जाते हैं। क्रोध करने से ग्रहस्थ ही नहीं बड़े–बड़े साधक भी अपनी साधना से च्युत हो जाते हैं। पता नहीं जिस क्रोध को करने के लिए मनुष्य को पुरुषार्थ करना पडता है, उसे क्यों स्वीकारता है ? क्रोध के समय मनुष्य बेहोश होता है अगर वह दूसरे को पराजित करने में असमर्थ हो जाता है तब स्वयं की हत्या से भी संकोच नहीं करता। लडाई–झगड़ें, खून–खराबे की घटना क्रोध जन्य विकार ही हैं। क्रोध के कारण

मनुष्य का सारा शरीर विकृत हो जाता है, उसके राक्षसी–रूप से परिवार का ढाँचा ही बदल जाता हैं। शास्त्रकारों ने क्रोधी की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है –

भ्रुभंग-भंगुर मुखो विकराल रूपो।
रक्तेक्षणो दशन पीड़ित दन्त वासाः।।
त्रासं गतेपि मनुजो जन निन्द्य द्वेषः।
क्रोधेन कम्पित तनु भुर्वि राक्षसो वा।

क्रोध के कारण भ्रकुटि टेढी हो जाने से मुँह भी टेढा हो जाता है, चेहरा अति विकराल हो जाता है, ऑखे लाल हो जाती है, दॉतों से होठ चबाता है। क्रोधी व्यक्ति की वेश–भूषा निन्दनीय होती है। वह क्रोध से अत्यन्त पीडित होता है, उसका सारा शरीर थर–थर कॉपता है। मानों इस पृथ्वी पर राक्षस आ गया हो। सच है–क्रोध चित्त में विवेक–रहित चिन्तन करता है, उन्मार्ग पर जाने से संकोच नहीं करता। क्रोध मनुष्य के विवेक को बाहर निकालकर बुद्धि के दरवाजे की सॉकल लगा देता है, क्रोधी किसी का प्रेम प्राप्त नहीं कर सकता। क्रोध में अन्धा इंसान माता–पिता, भाई–बहन, गुरु–मित्र, पत्नी–बच्चे किसी की हत्या करने मे सकोच नहीं करता। मित्रता की भी स्थिरता नही रह सकती है।

एक बार भी व्यक्ति अनियन्त्रित हो, क्रोध के वशीभूत होकर गलत कार्य कर लेता है। वह भवों–भवों तक प्रतिबोध के अभाव मे जन्म–जन्मान्तर तक चलता रहता है। अज्ञानता वश उसी क्रोध जनित दुष्कर्म को जन्म–जन्मान्तर तक दोहराता रहता है और बैर की परम्परा को बढाता हुआ स्वयं भी दुखपाता है, दूसरो को भी दुख देता रहता है। कमठ और मरुभूति के जीव के साथ ऐसा ही हुआ। कमठ का जीव क्रोधित होकर, शिला उठाकर तापस का वेश बनाकर साधना करने लगा। मरुभूमि का जीव अतीत की दुश्मनी भुलाकर क्षमा–याचना हेतु गया–पास पहुँचकर क्षमा मॉगी पर कमठ ने पत्थर गिराकर उसे प्राण–रहित कर दिया। मरुभूति मरा हाथी हुआ, कमठ का जीव सर्प हुआ। इसी प्रकार फिर दोनों दुश्मन हुए–सर्प ने हाथी की हत्या की और बैर दस भव तक चला। अन्त में पार्श्वनाथ तीर्थकर हुए और कमठ का जीवकालसंवर नाम का देवता हुआ–वहाँ भी पार्श्वनाथ को साधना–रत देखकर कमठ ने भयंकर ओले–शोले, पानी, तूफान आदि चलाकर घोर उपसर्ग किया, पर पार्श्वनाथ उपसर्ग को उपहार मानकर शान्त रहे। परिणाम स्वरूप केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई–कमठ दुर्गति का पात्र हुआ।

सच है – क्रोध मनुष्य के हाथ में स्थित शुभ–फल को नष्ट कर देता है। क्रोध साधना

के फल को भी नष्ट कर देता है। क्रोध मनुष्य के मन में सन्ताप बढाता है, मित्रता को मिटाता है, उद्विग्नता पैदा करता है, पाप पूर्ण वचनों के द्वारा कलह को उत्पन्न करता है, कीर्ति को छिन्न–भिन्न करता है, दुर्गति देता है, पुण्य को नष्ट करता है। अतः मनुष्य को सुख–शान्ति, समृद्धि पाने के लिए क्रोध छोड़ना चाहिए। कहा है –

"प्रीति विनय का नाश करे वह क्रोध मान भुजंग है।"

जो प्रीति का नाश करे वह क्रोध सर्प के समान है, विनय का नाश करे वह भी विकराल सर्प है, क्योंकि अहंकार स्वयं को बड़ा बलवान, रूपवान, विद्यावान, धनवान, उत्कृष्ट, श्रेष्ठ समझता है, पर ध्यान रखे–वृक्षों में फल आ जाते है वह झुक जाता है, जिसमे विनम्रता आती है वह भी झुक जाता है। अहकार से भरकर अपने आपको बड़ा सिद्ध करने से तुच्छता ही जग जाहिर होती है। ग्रहस्थ जीवन मे रहकर परिवार–व्यापार चलाने के लिए विनम्रता को अवश्य ही अपनाना चाहिए। अपने आप को बडा मानना स्वयं की प्रशसा करना, गर्वोक्ति से परिपूर्ण वचन कहना, अपने आचार विचार, व्यापार के व्यर्थ हवाई–किले बनाना, अपनी हर बात मनवाने की चेष्टा करना, अपनी नाक की चिन्ता के पीछे सबकी नाक काटने यानि इज्जत गिराने मे सकोच न करना, अपने मान–सम्मान कायम रखने, घर फूँककर तमाशा देखने की प्रवृत्ति का होना, प्रत्येक जगह अपनी धाक जमाने की व्यर्थकारी चेष्टा करना, अपने वैभव–सत्ता–शक्ति के बल पर दुनिया में छा जाने की चेष्टा करना, अपनी विद्याबुद्धि–कला के बल पर दुनिया को नचाने की चेष्टा करना, अपने सौन्दर्य–रूप के गर्व में दूसरों को चिडाना, साधना से स्वयं को कष्ट देकर ऊँचा सिद्ध करना, थोडा दान देकर महादानी होने की घोषणा करवाना, अपनी प्रतिष्ठा, प्रतिस्पर्द्धा व प्रदर्शन के लिए ऐडी–चोटी एक कर देना, दूसरे में अनेक गुण, योग्यता, क्षमता होने पर भी अपने गुणों की व्याख्या करना; सब अहंकार की बादल गर्जना है; जहाँ मात्र गुंजन है आत्म रंजन नहीं है–स्थिति, अधजल गगरी छलकत जाये की है। ग्रहस्थों को सदैव ऐसे विचार और अहंकार से बचना चाहिए। आचार्यों ने शास्त्रों में कहा है–

**''औचित्या चरणं विलुम्पति पयोवाहं नमस्वानिव
प्रध्वंसं विनयं नयत्यहिरिव प्राणस्पृशां जीवितम्
कीर्ति कैरविणी मतङ्ज इव प्रोमुलयत्य जसा
मानो नीच इवोपकार निकरं हन्ति त्रिवर्ग नृणाम्।।''**

जिस प्रकार वायु मेघ को नष्ट कर देती है, उसी प्रकार मान योग्य आचरण को नष्ट करता है, जिस प्रकार सर्प प्राणियों के जीवन को नष्ट करता है, उसी प्रकार मान विनय

को नष्ट करता है; जिस प्रकार मदोन्मत्त हाथी कुमुदिनी (कमल) को उखाड देता है, उसी प्रकार मान कीर्ति को उखाड देता है और जिस प्रकार नीच पुरुष उपकार के समूह को नष्ट करता है, उसी प्रकार मान मनुष्य के आचरण, विनय व कीर्ति को नष्ट कर देता है।

इस संसार मे अभिमान नही स्वाभिमान को जन्म देना चाहिए। मनुष्य कुल पाया है–भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड मे जन्म लिया है, देव–शास्त्र–गुरु का सानिध्य मिला है, कुलाचार की मर्यादा का पूर्णतया पालन करता हूँ, धर्म के प्रतिपूर्ण श्रद्धा है, व्यसन मुक्त जीवन जीता हूँ। इस प्रकार की दृष्टि स्वाभिमान है; पर दुकान–मकान, रूप, बल, धन, पद, ज्ञान, से अपनी छाती को फुलाना अभिमान है। अभिमान नीति को नष्ट करता है, स्वच्छन्दता को उपस्थित करता है, दुर्भाग्य को लाता है, श्रेष्ठता को नष्ट करता है। अभिमानी अपने को सर्वोत्कृष्ट, दूसरे को निकृष्ट समझता है और अपनी संकीर्ण मानसिकता का परिचय देता है। ग्रहस्थ जीवन में रहकर दूसरे को नीचा दिखाने की प्रवृत्ति का होना ही अपनी विश्वसनीयता को खोना है। कहीं पर भी अहंकार, धन, पद को देखे तो एक बार अपने पास विश्व का नक्शा रख लें और उसमें भारत को देखें फिर अपने राज्य को देखें फिर अपने जनपद को तलाश लें फिर अपने नगर को देखे फिर अपने मोहल्ले को देखें फिर अपने घर को देखें–आपका घर, धन, जमीन, जायदाद कुछ नहीं दीखेगा व सुई की नोक के हजारवें हिस्से के बराबर भी नहीं है; तो अपनी तुच्छता पहचाने। अहंकार से मुक्त हो बडप्पन को जन्म दें। अहंकार तत्क्षण सम्मान दिला दें पर अन्त दुख, चित्ता, पश्चाताप में बीतता है। इसलिए क्रोध और मानरूपी सर्प से सदा बचें ताकि मैत्री का आगमन हो सके अन्यथा –

'मैत्री को जो नष्ट करें वह माया गिरगिट रंग हैं'

माया मित्रता का नाश करने वाली गिरगिट के समान रंग बदलने वाली है। माया अवसरवादी होती है, माया की जिन्दगी प्याज के समान है, जिसकी पर्त दर पर्त अलग करते जाये–अन्त तक पर्त ही नजर आयेगी शेष कुछ भी नहीं बचेगा छल पर छल के अलावा मायावी के पास कुछ भी नहीं है, जो विज्ञ जनों के विश्वास को घटाती है, पुण्य को नष्ट करती है, सत्य को निरस्त करती है, निन्दनीय भावों को विस्तार देती है। उस माया को कभी स्वीकार नहीं करना चाहिए। माया मित्रता को शीघ्रता से नष्ट करती है जैसे–खटाई दूध को फाड डालती है; उसी प्रकार माया दो के जीवन में दरार डाल देती है। जहाँ मित्रो के बीच मे माया होगी, दिल में कपट का आसन होगा–वहाँ मित्रता नहीं

टिकेगी। अगर मित्र मित्र से बात छुपाता है, कपट रखता है, वक्रतापन है—तत्क्षण तो दोनों अविश्वसनीय हो जाते हे और दोस्ती टूट जाती है। वास्तव में माया सम्यक् पथ पर बढ़ने नहीं देती।

माया जीवन को नष्ट करने वाली पिशाचिनी है। समस्त सद्गुणों को एक क्षण में ग्रस लेती है और दुगर्ति के गड्ढे में पटक देती है। मायावी में दासत्व, चाटुकारिता के मक्खन बाजी के गुण विशेष रूप से होते हैं। अपना काम सिद्ध करने, ऊपर से भौले, भीतर से शोले बने रहते है। माया मन के गूढ—किले में छिपकर बैठी रहती है, जब वही माया वचन से या कायिक—चेष्टा से बाहर आती है—सहज से पकड़ में आ जाती है। धर्मात्मा बनने के इच्छुक जीव को माया की छाया से सदैव दूर रहना चाहिए। आज दुनिया के अधिकांश राजनैतिक, धार्मिक, सामाजिक, व्यापारिक, पारिवारिक कत्यों के साथ माया ज्यादा परिलक्षित होती हैं। प्रत्येक कार्य में निजी स्वार्थ सिद्ध करने की तमन्नायें हैं। दूसरे को धोखा देने के अनेक रास्ते है। माया मन में अनेक योजना बनाकर छल—कपट द्वारा अपना विश्वास दूसरे के दिल—दिमाग में जगाकर अपना कार्य सिद्ध करने की चेष्टा करती है, पर माया गर्भ की भॉति आज नहीं तो कल अवश्य ही प्रगट होती है। जब माया प्रगट होती है तब जो फजीहत होती है, इज्जत जाती है, विश्वास खोता है आदमी उससे उभर नहीं पाता है, मात्र अपमान, गर्दन नीची स्वयं को छिपाने या मिटाने के अलावा कोई उपाय शेष नहीं रहता है।

आज अन्धविश्वास, मन्त्र—तन्त्र का बोल बाला, पद प्रतिष्ठा पाने की ललक लोगों में बढी है, उस लालसा को तृप्त करने कुछ मायावी तरह—तरह की योजनायें बनाते हैं और लोगों का शोषण करते हैं उनका ऊपर से बगुला सा स्वच्छ रूप दिखता है पर भीतर कौआ से भी काला मन होता है। ठीक ही कहा है —

"कुटिल गतिः कुटिल मतिः कुटिलाशयः कुटिलशील सम्पन्नः।
सर्वे पश्यति कुटिलं कुटिलः कुटिलेंन भावेन।"

कुटिल व्यक्ति सभी चीजें कुटिल भाव से, कुटिल रूप में देखता है, उसकी गति भी कुटिल होती है, मति भी कुटिल होती हैं, मनोभाव कुटिल और उसका आचरण भी कुटिलता से युक्त होता है। कुटिल व्यक्ति सदैव विचारता है कि—मेरा असली रूप, व्यक्तित्व प्रगट न हो जाये, क्योंकि उसे अहसास है कि प्रगट होने पर मुझे ही लज्जित, अपमानित होना पड़ेगा; उसकी अन्तरात्मा में लज्जा—भय—अस्पष्टता छिपाने की प्रवृत्ति बनी रहती है। इसलिए मायावी सोते—जागते, उठते—बैठते, बोलते—चलते सभी क्रिया में

सदैव सावधान रहता है। कुप्रवृत्ति को छुपाना सावधानी नहीं–सरलता को प्राप्त कर सावधानी बरतना ही जीवन को सुखी बनाना है। यह माया अविद्या की जननी है, अकीर्ति का निवास गृह है, पाप रूप पाताल में गिराने वाली है। अतः जैनत्व का बोध प्राप्त करने के लिए भीतर से माया को त्यागना आवश्यक है अन्यथा माया वस्तु को पाने की आकॉक्षा से आगे बढी तो सारी धार्मिक साधना, दया–दान, पूजा–भक्ति सब समाप्त हो जायेगी। कहा है –

"त्याग तपस्या जीवनभर की करती लोभ समाप्त है।"

आकाश के सम्मान अनन्त इच्छाओं को समाप्त करना ही आप्त को पाना है। आज के युग में परिग्रह के प्रति लिप्सा ज्यादा है, आदमी धर्म को छोड़कर धन पाना चाहताहै कभी–कभी उसे अपने आप पर ही अविश्वास होने लगता है कि पता नहीं भविष्य में कहीं भूखों तो मरना नहीं पडेगा ? मेरा क्या होगा ? मेरे परिवार का क्या होगा ? इसलिए अभी से थोडा धन इकट्ठा कर लो। इसी भविष्य की चिन्ता में धन को सचित करता जाता है। पर विचार नहीं कर पाता कि चींटी गर्मी के माह में बहुत सा अन्न संचय करती है। बरसात आती है और बिल मे पानी भर जाता है। चीटियों को बाहर आना पड़ता है और कोई सॉप उस बिल में प्रवेश कर सारा अन्न खा जाता है। मनुष्य कितना भी धन इक्ट्ठा कर ले– अन्त में रिक्त ही उसे जाना पडता है पर ग्रहस्थ जीवन में धन का होना आवश्यक है, धन के बिना उसका जीवन अधूरा है।

परिवार–मकान–दुकान आवश्यक सुखके साधनों का एकत्रिकरण, धर्म प्रभावना सन्त सेवा, जिनवाणी प्रचार के साथ–साथ परोपकार, परिवार, बच्चों की शिक्षा–सुविधा सभी के लिए पर्याप्त धन आवश्यक है; पर धन के पीछे हाय–हाय करना निरी मूर्खता है। पर मृग–तृष्णा दौडती है। एक बार उसे लाभ मिल जाये तो और की आकाँक्षा लोभ को जन्म देता है। जितना मिलता है–उतना ही और पाना चाहता है। खारा पानी जितना पीया जाये उतनी प्यास बढती है। सम्पत्ति जितनी मिल जाये उतनी ही आकाँक्षा बढ़ती है।

इस लोभ से संसार में कोई नहीं बचा। ज्ञानी, तपस्वी, पण्डित, कवि, वैरागी सभी इसे चाहते हैं। सभी जानते है–धर्मरूपी वन को जलाने लोभ अग्नि के समान हैं फिर भी उसे चाहते है। पर ध्यान रखें–तृष्णा बुद्धि को विचलित करता है। उसे देश–देशान्तर में भटकाती है, पत्नी–बच्चो को छुडाती है, नीचों की सेवा कराने से नहीं चूकती है, धन पाने

में कठिनता है, सुरक्षा में और कठिनता है, भोगने में बेचैनी है। लोभी का मन रेगिस्तान है–कितना भी पानी गिरे सब रेत पी जाता है। लोभी को भी कितना भी मिले सब कम ही दिखाई पड़ता है। यह लोभ दोषों की जननी है–लोभ के कारण ही लोग जहर (विष) बेचते है, फर्जी पत्रों में फर्म खोलते हैं करो की चोरी करते हैं, मांस–मछलियों को बेचते हैं, मिलावट करते हैं, खेती में पैदावार बढ़ाने के लिए हिंसक खाद डालते हैं, कत्लखाने खोलते हैं, शराब के ठेके लेते हैं, जंगल जलाने के ठेके लेते हैं, गुटखा, बीड़ी–सिगरेट, शराब बेचते हैं। पंच सितारा होटल खोलकर केवल अय्याशी के साधन उपलब्ध कराते हैं। पता नहीं लोभ के वशीभूत होकर कौन सा पाप नहीं करते–सभी पाप करते हैं। पर पाप का क्या फल होगा ? ऐसा कभी विचार नहीं करते। धन पाने की धुन में जिन्दगी गँवा देते हैं। ठीक ही कहा है –

"लोभा विष्टो नरो वित्तं वीक्षते न स चापदम।
दुग्धं पश्यति मार्जारो न तथा लगुडाह्नतिम्।।"

लोभी मनुष्य धन को देखता है किन्तु उससे उत्पन्न होने वाली आफत को नहीं देखता। जैसे बिल्ली दूध को देखती है किन्तु लाठी के प्रहार को नहीं देखती। इसलिए लोभ से बचे।

सूर्य कभी ठण्डा हो सकता है ? चन्द्रमा कभी उष्ण हो सकता है ? समुद्र नदियों के जल से तृप्त हो सकता है ? अग्नि दाह रहित हो सकती है ? पर लोभी कभी शान्त–चित्त नहीं हो सकता। लोभ समस्त गुणों को भक्षण करने वाला होता है। इसलिए लोभ से मुक्त होना चाहिए। ताकि **इन चारों से मुक्त हुआ वह बनता पूज्य आप्त है** जो क्रोध–मान–माया–लोभ इन चारों कषायों से मुक्त होता है; वही आप्त के गुणों से विभूषित होकर समवशरण में कमल से चार अंगुल ऊपर विराजमान होता है। जैनत्व का बोध प्राप्त करने के उपरान्त व्यक्ति को सिर से क्रोध, गर्दन से मान, हृदय से माया, पेट से लोभ को निकाल देना चाहिए; क्योंकि क्रोधी का सिर सदा गर्म रहता है, मानी की गर्दन कभी नहीं झुकती, मायावी का दिल साफ नहीं रहता और लोभी का पेट कभी भरता नहीं। इसलिए क्षमा से क्रोध को, सरलता से मान को, निष्कपटता से माया को, संतोष से लोभ को जीतकर मुक्ति–पथ पर अपने कदम अग्रसर करें ताकि आत्मा परमात्मा बन सके।

"अहिंसा"

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जग में जितने प्राणी हैं,
सबको निज सम मान अरे नर यही अहिंसा वाणी हैं।
तन-धन से सेवा करना और प्रिय वचन का बरसाना,
मन में राग-द्वेष न करके धर्म अहिंसा को पाना ।।19।।

अर्थ :

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक संसार में जितने भी प्राणी है, उन सभी प्राणियों को अपने समान प्राणधारी मानकर नवकोटि से घात नहीं करना अहिंसा है, जो जीव तन–मन–धन से प्राणियों की सेवा करता है, प्रिय वचन कहता है, मन में राग–द्वेष नहीं करता है, वही अहिंसा धर्म को प्राप्त करता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

अहिंसा शब्द नहीं संस्कृति है, जो जीवन की सम्पूर्ण विकृति को हटाकर प्रकृति के साथ चलने की प्रेरणा देती है। अहिंसा जैन संस्कृति का प्राण है। अहिंसा के अभाव में जैनत्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। जैनाचार पूर्ण रूपेण अहिंसामूलक हैं। जैन संस्कृति का सम्पूर्ण आचार, विचार, व्यवहार अहिंसा की धुरी पर गतिमान है। अहिंसा की शिक्षा मॉं के दूध के साथ ही मिलती है और कहती है कि – हे प्राणी ! तेरा जीवन दूध पर पलने योग्य है, खून पर नहीं। इसलिए एक शेरनी भी अपने जन्म–जात बच्चे का पालन करती है तो सर्वप्रथम दुग्ध–पान कराती है, रक्त–पान नहीं। वह दुग्ध पान की पहली घुट्टी ही अहिंसा है। अहिसा अन्तश्चेतना का भाव है। संसार में जितने भी जीव हैं, वे एक–दूसरे का उपकार करके ही जी सकते हैं, अपकार करके नहीं। इसलिए तत्वार्थ सूत्र में कहा गया है– "**परस्परोपग्रहो जीवानाम**" परस्पर एक जीव दूसरे जीव का उपकार करते है। शान्ति का उपाय परस्पर की सुरक्षा हैं अपने समान ही पर को मानने वाला ही परस्पर एक–दूसरे की रक्षा कर सकता है। करुणा, दया, मैत्री से भर सकता हैं। अहिंसा से ओतप्रोत जीवन में अमृत की सरिता बहती है। अहिंसा की देवी जिसके दिल में विराजमान हो जाती है। उसके मन, मुख व तन से प्रेम की बरसात होती है। वह प्रेम फिर मातृत्व की भॉंति अपनों पर ही नहीं सभी पर बरसने लगता है। इस लिए आचार्य

शुभ चन्द्र देव ने 'ज्ञानार्णव' में अहिंसा को माता कहा–

'अहिंसैव जगन्माता अहिंसेवानन्द पद्धति'

अहिंसा जगत की माता हैं और सम्पूर्ण आनन्द की पद्धति है। जब मनुष्य अहिंसा के कार्य करता है, जनमानस का मन सहज ही उसके प्रति श्रद्धा से भर जाता है; उसकी सेवा, दया, परोपकारिता, सहयोगिता जीवों को प्रभावित करती हैं। उसका यशोगान सहज ही होने लगता है। अहिंसा की स्वीकृति से ही आयु–बल–बुद्धि–यश मिलता हैं। समस्त मनोरथ भी सिद्ध होते है, पूर्ण अहिंसा का आगमन हो जाये तो केवलज्ञान की प्राप्ति भी हो जाती हैं। इसलिए अहिंसा आनन्द की पद्धति भी है। उस आनन्द को पाने अणुव्रत–रूप अहिंसा का जीवन में अवतरित होना आवश्यक है वैसे इस सृष्टि पर जीने का अधिकार मात्र अहिंसक को ही है, हिंसक को नहीं। हिंसा को स्वीकारने वाला घण्टा भर भी नहीं जी सकता है; क्योंकि सृष्टि पर जीने का साधन ही अहिंसात्मक है। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु, वनस्पति के सहारे ही यह जीव जीता है। इसके अभाव में जिया भी नहीं जा सकता है। 'इस धरती का प्रत्येक जीव एकेन्द्रिय के सहारे जीता है, जहाँ वह दो इन्द्रिय से पंचेन्द्रिय प्राणी में से किसी भी जीव का घात द्वारा सहारा लेकर जीने की चेष्टा करता है। वही से वह प्राणी हिंसक हो जाता है।

इसलिए इस संसार में अहिंसक बन कर सम्पूर्ण जीवन जिया जा सकता है, पर हिसक बनकर आराम से नहीं जिया जा सकता। इसलिए कहा है–हिंसा स्वयं में प्रवृत्ति नहीं हैं, परिणाम हैं। प्रवृत्ति अहिंसा है, क्योंकि वह स्वभाव है, स्वभाव शाश्वत होता है, विभाव तात्कालिक विकृति का परिणाम हैं। अहिंसा किसी कारण कीअपेक्षा नहीं रखती, इसलिए अहिंसक 24 घण्टे तक रहा जा सकता है–हिंसक नहीं। समता की उत्कृष्ट अनुभूति का नाम ही अहिंसा है। जैनशास्त्रों के अनुसार किसी का दिल दुखाना भी हिंसा है, अहिंसा बहुत व्यापक है। विचार–आचार–उच्चार के द्वारा किसी के भी अकल्याण की कल्पना न करना ही अहिंसा है। अहिंसा जिसके हृदय में प्रगट हो जाती है तो वह विरोधियो के बीच भी निन्दा, उपेक्षा, तिरस्कार, उपसर्ग सहन करता हुआ भी निरन्तर मन में समता व सदबुद्धि की कामना के साथ राग–द्वेष तज कर अमरत्व की साधना में तल्लीन रहता है। संसार–रूपी मरूस्थल में अहिंसा को अमृत का झरना मान उसी का पान करता है। ऐसा व्यवहार आचार–उच्चार नहीं बनाता कि किसी की आत्मा दु:खित हों; क्योंकि वह जानता है:

अप्रादुर्भाव खलु रागादीनां भवत्य हिंसेति।
तेषामेवोत्पत्तिहि सेति जिनागम संक्षेपः।।

राग–द्वेष आदि अशुद्धभावों का आत्मा में प्रगट न होना भाव अहिंसा है तथा उन राग–द्वेष आदि भाव का प्रगटना हिंसा है। पंचेन्द्रिय जीव के पास दस प्राण होते हैं। किसी भी रूप में राग होता है, स्व का घात होता है, द्वेष होता है, पर का घात होता है राग–द्वेष की परिणति किसी भी रूप में अपने स्वभाव का या परके प्राणों का घात करती है। वह घात ही हिंसा है। कई लोगों की धारणा होती है कि कोई दुःखित–पीडित प्राणी है, कष्टमय जीवन जी रहा है; क्यों न उसे दुःखों से मुक्ति दिलाने– प्राणों का हरण कर लिया जाये। इस करूणा पूर्ण भावों से एक झटके में दुःखित–पीड़ित प्राणी को दुःख–पीड़ा से मुक्ति की भावना के साथ उसकी हत्या कर देते है। यह दुःख से मुक्ति दिलाने का भाव राग भाव है। यह नियमतः हिंसा है। स्वयं पर विचार करे–हम कितने भी पीडित हो पर मर कर पीड़ा–मुक्ति नहीं चाहते। स्वस्थ्य होना चाहते है। वही भाव उस प्राणी के भी होते हैं। बिल्ली चूहों को, नेवला सर्प को, शेर अन्य पशुओं को राग भावों से खाता है; क्योंकि उदर–पूर्ति का साधन है। इसलिए राग भाव स्थूल या सूक्ष्म रूप से ही हिंसा का कारण हैं। यह राग द्रव्य व भाव दोनों से हिंसा करता है। उच्च साधकों के मन में राग–भाव का जागरण स्वयं की हिंसा अर्थात् साधना की हानि में कारण होने से हिंसा है। व्यवहार में हिंसा की परिभाषा करते हुए आचार्य उमा स्वामी ने 'तत्वार्थ सूत्र' में कहा है–

'प्रमत्त योगात प्राण व्यपरोपणं हिंसा'

प्रमत्त योग से किया गया प्राणीवध ही हिंसा है। प्रमाद के साथ दसप्राणों में से किसी एक प्राण का वियोग भी कर दिया तो वह हिंसा है। अर्थात् विवेक के साथ किया गया यातना पूर्ण कृत्य अहिंसा हो सकती है और अविवेक के साथ किया गया अयातनापूर्ण कृत्य भी हिंसा हो सकती है–मूल है भीतर की भावना। वर्तमान युग पर दृष्टिपात किया जाये तो ऋषि व कृषि प्रधान धर्म देश में अनेक प्रकार से प्राणियों की हिंसा में वृद्धि हुई हैं। किसी के पास विचार करने का समय ही नहीं है कि– क्यों मैं निःसंकोच दूसरे के प्राणों का हरण कर रहा हूँ ? मैं क्यों स्वार्थ की पूर्ति के लिए, मनोरंजन के लिए, अहंकार की पुष्टि के लिए सत्ता पर अधिकार जमाने के लिए, अपनी प्रतिष्ठा बरकरार रखने के लिए, अपना सौन्दर्य निखारने के लिए, अपने जीवन को बचाने के लिए मैं क्यो व्यक्त–अव्यक्त 'दूसरों की जिन्दगी के साथ खिलवाड़ कर रहा हूँ। यह मनुष्य स्थिरता से विचार ही नहीं करता है। वह वर्तमान में अपने आप को सबल व समर्थ समझ कर बुद्धि की श्रेष्ठता को साबित करने अहंकार के शिखर पर चढ़ कर निर्बल, निर्दोष, निरापराध पशु–पक्षी यहाँ तक की मनुष्यादि के प्राणों को सताने, मिटाने यातना देने अंग भंग करने में जरा भी संकोच नहीं करता। उस समय उसे यह विचार भी नहीं आता कि

जिस प्रकार मुझे किसी प्रकार का कष्ट पसन्द नहीं तो मैं दूसरों को क्यों कष्ट दूँ।

'आत्मनः प्रतिकुलानि परेषां न समाचरेत्' जो अपनी आत्मा के प्रतिकूल हो वह व्यवहार दूसरे के साथ नहीं करना चाहिए। विचारना चाहिए कि मैं जरा सी पीड़ा से कराह उठता हूँ तो वह भी कराहेगा। मैं सुख चाहता हूँ वह भी चाहेगा। अगर मैं उसे कष्ट दूँगा तो एक दिन यह कष्ट भी मेरे ऊपर आयेगा। इस बात को अज्ञान वशात् भूलकर इंसान पर, प्राणियों पर किसी भी प्रकार की संवेदना, हमदर्दी, आत्मीयता नहीं रखता है। उसे त्रास देता है, उत्पीडन देता है, उसके भीतर बेरहमी, क्रूरता, तुच्छ–स्वार्थ, शोषण के राक्षसी दुर्गुण बैठे है, जो भीतर से दुर्भावना को, कठोरता को जन्म देते हैं। वे अपने अविवेक के कारण ही अपने ही धर्म को, दया को, करुणा को, मैत्री को, सौहार्द को नष्ट कर रहे हैं। वे दूसरों के प्रति नहीं अपितु प्रकारान्तर से अपने ऊपर ही क्रूर हो रहे हैं। इसलिए मन–वचन–काय की चंचलता पूर्वक एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणियों की रक्षा करना 'अहिंसा है। कहा है–

एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जग में जितने प्राणी है।
सब को निज सममान अरे नर यही अहिंसा वाणी है।

एकेन्द्रिय से पचेन्द्रिय जीवों तक सम्पूर्ण जीवों को अपने समान ही प्राणवान् समझकर उनकी रक्षा करना ही अहिंसा है। सम्पूर्ण अहिंसा का पालन सम्पूर्ण जीवों की सम्पूर्ण सुरक्षा है। यद्यपि सम्पूर्ण लोक जीवों से ठसाठस भरा है, पर हमारी विवेकपूर्ण क्रिया ही हिंसा से हमें बचाती है। संसार में जीवित रहने के लिए एकेन्द्रिय जीव पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति की हिंसा अनिवार्य हैं। रहने के लिए पृथ्वी को खोदना, मिट्टी प्रयोग करना, जीने के लिए पानी पीना, वनस्पति का भक्षण करना, भोजन पकाने, प्रकाश पाने अग्नि का प्रयोग करना, श्वास लेने वायु का सेवन करना अनिवार्य हैं। यद्यपि इनके पास भी दस प्राणों मेंसे स्पर्शइन्द्रिय, कायबल श्वासोश्वास और आयु ये चार प्राण हैं। तथापि इनके भीतर सप्तधातु–रक्त, मांस मज्जा आदि न होने के कारण इनकी हिंसा प्रयोजनीय रूप से क्षम्य हैं। विवेक का हनन कर व्यर्थ स्वार्थ के वशीभूत भूमि का खोदना वनस्पति का काटना, जल का व्यर्थ बहाना, अग्नि जलाना भी हिंसा के रूप में परिणत हो जायेगा। इसलिए ग्रहस्थ जीवन में एकेन्द्रिय की हिंसा स्वीकृत हैं। जब वही अहिंसापथ पर आगे बढ़ता जायेगा, साधना को स्वीकार कर सन्यासी होकर उच्च्य साधना करेगा तो जल, वायु, वनस्पति का भी सेवन न करता हुआ पूर्ण अहिंसक जीव बन जाता है। लेकिन ग्रहस्थ जीवन में एकेन्द्रिय जीव की अनावश्यक हिंसा से बचते हुए छः प्राणधारी दो इन्द्रिय (वचन एवं रसना की वृद्धि) जीव शंख, कौड़ी, केंचुवा आदि सात प्राणधारी तीन इन्द्रिय (घ्राण

इन्द्रिय की वृद्धि) जीव खटमल, जूँ, चींटी आदि। आठ प्राणधारी चार इन्द्रिय (चक्षु इन्द्रिय की वृद्धि) जीव मक्खी, पतंगा, भौंरा, ततईयाँ, बर्र आदि। नौ प्राणधारी असैनी पंचेन्द्रिय (कर्ण इन्द्रिय वृद्धि) जीव सरीसृप आदि एवं दस प्राण धारी सैनी पंचेन्द्रिय (मन वृद्धि, मन सहित) जीव गाय, बैल, भैंस, पक्षी, मछली, शेर, मनुष्य आदि। पंचेन्द्रिय जीव की किसी भी प्रकार से हिंसा न करना, न कराना, न करने वाले की अनुमोदना करना अहिंसा है। संसार में सभी प्राणधारी है। शक्ति की हीनता के कारण एकेन्द्रिय से दो इन्द्रिय की हिंसा ज्यादा पापकारी है, उससे भी चार इन्द्रिय से पाँच इन्द्रिय जीव की हिंसा भी बढ़ते क्रम से ज्यादा पापकारी है, पर कषायों की तीव्रता उस समय के संक्लेश परिणाम प्राणी की हत्या में, दो–तीन इन्द्रिय जीवों की हत्या में भी तीव्र पाप में कारण बन जाते है। कभी–कभी अचेतन के साथ संक्लेश परिणाम हो जायें तो भी हिंसा का भावात्मक तीव्र पाप का आश्रव होता है। अर्थात् क्रूरतापूर्ण भावों से और मिट्टी आदि में भी किसी जीव की आकृति बना क्रूरभावों के साथ वध किया जाये तो उतना ही मानसिक पाप लगता है जितना जीवन्त की हत्या का लगता है।

इसलिए कई जगह हिंसा या अहिंसा मूल रूप से अन्तर चेतना के भावों को पकड़ता है। हिंसा द्रव्य और भावों के रूप में भी विभक्त होकर विचारों और कृत्यों के अन्तर से पूर्णतया विपरीत हो जाती हैं। अहिंसा की साधना महान् है, विराट है। आचार्यपुष्पदन्त सागर जी महाराज ने कहा है– अहिंसा धार्मिक चित्त की शुरुआत हैं। अहिंसा को वे ही उपलब्ध होते हैं जिन्होंने अहंकार को जीत लिया है; जो करुणा–वात्सल्य प्रेम की निर्झरणी बन गये है, जिनके चित्त में समष्टि समा गयी हैं, जिन्हे पर की पीड़ा में पीड़ा होती हैं वही अहिंसा को स्वीकारता है।

किसी को पीडा देना या मार डालने का विचार भाव हिंसा है और किसी को सुख पहुँचाने का भाव, बचाने का भाव भाव अहिंसा है और बाहर से किसी प्राणी का उत्पीड़न हो जाना, मर जाना द्रव्य हिंसा है और किसी का बच जाना, सुखी होना द्रव्य अहिंसा है। द्रव्य और भाव दोनों में भावों की ही प्रधानता हैं। हिंसा और अहिंसा का सारा खेल प्रायः मन पर निर्भर करता है। यद्यपि मन के अभाव मे वचन और काया की हिंसा भी है, पर उस हिंसा में स्थिति और अनुभाग बन्ध बहुत कम पडता है। एकेन्द्रिय से असैनी पंचेन्द्रिय तक के जीव वचन व काया से तीव्र हिंसा करते है, पर प्रथम नरक में ज्यादा नहीं जा पाते। पर एक पंचेन्द्रिय मन सहित जीव किंचित भी हिंसा न करें, पर कदाचित् मुनि की हत्या कर दे, मन से हिंसा के विचारों से भरा रहे तो वही हिंसा के बल पर सप्तमनरक

का भागी बन जाता है। इसलिए शास्त्रकार कहते है–

'हिंसा होना व हिंसा करने में जमीन–आसमान का अन्तर हैं। इसलिए जरा सी हिंसा के तीव्र परिणाम व मन्द परिणाम में एक कृत्य करते हुए भी फल में अन्तर हो जाता है।

'पुरुषार्थ सिद्धि' उपाय में आचार्य अमृत चन्द्र देव ने कहा है–

एकस्य सैव तीव्रं दिशति फलं सैव मन्द-मन्दस्य।
व्रजति सहकारिणोऽपि हिंसा वैचित्रयमत्र फल काले।।53।।

दो इंसान एक साथ एक ही प्रकार की हिंसा कर रहे है, उसमें से एक के परिणाम अत्यन्त क्रूर है, उसे फल तीव्र मिलता है, दूसरे के परिणाम मन्द है तो उसे उसका फल कम मिलता है। जैसे एक जल्लाद के पास फॉसी पर चढाने अपराधी पहुँचाया गया उसने कर्त्तव्य राजाज्ञा मानकर बिना मन में दुर्भाव लाये फाँसी दे दी–उसे कम पाप लगा। एक को फाँसी का आदेश दिया–वह खुशी मानता है इसकी सम्पदा मिलेगी और मन में उसके प्रति उपेक्षा लाता है, दुर्भाव लाता है, क्रूरता के साथ निर्दयता पूर्वक उसकी पीड़ा में आनन्द लेता हुआ उसे फाँसी देता है तो तीव्र पापोपार्जन करता है। कृत्य एक है–परिणामों की भिन्नता है और भी–हिंसा की विविधता 'पुरुषार्थ सिद्धि' उपाय ग्रन्थ में कहा है–

एकः करोति हिंसा भवति फलभागिनो बहवः।
बहवो विदधाति हिंसा-हिंसा फल भुग भवत्येकः।।55।।

एक व्यक्ति हिंसा करता है किन्तु उस हिंसा के फल भागी बहुत से होते हैं। जैसे मदारी सर्प नेवला को लड़ा कर या हाथ में छुरा लेकर साँप काटता हुआ दिखाता है–सैकडों लोग ताली बजा कर अनुमोदन करते हैं। हिंसा एक ने की फल सब अवश्य ही पाते हैं। सामूहिक एक्सीडेंट में मरना, भूकम्प, बाढ, अग्निकाण्ड में मरना–इसी कृत्य के दुष्परिणाम होते हैं। कभी–कभी बहुत से लोग मिलकर सामूहिक रूप से हिंसा करते है लेकिन उस हिंसा का फलभागी एक ही व्यक्ति होता है। राजा सेवक को आज्ञा देता है, डाकू का सरदार आज्ञा देता है–सबकी हत्या कर दो, नहीं तो तुम्हारी हत्या कर दूँगा ? वह मजबूरन दूसरे की हत्या करता है (यद्यपि उसे भी पापाश्रव होता है, पर भाव न होने के कारण से अपूर्ण है।) पर राजा या डकैत को पूर्ण हिंसा का पापाश्रव होता है। कभी–कभी हिंसा का कृत्य तत्क्षण न भी हो तो भी हिंसा की परम्परा का उपदेश ही हिंसा के पाप से व्यक्ति को मण्डित कर देता है और व्यक्ति केवल वचनगत उपदेश रूप हिंसा से दुर्गति का पात्र होता है। जैसे राजा बसु। यें हिंसा–अहिंसा के विभिन्न विकल्प है।

इसलिए हिंसा व अहिंसा को चार भागों में विभक्त कर लेना चाहिए–

1. द्रव्य से हिंसा करना भावों से नहीं 2. द्रव्य से भी हिंसा भावों से भी हिंसा
3. भावों से हिंसा करना द्रव्य से नहीं 4. न द्रव्य से हिंसा न भावों से हिंसा

1. *द्रव्य से हिंसा करना भावों से नहीं :* एक योग्य सेवा भावी करुणा शील डॉक्टर है। उसके पास कोई असहाय मरीज आया धनहीन था। उसका डॉक्टर ने विधिवत् सावधानी पूर्वक आपरेशन प्रारम्भ किया अचानक धोके से एक नस कट जाती है – रक्त का प्रवाह बन्द नहीं होता और मरीज की मृत्यु हो जाती है; उस समय डॉक्टर मरीज को मारते हुए भी हत्यारा हिंसक नहीं है। अपितु द्रव्य से हिंसा हुई पर भावों में हिंसा की भावना नहीं–सेवा–भाव की भावना थी। इसलिए वर्तमान कानून भी प्रायः गैर इरादतन हत्या को क्षम्य करता है। अचानक बन्दूक को साफ करते समय या अन्यान्य कारणों से गोली किसी को लग जाये, वाहन चलाते समय बचाव के चलते भी किसी की हिंसा हो जाये तो गैर इरादतन हत्या क्षम्य होती है। इसलिए यह द्रव्य हिंसा तो है, पर भाव हिंसा नहीं। अज्ञात अवस्था में कई कार्य ऐसे होते रहते हैं, जिसमें द्रव्य से हिंसा होती रहती है। भावों से उसे मारने का भी भाव नहीं होता।

2. *द्रव्य से भी हिंसा भावों से भी हिंसा :* लुटेरे ने किसी मालदार को देखा–भाव आया–मार डालों इसे ? ताकि पूरा धन मिल जाये और यह थाने में शिकायत भी न कर पायें और धन लेने के लिए हत्या कर दी। यह भावों से भी हिंसा और द्रव्य से भी हिंसा हुई। डॉक्टर किसी मरीज को देखे, देखा मालदार है तो इलाज में लापरवाही बरती, औषध जानता हुआ भी अच्छा नहीं दे रहा, जितने दिन रोगी रहेगा उतना धन मिलेगा की भावना रही। तिल–तिल कर उसे मरने को मजबूर किया और उसे विश्वास में लेकर धन हड़पने की भावना लेकर हिंसा कर दी। एक दिन गलत औषधि देकर उसकी हत्या कर दी। कसाई निरन्तर पशुओं का वध द्रव्य से भी करता है। कोई जानवर बचने की कौशिश करता है तो उसे भी हास्य से भर कर कहता है–मुझसे बचकर कहाँ जायेगा और फिर गर्दन पर छुरी फेर देता है। यह द्रव्य से भी हिंसा है और भावों से भी हिंसा है।

3. *भावों से हिंसा करना द्रव्य से नहीं :* व्यक्ति कभी–कभी ईर्ष्या, द्वेष, क्रोध, अहंकार से भरा होता है और चाहता रहता है कि किसी भी तरह से उस दुश्मन को मार दूँ, पर भय–कानून सामने वाले का बल एवं पहुँच देखकर प्राणों का साक्षात् हरण तो नहीं कर रहा पर वैचारिक विकृति के कारण से निरन्तर भावों से हिंसा कर रहा है–द्रव्य से नहीं। यह हिंसा भी महापापकारी है। शास्त्रों में राघव मच्छ व तन्दुल मत्स्य का उदाहरण है।

राधव मच्छ एक बार भोजन करके मुख खोलकर शयन करता है, उसके मुख में

सैकड़ों मछलियाँ आती है–जाती है। उसी राघव मत्स्य के कान में तन्दुल–मत्स्य रहता है वह राघवमत्स्य के मुख में आते–जाते मत्स्यों को देखता है तो उसके मन में विचार आता है–काश ! इसकी जगह मैं होता तो एक भी मछली को बाहर जाने नहीं देता। मुख में मछलियों के प्रवेश होते ही मुख बन्द कर लेता यह विचार भाव हिंसा है या कोई इंसान कत्लखाने का मालिक है, मैनेजर (प्रबन्धक) है, खुद तो एक भी पशु को नहीं मारता पर भावों में व्यवहार से आज्ञा देता है कि आज इतने किलो मीट का उत्पादन होना चाहिए। दूसरा हत्या कर रहा है– स्वयं नहीं। पर भावों से पूर्ण हिंसा का पाप कमा रहा है। एक मछुवारा है। जाल लेकर तालाब में गया। एक भी मछली नहीं पकड़ सका–पर भावों में हिंसा होने से वह हत्यारा है, हिंसा कर दी है। लक्ष्य पूर्वक किसी को निशाना बनाया पर चूक गया, भाव हिंसा है।

4. *न द्रव्य से हिंसा न भावों से हिंसा :* यह साधक का रूप है। सृष्टि के प्राणी को प्राणवान मानकर यही विचार करता है कि इस प्राणी की हत्याभावी परमात्मा की हत्या है। और हिंसा से बचे रहते है। इसलिए प्रमादयोग में भावों की विचित्रता के साथ ही शुभाशुभ कर्म बंधते है। अहिंसा सर्वश्रेष्ठ विचार–धारा है। जब भीतर अहिंसा धर्म जागृत होता है तो वह दुश्मन की भी रक्षा का विचार करता है। कृत्य करता है और जब अहिंसा धर्म विदा हो जाता है। तब वह अपने पिता–पुत्र, पत्नी, गुरू की हत्या करने में भी संकोच नहीं करता। इसलिए इस सृष्टि का दूसरा परमात्मा ही अहिंसा है। समन्त भद्रदेव ने स्वयंभू स्रोत में कहा है– **'अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्मपरमं'** अहिंसा ही इस जगत में परम ब्रह्म है। जैसे हाथी के पैर में सभी के पैर समा जाते है, उसी प्रकार अहिंसा धर्म में ही सभी धर्म समाहित हो जाते है।

अहिंसा को किसी भी रूप में स्वीकारा जा सकता है। आज अहिंसा एक कोने में बैठी सिसक रही है और हिंसा चारों ओर प्रसन्नता से ताण्डव नृत्य कर रही हैं।
आज हिंसा चार कारणों से सर्वाधिक प्रचण्ड रूप धारणकर चुकी है–

1. अनुसंधान (रिसर्च) 2. स्वाद 3. श्रृंगार 4. आतंकवाद

1. *अनुसंधान :* दवाओं के प्रयोग और परीक्षणों के नाम पर हिंसा हो रही है। मछलियों को मार कर, उबाल कर निकाला जाने वाला तेल शरीर को पुष्टि प्रदान करने के लिए बनाया जाता है। डॉक्टर बनने के लिए कितने जीवों की हत्या की जाती है। वैज्ञानिक प्रयोगशाला में जायेंगे तो पायेंगे–अनगिनत चूहें मारे जा रहे हैं, मेढ़क काटे जा रहे हैं। जानवरों को उल्टा लटकाया जा रहा है, बेहोश किया जा रहा है, चमड़ी काट कर, हड्डी तोड़कर कितने दिनों में ठीक होगा का प्रयोग करने, दवाओं को कई जानवर काटकर

सिला जाता है, टाँके लगाये जाते है, पशु वेदना से कराहता है पर संवेदन शुन्य वैज्ञानिक मनुष्य की रक्षा का बहाना बना, मानव सेवा का मुखौटा लगा यश और धन पैदा करने निरन्तर निर्बल असहाय मूक पशुओं के साथ दुःव्यवहार कर रहे है; जो निन्दनीय भी है और अनावश्यक भी हैं।

मनुष्य की क्रूरता व हिंसा इतनी बढ गई है कि एक–एक देश में प्रति वर्ष 40–50 लाख पशुओं की हत्या, चीरफाड़ (बिना बेहोश किये) करना, तडफाकर, झुलसाकर, हथौडे से सिर पीट कर, भूखे रख कर, औषधियों के इंजेक्शन देकर चमड़ी उधेड़ कर, उसे सोने न देकर, मनुष्य के शरीर में दुष्प्रभाव न पड़े इसलिए जानवरों की आँखों में, कानों में डालकर उसे खिला कर उन्हें जलन और तड़फन भरे जीवन जीने को मजबूर किया जाता है। बिना भोजन, पानी, हवा के रखा जाता है ताकि लकवा, ताकत, हार्ट आदि रोगों के इलाज की औषधी का निर्माण किया जा सके। इस प्रकार का कार्य गहरी हिंसा का प्रतीक है। इसमें अगर एक मनुष्य की रक्षा होती है तो हजारों पशुओं की हत्या होती है। ऐसे क्रूर परीक्षण करने वाला इंसान कभी भी दयालू या सेवाभावी नहीं हो सकता, क्रूर व अवसरवादी होता है; क्योंकि विद्यार्थी अवस्था में कोमल निर्दयता पूर्ण प्रयोग उसके मस्तिष्क के कोमल संवेदन शील कौशिकाओं की हत्या कर देते हैं। वे भविष्य में स्वार्थी, अर्थ लौलुपी, निर्दयी हो जाते हैं; जो समाज कल्याण में नहीं–स्वकल्याण के अर्थोपार्जन में रुचि रखते हैं।

अगर ऐसे प्रयोग वनस्पति पर किया जाये (वर्तमान मे प्लास्टिक के जानवरो पर रिसर्च किये जाने लगे हैं कुछ अंशो में हिंसा बची है पर भावों से प्राणी हत्या रिसर्च करने में अब भी जारी हैं) तो हिंसा भी कम होगी और भीतर की करुणा की भावना का जागरण होगा, अपने छुद्र स्वार्थ के लिए किसी को मारने की आज्ञा देना किसी भी भाव में स्वीकार्य नहीं है। वहाँ तो मात्र यही भावना होनी चाहिए कि सभी के भीतर मेरे समान प्राण तत्व है उसे कष्ट देना स्वयं के लिए कष्ट का निर्माण करना है।

वर्तमान काल में सर्वाधिक औषधि के प्रयोग के लिए हिंसा का सहारा लिया गया है, धारणा मन में बना ली गई है–यह हिंसा नहीं है ? आदमी की सुरक्षा के लिए उपाय हैं और यही आदमी सुरक्षा के उपाय का बहाना–औषध से लेकर विस्फोट सामग्री तक पहुँच गया, जो विनाश लीला रचाने में इतना सक्षम हो गया है कि दुनिया को तबाह करने में एक मिनट काफी हैं। जिस दिन किसी का दिमाग काबू में नहीं रहा तो उस दिन समस्त विश्व एक पल में विनाश के गर्भ में समा जायेगा। अभी तो मानव सुरक्षा की बात लेकर मनुष्य को बचाने के लिए अनेक पशुओं का वध कर रहा है। लेकिन मनुष्य अपने ऊपर

उस पीड़ा का एहसास करके आगे बढेगा तो उसे पता चलेगा कि मैं कितना बड़ा पाप अनुसंधान के नाम पर प्रयोग शाला में कर रहा हूँ। भगवान महावीर स्वामी तो कहते हैं कि किसी प्राणी को मरणान्तक पीडा हो तो उसे मारकर उसे प्राणान्तक दुख से मुक्ति दिलाने के उद्देश्य से मार डालना भी हिंसा है, फिर तो मनुष्य को बचाने के बहाने पशुओं को मारना नियमतः हिंसा है। मानवीय गुणों का हास करके दूसरे की सुरक्षा की भावना एक दिन मनुष्यता की हत्या में कारण बनेंगी। मनुष्य ही मनुष्य का दुश्मन हो जायेगा। यह स्थिति अब बनने भी लगी है। पहले मनुष्यों के मन में यह विचार होता था कि अगर जानवरों से सारी धरती भर जायेगी तो मनुष्य को रहने का स्थान नहीं मिलेगा इस लिए पशुओं की संख्या कम करने के लिए कत्लखाने का निर्माण करो, जिससे पशु भी कम होगे और धन का भी लाभ होगा। हजारों पशु कटने लगे फिर धीरे से यही विचार मनुष्य के लिए उठा कि मनुष्यों की जनसंख्या बढ़ रही है–क्या किया जाये ? उपाय सुझाया गया–एवोर्शन (गर्भपात) के माध्यम से जन्म लेने के पूर्व ही बच्चे को गर्भ में मार दिया जाये और प्रति वर्ष करोडों बच्चों की हत्या गर्भ में ही हो जायेगी। तो जन संख्या कम हो जायेगी। फिर क्रूरता बढेगी तो क्रूर मन कहने लगेगा–धरती पर बुड्ढ़े कुछ काम के नहीं रहे मात्र बोझ है, खाते–पीते है, जगह घेर रहे है, इनकी संख्या बढ़ रही है, इनकी भी हत्या कर दो ताकि आँखों की कमी गुर्दे की कमी हार्ट की कमी वाल्व की कमी वाले को इनके शरीर का अंश लगाकर नई पौध को जीवन देकर उनसे काम लिया जा सके और बुजुर्गों को धरती से हटा कर धरती को बोझ मुक्त किया जा सके। खैर ! अनुसंधान के नाम पर कि गई हिंसा ने मनुष्य के तन को स्वस्थ किया है, पर मन को विकृत किया है। हिसा के नगाड़ों के बीच अहिंसा की बॉसुरी को कोई सुनने वाला नहीं रहा। अहिंसा को बढाने के लिए फिर से स्वयं को अहिंसक बनना होगा ताकि बाहर की हिंसा मिट सके। जैनत्व का बोध जिसे होगा वह अवश्य ही ऐसे किसी भी हिंसक कार्यों में सम्मिलित नहीं होगा, न सहयोग करेगा।

2. *शृंगार व मनोरंजन के नाम पर :* सौन्दर्य के प्रति रूझान को देखते हुए रसिकों ने, व्यापारियों ने लाखों–करोड़ों पशुओं के शरीर से सौन्दर्य–सामग्री का निर्माण करते है। हाथी दाँत के आभूषणों के लिए हाथियों को, नाखून व खालों के लिए शेर–चीतों को, कस्तूरी गन्ध प्राप्त करने के लिए कस्तूरी मृग को, मुलायम फर की टोपी के लिए पक्षियों को, रोयेदार खाल के लिए खरगोशों को, तन सजाने के लिए बन्दरों को, तेल सौन्दर्य निर्माण के लिए कछुओं को पर्स बनाने के लिए निर्दयता की पराकाष्ठा के साथ सर्प को एक वृक्ष पर मुख के पास एक कील व पूँछ के पास एक कील ठोक कर बीच से तेजधार

वाले चाकू से काटते है ताकि सर्प की चमड़ी बड़ी निकले। रेशमी वस्त्रों के लिए हजारों कीड़ों को, कोट–स्वेटर, खिलौने आदि बनाने के लिए गंध मार्जार को चमड़े के लिए कई पशुओं को निर्दयतापूर्वक मारा जाता है। जिसकी संख्या लाखों में नहीं करोड़ों में है। शृंगार के माध्यम से होने वाली हिंसा से भी धरती की हरी भरी खोल ध्वस्त हो रही है। रेगिस्तान जगह–जगह सिर उठाने लगे है। शृंगार के लिए जो भोले–भाले जीवों के साथ बदसलूक किया जाता है उसे कर्म कभी माफ नहीं करेगा। मनुष्यों ने शृंगार के लिए जो बे हिसाब पशुओं पर जुल्म किये है वे प्रकृति एवं संस्कृति दोनों के लिए आत्मघाती सिद्ध हुए हैं। शृंगार–सामग्री प्राकृतिक, मानसिक, शारीरिक, वैज्ञानिक, आर्थिक तथा धार्मिक दृष्टि–कोणों से हानिप्रद ही हैं। जैनत्व का आचरण करने के लिए इस हिंसा से बचना अनिवार्य है। प्रकृति के सौन्दर्य को उजाड़कर अपना सौन्दर्य निखारना जैनत्व नहीं, जैनत्व के नाम पर कलंक है। अतः अहिंसा का बोध करने वाले सदैव ऐसी हिंसा से बचें।

3. *स्वाद :* मनुष्य संसार में बड़े–बड़े कष्ट झेल सकता है। धन–विहीन, वस्त्र–विहीन, स्त्री–विहीन, मकान विहीन जीवन जी सकता है, पर भोजन–पानी विहीन जीवन नहीं जी सकता है। पर जिसकी आत्मा में अहिंसा धर्म अवतरित हो जाता है वह सम्पूर्ण विहीनता को प्राप्त करने के बाद भी हिंसा के साधनों से निर्मित अन्न–पानी को स्वीकार नहीं करता। वह महाराणा प्रताप के समान घास की रोटी खाना स्वीकार करता है, मांस के पकवान नहीं। आज के युग में अहिंसा की हत्या स्वाद के माध्यम से भी बहुत विस्तृत हो चुकी है। मनुष्य इस संसार में सुख–शान्ति और निर्द्वन्द्वता का जीवन जीने के लिए आया है, जो भोजन किसी के प्राणों का हरण करके तैयार होता है। जिससे मनुष्य के मानवता, दया, करूणा, सहानुभूति आदि स्वाभाविक गुण नष्ट होते हैं। वह आहार मनुष्य के लिए कदापि उचित नहीं है। पर स्वाद की लौलुपता ने सारी सीमाएँ लाँघ दी हैं। आज मछली, कुत्ता, बिल्ली, सुअर, बकरी, सर्प, खरगोश आदि के माँस का सूप बनाकर बडी शान के साथ परोसा जाता है और लोग बड़े चाव से खाते हैं। बडे–बड़े फाईव स्टार होटलों में लोग सैकड़ों रुपये खर्च करते हैं और मांस का सेवन करते हैं। हिंसा का एक प्रचलन हो गया है। विदेशों में बड़े–बड़े बाड़ों में पिंजरे में बिल्ली, कुत्ते, सर्प रखे जाते हैं। और स्वाद लौलुपी मानव वहाँ जाते हैं – अपने पसन्द की बिल्ली, कुत्ता, सर्प छाँटते हैं और वहाँ से रसोईये को दे देते हैं। वह उन जानवरों को उबलते हुए पानी में डालता है – वह जिन्दा ही उसमें तड़फती हुई उबलती है, जब अन्दर का मांस जिन्दे में ही पक जाता है झट उसे काट लिया जाता है और खाने के लिए उसे परोसा जाता है। कितनी निर्दयता है। मेढ़क, मछली, हिरण, गाय, बकरे, मुर्गी के मांस को किस प्रकार सेवन करते है यह तो सर्ब विदित ही हैं।

यद्यपि इस धरती में खाने के लिए अन्न की कमी नहीं है, पर स्वाद के लिए दूसरे के प्राणों की हत्या करते हैं। अगर मांसाहारी भोजन करने वाले एक बार भी जानवरों को मरते हुए देख लें कि किस क्रूरता, निर्दयता के साथ कसाई–हलवाई उसे काटता है फिर मसालेदार भोजन तैयार करता है उस मरे जानवर की गन्दगी देखे तो उसे अपने आप ही घृणा हो जायेगी और स्वाद के नाम पर हिंसा को स्वीकार नहीं करेगा। अधिकांश मांसाहारी व्यक्तियों ने प्राणी–वध होते देखा नहीं है। प्राणियों का मांस निकालते समय क्या किया जाता है ? कभी जाना नहीं है। अगर वे एक बार भी बहते हुए रक्त की धार को देख ले तो पशुओं के दीनतापूर्ण प्राण,–याचना के लिए उठती हुई आँखे, बचाव के लिए छटपटाहट करता देख लेगा तो तुरन्त ह्रदय भयात्मक् घृणात्मक रूप से दया से परिपूर्ण होकर मांसाहार के सहज त्याग की ओर उन्मुख होगा। वर्तमानयुग में डिब्बा बन्द मांस स्वादिष्ट सेहतवान कह कर मनुष्य को केवल अहिंसा धर्म से च्युत करने के लिए दिया जा रहा है जोकि एक साजिश है। मनुष्य को स्वयं विचारना चाहिए कि–जो स्वाद फल–फूल, मेवा–मिठाई में है, जो ताकत शाग–सब्जी, दाल–रोटी में है वह स्वाद व ताकत मॉंस में नही है, जो गन्दगी मांस में है मक्खियों का भिनभिनाना है वह कभी भी शाक सब्जी में नहीं है। शाक–सब्जी को सहज तरीके से खाया जा सकता है इसका स्वाद भी है, पर मांस में जब तक पूर्ण दुगुना–चौगुना मसाला नहीं मिलाया जाये तब तक स्वाद भी नहीं है वह तो मात्र तामसिक वृत्ति का जन्मदाता है। अतः मनुष्य को आत्म–विकास में हानिप्रद स्वभाव में क्रोध, उत्तेजना, आवेश, क्रूरता, कठोरता को जाग्रत करने वाला निर्दयता, लौलुपता, तामसिकता को जन्म देने वाला मांस त्यागना चाहिए ताकि स्वाद के नाम पर हिंसा न हो। स्वाद के वशीभूत किया गया मांसाहार मनुष्य की योग्य प्रकृति की हत्या करता है। जैनत्व का बोध होने के उपरान्त मनुष्य किसी भी रूप में मांस नहीं खाता, अगर उसे ज्ञात हो जाता है। जिसमें मांसाहार की मिलावट है वह उसे तुरन्त ही छोड़ देता है।

4. *आतंकवाद :* जब से खानपान में मांसाहार का प्रचलन बढ़ा है, तब से मनुष्य ऊपर से धर्मात्मा बने है और धर्म खतरे में है। इस नारे को बुलन्द करके या दूसरे की सम्पदा को, भूमि को ग्रहण करने के लिए हिंसा का सहारा लिया है। आज मनुष्य का जीवन भी तिनके की भाँति हो गया है। हजारों की संख्या में लोगों की हत्या मात्र दहशत पैदा करने, अपनी बात मनवाने के नाम पर हो रही है। पशुओं की हत्या से मन नहीं थका, मनुष्यों की हत्या पर तुल गये हैं। आतंकवाद की हिंसा धर्म के नाम पर, सम्प्रदाय के नाम पर, लूट के नाम पर, दंगे के नाम पर, अहंकार की पुष्टि के लिए सत्ता पर अपना अधिकार जमाने बहुत ज्यादा हो रहा है। अगर मनुष्य के भीतर वैचारिक समन्वय नहीं हुआ तो

मानव हानि में जहाँ–जहाँ भी धार्मिक कट्टरवाद है, धर्म विस्तार के साथ बाह्य परिवर्तन की आकांक्षा है। वह पन्थ, सम्प्रदाय, वर्ण, जाति के नाम पर घृणा फैलायी जायेगी और दूसरे को गिराकर स्वयं को ऊपर उठाने की मनोवृत्ति हिंसा पर उतारु हो जायेगी। अहिंसा को अन्तरंग से जानने, दूसरे के विचारों को, दृष्टिकोण को समझना अनिवार्य होगा। अन्यथा अपनी बात मनवाने की दुराग्रहपूर्ण दृष्टि हिंसा के साथ आतंकवाद को जन्म देगी। अगर विश्व शान्ति का आधार अहिंसा है, तो अहिंसा का आधार आपसी सौहार्द है और आपसी सौहार्द का आधार ऊँच–नीच की भावना का समापन है। सभी प्राणियों पर दया का भाव रखना ही अहिसा है। अहिसा हमें निर्माण सिखाती है। विध्वंस नहीं। अहिंसाधर्म को पाने, शस्त्रों के निर्माण की होड से भी मुक्त होना होगा। अहिंसा कहती है – तुम्हारे भीतर विद्रोह की आग भडके तो तुम विद्रोही बनकर नहीं, विनम्र बनकर उसके सम्मुख जाने की चेष्टा करो तो अहिंसात्मक वृत्ति का जागरण होगा। अन्यथा मारकाट, खून–खराबा, युद्ध, वैमनस्य आतंकवाद का ही विस्तार होगा। अहिंसा विश्व का सर्वश्रेष्ठ धर्म है। वह जाति, सम्प्रदाय, देश या किसी व्यक्ति के लिए नही है, सम्पूर्ण समष्टि के लिए है। इसलिए अहिंसा धर्म व्यक्ति की, मानव की रक्षा की बात नहीं करता वह तो प्राणी मात्र की रक्षा की बात करता है और कहता है कि – हम दूसरे की रक्षा करेंगे तो हमारी रक्षा स्वतः ही हो जायेगी और धर्म का जागरण भी होगा। इस लिए शास्त्रों मे कहा गया है–

'अहिंसा परमो धर्मः स्याद धर्मस्तदव्यतात्'

इस संसार में अहिंसा ही परम धर्म है। उस अहिसा धर्म का उल्लंघन करना ही अधर्म है। जीवन का पतन है। आचार्य शुभचन्द्र देव ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहा है–

हिंसैव दुर्गतेद्वारं हिंसैव दुरित्तर्णवः।
हिंसैव नरकं घोरं हिंसैव गहनं तमः।।

हिंसा ही दुर्गति का द्वार है, हिंसा ही पाप का समुद्र है, हिंसा ही घोर नरक है और हिसा ही सघन अन्धकार है। मनुष्य को हिंसा से सदैव बचना चाहिए। अब प्रश्न उठ सकता है कि–

जले जन्तु थले जन्तुराकाशे जन्तुरे व च।
जन्तु मालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसक ।।

जल में जीव है, थल में जीव है आकाश में भी जीव है, सारा लोक जीवों से व्याप्त है। ऐसी स्थिति में ग्रहस्थ तो क्या साधु भी कैसे अहिंसक रह सकता है।
अब इस प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कहते है –

अहनन्नपि भवेत्पापी निहनन्नपि न पापभाक्
परिणाम विशेषेण यथा धीवर, कृषकौं।

जैसे– मछली मारने वाला धीवर प्रातः से साँय काल तक नदी में जाल डाले प्रतिक्षा में बैठा रहता है और मछली मारने की बात सोचता रहता है, पर शाम तक भी उसके जाल में एक भी मछली नहीं आती, तब भी वह पाप का, हिंसा का भागी है; क्योंकि उसके भावों में निरन्तर हिंसा व्याप्त थी पर इसके विपरीत एक किसान अन्न प्राप्ति हेतु दिन भर खेत में हल चलाता है, निरन्तर कई जीवों का घात होता है फिर भी वह हिंसा का भागी नहीं होता, क्योंकि उसके भावों में अन्न का उत्पादन है–जीवों की हत्या नहीं। भावना का परिणाम व मन की निर्मलता ही अहिंसा है। इसलिए भगवान महावीर स्वामी ने ग्रहस्थ जीवन में जीने के लिए 4 प्रकार की हिंसा बताई है कि ग्रहस्थ कौन सी हिंसा का त्यागी होता है।

1. आरंभी हिंसा 2. उद्योगी हिंसा 3. विरोधी हिंसा 4. संकल्पी हिंसा।

ये चारों हिंसा प्रायः दो कारणों से होती है–रक्षण और भक्षण। रक्षण के रूप में होने वाली हिंसा परिस्थिति वशात् होती है; क्योंकि जीव जब स्वयं की रक्षा नहीं कर सकता तो परिवार धन–सम्पदा–समाज या देश की रक्षा कदापि नहीं कर सकता, पर भक्षण की हिंसा स्वार्थ, स्वाद, कार्य, परिग्रह, लिप्सा, कामना, वासना की तृप्ति के लिए की जाती है, जो प्रायः पूर्णतः हिंसा है। अक्षम्य अपराध है फिर भी सावधानी रखी जाये, विवेक का पालन किया जाये तो कई हिंसा से बचा जा सकता है। जिसमें पहली हिंसा है–

आरम्भी हिंसा : जिन्दगी जीने के लिए भी हिंसा अनिवार्य है। दैनिक जीवन में कुछ कार्य जीवन की अनिवार्य आवश्यकला होती है। वह आवश्यकता खाना बनाना, कपड़े पहनना, मकान बनाना, घर–दुकान की सफाई करना, बाग–बगीचे लगाना, कपड़े धोना, वाहन धोना आदि कार्य हेतु इधर–उधर भ्रमण करना, आवश्यकतानुसार यह कार्य आवश्यक है। इसमें – आरम्भ सम्बन्धी हिंसा अवश्य होती है पर विवेक पूर्वक कार्य करने से आरम्भ सम्बन्धी क्रिया में भी प्रमाद से बचकर हिंसा को रोका जा सकता है। खाना बनाने में हिंसा होती है तो उससे बचने के लिए ध्यान रखे–चूल्हा जलाये तो लकड़ी, कोयला देखकर प्रयोग करें। गैस चूल्हा आ चुका है तो उसे देखकर जलाये, ऐसा नहीं कि एक दिन पूर्व दूध–चाय गर्म की हो और वह उफनकर गिर पड़ा हो रातभर में मिठास के कारण चीटी बर्नर में आ गई हो और आपने लाइटर लिया और तुरन्त बिना देखे जला दिया यह हिंसा है। कपड़े धोना है–नल खुला न छोड़े व्यर्थ पानी न बहने दे, छने जल का उपयोग करें। ज्यादा सर्फ लेकर धोया तो क्षार तत्व ज्यादा बहेगा जीव भी ज्यादा मरेंगे हिंसा हुई उससे बचे। अनाज में घुन लगा हो तो शोध ले तब पीसे। पंखा–कूलर व्यर्थ न चलायें उपयोग करते देख ले कोई जीव–जन्तु तो नहीं। घर में झॉडू लगाये तो देख ले

चींटी आदि तो नहीं फिर पानी से धोये, घर में जाला आदि लगा हो, चिड़ियाँ ने घोंसला बनाया हो, चूहें आदि ने बच्चे दे दिये हो तो एक दम से निर्दयता का परिचय न दें। प्रति दिन ध्यान रखे तो जाला नहीं होगा, उसे उजाड़ना भी नहीं पडेगा। जानवर–बच्चे आदि नहीं होंगे तो उन्हें हटाना भी नहीं पडेगा। अग्नि, बिजली आदि का प्रयोग सावधानी पूर्वक करें। कपड़े आदिरेशम के न पहने अर्थात् कोई भी कार्य आरम्भ जनित करें, होश पूर्वक करें, विवेक पूर्वक करें।

कई लोगों की धारणा है कि भगवान महावीर ने ग्रहस्थ सम्बन्धी आरम्भ हिंसा का भी त्याग बतलाया है तो मन्दिर बनाने, पूजा करने में बहुत आरम्भ होता है, वह भी पाप मानना चाहिए– पर ध्यान रखें विलासिता के कार्य में आरम्भी हिंसा पाप मूलक हैं। धार्मिक कार्य में आरम्भी हिंसा भी पुण्य मूलक है– पर आवश्यकता है विवेक की। पूजा के लिए अष्ट द्रव्य का धोना पाप नहीं है, दीप जलाकर आरती करना पाप नहीं है। जल छान कर मन्दिर बनाना पाप नहीं है। नींव भरने, जमीन खोदना पाप नहीं है। मुनियों के साथ विहार कराना, वाहन का बार–बार आना–जाना पाप नहीं है अपितु अप्रयोजनीय व विलासितापूर्ण कार्य करना पाप है। यह आरम्भ की क्रिया आचार्य समन्तभद्र के वचनानुसार– **''सावद्य लेशो बहु पुण्य राशो''** के सूत्र से थोडा आरम्भ होते हुए भी बहुत पुण्य को देने वाला है। यानि कि सावधानी पूर्वक व शुभ क्रिया में किया गया थोडा आरम्भ समुद्र में एक कण विष की बून्द के समान अप्रभावकारी है। सेवार्थ, धर्मार्थ, आत्म कल्याणार्थ स्थावर हिंसा क्षम्य है, कदाचित परोक्ष रूप से त्रस हिंसा हो भी जावें तो उस हिंसा के प्रति भावना न होने के कारण से हिंसा भी नहीं है। इसका अर्थ यह भी न निकाले कि धर्म के लिए कई लोग पशु–बलि देते है तो वह भी शुभ क्रिया है–नहीं वह संकल्पी हिंसा है। होश पूर्वक हिंसा की जाती है पर जिन–मन्दिर में मात्र अष्ट द्रव्य में स्थावर हिंसा की जाती है कदाचित् इनके उपयोग से त्रस हिंसा हो भी जाय तो क्षमा याचना, प्रायश्चित की भावना उस पाप के शमन में कारण होती है। यह आरम्भी हिंसा विवेक पूर्ण कार्य करते हुए ग्रहस्थोचित् होने से क्षम्य हैं, स्वीकृत हैं।

उद्योगी हिंसा : ग्रहस्थ जीवन में रहकर गृहकार्य करना आवश्यक है तो द्रव्य संग्रह करने के लिए कोई न कोई उद्योग करना (व्यापार करना) भी आवश्यक है। बिना व्यापार किये अर्थ लाभ नहीं होता, बिना अर्थ कमायें जीवन का सुचारु रूप से चलाना नहीं हो–सकता, इसलिए ग्रहस्थ को जीने के लिए व्यापार करना भी आवश्यक है। पर यह विचार करे की व्यापार भी करना है तो कौन सा करना है। जैनत्व का अगर जिसे बोध हो जाये, अहिंसा धर्म के प्रति आस्था जाग्रत हो जाये तो वह इंसान कभी भी व्यापार हिंसा जन्य नहीं करेगा। कभी भी वह फिश फार्मिंग हाउस, पोल्ट्री फार्म हाउस, पिग फार्म हाउस

नहीं खोलेगा, चमड़ें के जूते–चप्पल, बेल्ट, पर्स नहीं बेचेगा। जहर–कीटनाशक दवा, तेजाब आदि नहीं बेचेगा, शराब आदि का ठेका, जंगल जलाने का ठेका नहीं लेगा, कत्लखाने में किसी भी प्रकार की सर्विस (नौकरी) नहीं करेगा। ईट भट्टा लगाना, खदान खोदना, रेशम के वस्त्र बेचना, खाल, पशु–बाल, जानवर बेचने का व्यापार नहीं करेगा। हिंसक जीव राशि से युक्त दवा का भी व्यापार नहीं करता है, यहाँ तक की डॉक्टर बन जाये तो अर्थ के लोभ में मरीज का आपरेशन कर छोड दिया, पूर्ण धन प्राप्ति की आकांक्षा से वकील ने मर्डर केश, जमीन–जायदाद सम्बन्धी केश लिया यथार्थ सत्य जानते हुए भी अर्थ लिप्सा के कारण, झूठे केश में ईमानदार को फँसाने का कार्य करना आदि उद्यम की हिंसा जन्य कार्य स्वीकार नहीं करेगा–वह जीव रक्षा युक्त ईमानदारी से पूर्ण खेती, वस्त्र, सर्राफ, किराना आदि का या जिस कार्य में कम से कम कायिक–मानसिक हिंसा हो वह व्यापार करेगा, क्योंकि उसे एहसास हो जायेगा कि हिंसा जन्य व्यापार से कमाया धन घर में हिंसक वातावरण ही उत्पन्न करेगा। इससे बचना ही मेरा धर्म है।

विरोधी हिंसा : आक्रमणकारी चोर, डैकत, बदमाश, आतंकवादियों द्वारा ज्ञात–अज्ञात शत्रुओं से अपने जान–माल की रक्षा करने में जो तात्कालिक हिंसा होती है, वह विरोधी–हिंसा है। इस क्रिया में भी सावधानी बरतते हुए साहस, धैर्य, विवेक का परिचय देते हुए कम से कम हिंसा हो, ऐसा ख्याल मन में रखना भी क्षम्य हिंसा है। विरोधी हिंसा में संकल्प पूर्वक किसी का घात नहीं किया जाता अपितु आत्मरक्षार्थ पर जीवों का घात किया जाता है। सामने वाला अक्रमण कर छोड़ देता है तो उसे भी क्षमा कर अपने शस्त्र का उपयोग बन्द कर मित्रता का हाथ बढा देता है। सीमा पर तैनात सैनिक है–वह देश की सुरक्षा के लिए सैकडों लोगों को मार भी देता है तो वह क्षम्य है; क्योंकि उसके भीतर अपने देश में पल रही सौ करोड जनता, उसकी सम्पदा व पशु धन की सुरक्षा की भावना है। विरोधी हिंसा स्व–रक्षा की भावना मूलक है। यह कायरता नहीं अपितु वीरता है। शत्रु के झुकने पर उसे जीवित छोड़ देना महावीरता है। आज वास्तविक अहिंसा का परिचय न होने से महावीर की अहिंसा को कायरता माना गया है। वह कायरता नहीं। जब अपने ऊपर, देश के ऊपर, परिवार के ऊपर संकट आये तो कायरता–पूर्वक एक कोने में छुपकर परिवार को नुकसान पहुँचाना, देश को नुकसान पहुँचाना कायरता है। कुत्ते की मौत मरना है और आक्रमणकारी से लोहा लेना वीरोचित् मृत्यु है; जो सम्मान जनक है। देश–धर्म परिवार–रक्षा की भावना है। विरोधी हिंसा करने वाला वक्त पर चीटी मारने से भी डरता है, तो वक्त पर सैकड़ों की हिंसा भी कर देता है। हिंसा और अहिंसा कभी–कभी भावना को प्रधानता देती है कृत्यों को नहीं। हिंसक और अहिंसक दोनों शत्रु से युद्ध करते है। एक लूटने की भावना से करता है, एक स्व–रक्षा की भावना से क्रिया एक सी होते

हुए भी अभिप्राय के अन्तर से विरोधी हिंसा के रूप में अन्तर आ जाता है। हिंसा का हिंसक अन्त देखकर प्रसन्न होता है, अहिंसक पश्चाताप करता है। हिंसक सदा आक्रमण करने की इच्छा करता है। अहिंसक आक्रमण होने पर हिंसा को मजबूरन स्वीकार करता है। हिंसक विवेकहीन होकर कार्य करता है, अहिंसक विवेकपूर्ण होकर हिंसक कार्य करता है। हिंसक में बचाने की भावना कम, निपटाने की भावना ज्यादा होती है। अहिंसक में बचाने की भावना ज्यादा, निपटाने की भावना कम होती है। हिंसक हथियार के प्रयोग से बात समाप्त करना चाहता है, अहिंसक पहले आँख के इशारे से फिर बात से समझाकर, फिर भय दिखाकर, न माने फिर भी सामने वाला उग्र हो जाये तो जैसा सामने वाले का आक्रोश होता है तदानुसार सुरक्षा के उपाय करता है। इसलिए शास्त्रकारों ने भी युद्ध में हिंसा होती है यही जानकर उस हिंसा से बचाने के लिए निर्देश दिया कि शस्त्र रहित पर, बालक पर, अपाहिजपर, स्त्री पर, वृद्धा पर, सोते हुए पर, छिपकर रहने वाले पर, भागने वाले पर, समर्पण जताने पर हिंसा नहीं करना। हिंसा की पराकाष्ठा में भी अहिंसा का सूत्रपात किया। यह विरोधी हिंसा केवल अपनी रक्षा युद्ध समय के हेतु ही नहीं अपितु सभी रूपों में है। रास्ते में जा रहे सर्प मिल जाये तो उन्हें देख कर तुरन्त न मारने दौडना, बिच्छू मिल जाये तो तुरन्त पत्थर या लकडी से समाप्त न कर देना, शेर मिल जाये तो हथियार प्रयोग न कर देना। ये विरोधी जीव नहीं, भयवान जीव है–मनुष्य से सब डरते हैं। सामने वाले की आक्रामक मुद्रा देखते है या इन्हें कष्ट पहुँचाया जाता है तभी हिंसा पर उतारू होते है अन्यथा अपना जीवन शान्त व्यतीत करते हैं। व्यर्थ मधुमक्खी के छत्ते, तैतेइये, भिरड आदि को देख उन्हें हटाने के लिए पत्थर आदि न मारे अन्यथा इनके कोप के भाजन बनने पर वहाँ रहने वाले सभी का नुकसान अवश्यभावी हो जायेगा। ये हिंसक जीव सामने वाले के हिंसक होने पर ही हिंसा करते है, अन्यथा शान्त परिणाम से रहने देते हैं।

मनुष्य को सदैव यह विचार करते रहना चाहिए कि दुर्जनता हावी न होवे, सज्जनता की सुरक्षा रहे। इस लिए हिंसा भी हो तो विवेक का परिचय देते हुए कार्य करना चाहिए। होशपूर्वक कार्य करें ताकि जीवन व्यवस्थित चले और हिंसा भी न हो। जैसे लक्ष्मण रावण को मारते हुए भी अहिंसक है, क्योंकि उसके मन में राज्य की आकांक्षा नहीं बल्कि दुर्जनता को हतोत्साहित करने की भावना थी। वर्तमान में हिंसा की होड़ सी लगी है। सभी देश एक–दूसरे की हत्या करने बडे–बडे परमाणु–बम बना कर बैठे है और कह रहे है कि– हम अपने देश की सुरक्षा के लिए ये हिंसक–सामग्री तैयार कर रहे हैं। पर ध्यान रखना चाहिए–शस्त्रों से शस्त्र बन्द नहीं किये जा सकते। युद्ध से युद्ध बन्द नहीं किये जा सकते। एक को समाप्त करके ही शान्ति की जा सकती है, पर उसके बलवान होते ही

पुनः प्रति शोध, हिंसा को बढ़ावा दे सकती है। राख के नीचे दबी आग की भांति हिंसा प्रचण्ड रूप धारण कर सकती है। जब मनुष्य के भीतर मनुष्यता का जागरण होगा तब वह सहज ही हिंसा से मुक्त होगा। यह सोचना गलत है कि हम अनेक बमों का निर्माण करके दूसरे को भयभीत करके विश्व में शान्ति ला सकते हैं। ध्यान रखना होगा आग से आग कभी नहीं बुझती, कीचड से कीचड कभी साफ नहीं होती और हिंसा से हिंसा कभी समाप्त नहीं होती। उपायों से हिंसा टले–पहला लक्ष्य होना चाहिए, शस्त्रों से टले तो हिंसा की भयावहता न हो इसका ख्याल सदैव रखना चाहिए।

हजारों वर्षों के इतिहास को अनुभव से देखना चाहिए। हिंसा से हिंसा लड़ रही है फिर भी अहिंसा का जागरण नहीं हो रहा; क्योंकि आग से आग बुझाने की चेष्टा की जा रही है। इसलिए यह आग और बढ़ती जा रही है। अगर मनुष्य हिंसा का मार्ग छोड दे और अहिंसा का मार्ग अपना ले तो अवश्य ही मानव–जाति के इतिहास का नया अध्याय प्रारंभ होगा जो श्रेष्ठतम होगा। हिंसा से तत्क्षण मन चाही वस्तु मिल जाये, पर वह स्थिर नहीं होती। हम हिंसा का बदला हिंसा से चुका कर मारने को तैयार है, पर हिंसा का बदला अहिंसा से चुका कर मरने को तैयार नहीं है। इसलिए हिंसा मिटती नहीं। इस हिंसा से बचने ओर अहिंसा पाने के लिए ध्यान रखें–

तन धन से सेवा करना और प्रिय वचन का बरसाना।
मन में राग-द्वेष न करके धर्म अहिंसा को पाना।।

हम हिंसा पर विजय पाने के लिए अहिंसा की ओर बढ़े। हमारे पास साधन होते तो हम तन से मन से, धन से सेवा को तत्पर हो जाये, प्रिय वचनों की बरसात करने लगे। मन में किसी भी प्रकार का राग–द्वेष न करें। देखिये– भीतरी अहिंसा का प्रभाव स्वतः ही बाहर दिखने लगेगा और एक पूर्ण अहिंसक के सम्मुख जन्मात हिंसक भी अपना बैर छोड़ने को तैयार हो जायेंगे। जैसे भगवान महावीर स्वामी के सम्मुख जन्म जात बैरी सर्प और नेवला किल–कोटी (खेलने) करने लगे, गाय और शेर एक घाट पर पानी पीने लगे; क्योंकि–

'अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैर त्याग'

जहाँ भीतर से अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, वहाँ जीव परस्पर एक–दूसरे के प्रति बैर का त्याग कर देते हैं; क्योंकि जहाँ शत्रु व मित्र के प्रति राग व द्वेष की भावना विदा हो जाती है, वही अपने–पराये का भेद मिट जाता है और परस्पर सौहार्द का जागरण होता है। उस सौहार्द को जाग्रत करने विरोधी स्वर भी गुञ्जे तो भी विनम्र बनकर सामने उपस्थित हो और यही विचारें– **'जो न हो मन को स्वीकार, करो नहीं ऐसा व्यवहार'।**

जो अपनी आत्मा के प्रतिकूल हो उसे दूसरे के साथ व्यवहार में न लाये, उससे बचें।

ग्रहस्थ–जीवन में इतना ही ध्यान रखें कि–स्वयं कभी भी अत्याचार न करे और अत्याचार करने वाले के सम्मुख मूक–दर्शक बन कर उसके अत्याचार को भी बढ़ावा न दें। अन्यथा आप भी पाप की स्वीकृति के कारण हिंसक हो जायेंगे। बचे और बचाये। कभी अहिंसक सद्– कृत्यों से मुख न छिपायें, तभी विरोधी हिंसा का त्याग होगा।

संकल्पी हिंसा : संकल्पपूर्वक मन–वचन–काय कृत–कारित–अनुमोदना, समरंभ–समारंभ–आरंभ से किसी भी जीव की हत्या करना संकल्पी हिंसा है। ग्रहस्थ जीवन में प्रथमतया संकल्पी हिंसा का पूर्णतया त्याग होता है। बाकी हिंसा परिस्थितियों के अनुसार विवेक के साथ कदाचित् हो भी जाये तो क्षम्य है। ग्रहस्थ जीवन में रहते हुए संकल्पी–हिंसा जघन्य कोटि का अपराध है। अहिंसा प्रेमियों को चाहिए कि वह अपनी सामर्थ के अनुसार हिंसा से बचे। चूकिं हम पूर्णतया हिंसा से नहीं बच सकते है तो जान–बूझकर हिसा न करें। अधिकाधिक अपने मन में अहिंसा लायें, उठने–बैठने, खाने–सोने व व्यापार करने में विवेक को सामने रखे। किसी का मन हमारे माध्यम से न दुखे, किसी के अकल्याण की भावना हमारे मन में न जाग्रत हो। हम तभी अपने मन में अहिंसा ला सकेंगे। इस दुनिया में रोज–रोज व्यक्तिगत लडाई नहीं होती, रोज–रोज पशु–पक्षी आक्रमण नहीं करते, रोज–रोज साँप–बिच्छू घर में नहीं आते, रोज–रोज चिडिया घर में घोंसले नहीं बनाती, चूहे बच्चे नहीं देते। ये कभी–कभी अपवाद स्वरूप होते हैं। कदाचित् हो भी जाये तो किसी भी रूप से अहिंसा का विस्तार दे, अपने भीतर करुणा, दया, मैत्री को जागृत करें।

जीवन को गतिशील करने में हम एक–दूसरे को फलता–फूलता देखने की चेष्टा करें। अपने जीवन में 'जीओ और जीने दो' का सूत्र पूर्णतया उतारें। हमारे भीतर ग्रहस्थ जीवन में हिंसा आ भी जाये तो उस माता के समान आये कि माँ बच्चे को मारती भी है तो बच्चा माँ की गोद में ही छिपकर रोता है। पीटने वाली माँ को बच्चा छोड़ना नहीं चाहता वह उसी माँ से लिपट जाता है। यहाँ माँ का मारना मारना नहीं–पुचकारना है, समझाना है। अहिंसा इसी प्रकार की हो। अहिंसा परमात्म तत्व की अनुभूति है। व्यक्ति के धर्माचरण की नींव है। अहिंसा पौरुषता, वीरता, वीतरागता की प्रतीक हैं। अहिंसा के अभाव में मनुष्य का जीवन शून्य हैं। अहिंसा को जानकर नहीं पाया जा सकता, जी कर अवश्य पाया जा सकता है। भयावह युग में करुणा की जाग्रति ही धर्म का शुभायोजन हैं। वैसे जैन कुल में उत्पन्न होने के सौभाग्य से 50 प्रतिशत साक्षात् त्रसहिंसा का निराकरण हो जाता है। समाज व संस्कार कायम रहे तो 25 प्रतिशत खान–पान की शुद्धता, सन्त समागम व धर्म–श्रद्धा से स्वतः ही बचा जा सकता है। 25 प्रतिशत तो भविष्य में सन्यास आ जाये तो स्वभावतः बचा जा सकता है। कुल मर्यादा का पालन अहिंसा के साथ होना ही धर्म की प्रतीति है, भविष्य की उज्ज्वलता अहिंसा में है–इसे स्वीकारें–भविष्य सुधारें।

"सत्य"

कटुता हिंसा वैर घृणा की जलती ना है जहाँ अगन,
हितमित प्रिय वाणी का कहना कहलाता है सत्य वचन।
भीतर बाहर एक वचन की बहती जहाँ सरिता हैं,
सुखमय पावन निर्मल जीवन उसका सदा ही बीता है।।20।।

अर्थ :

जहाँ कटुता, हिसा, वैर, घृणा की अग्नि न जलती हो ऐसी हित–मित–प्रियवाणी का कहना सत्य वचन कहलाता है। जिनके मुख व मन की एक सी सरिता बहती है। उसी का जीवन सुखमय, पावन व निर्मल व्यतीत होता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

अहिंसा का बोध जब हृदय में जाग्रत होता है, तब इंसान प्रहार से ही हिंसा का विसर्जन नहीं करता अपितु भीतर के सत्य उद्घाटित करने अपनी वाणी को परिवर्तित करता है। वाणी एक ऐसी शक्ति है, जो मनुष्य के मन का प्रतिनिधित्व करती हैं, तो दूसरी ओर वैचारिक तूफान मचा देती है। आदमी किसी से घृणा भी करता है तो वाणी के माध्यम से और प्रेम भी करता है तो वाणी के माध्यम से। अपना बनाने की प्रक्रिया भी वाणी है, तो दुश्मन तैयार करने का माध्यम भी वाणी है। मनुष्य वाणी के माध्यम से जिसे जैसा चाहे वैसा बनाने में सक्षम हो जाता है। इस दुनिया का अच्छा और बुरा इतिहास उठाकर देखेंगे तो महसूस होगा कि वह सब वाणी की करामात है, मन में उठती उत्ताल तंरगों को वचन बाहर फेंकता है। मन जब वाणी से भी तृप्त नहीं होता, तब तन का प्रयोग अच्छाई और बुराई के रूप में करता है।

इसलिए भगवान महावीर स्वामी ने अहिंसा के बाद सत्य का विवेचन किया और कहा– एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक के प्राणी को अपने समान मानकर सुरक्षा तो अवश्य करना, पर वाणी का ऐसा प्रहार भी न करना कि उनकी आत्मा बिंध जाये दु:खित–पीड़ित, संतप्त हो जायें अन्यथा वह वचन सत्य होने पर भी दूसरे को दु:खित करने में कारण होने से असत्य रूप होंगे। इसलिए कहा गया है कि–

कटुता हिंसा वैर घृणा की जलती ना है जहाँ अगन,
हित मित प्रियवाणी का कहना कहलाता है सत्य वचन।

जहाँ कटुता, हिंसा, वैर, घृणा ईर्ष्या, दम्भ, विद्वेष की अग्नि न जलती हो ऐसे हित मित प्रिय वाणी का कहना ही सत्य वचन है। इसलिए आचार्य उमा स्वामी ने कहा कि– "**असदमिधानंनृतम्**" प्रमाद के योग से असद् वचन कहना झूठ है। असद् का अर्थ है– हिंसाकारक। '**असदिति हिंसा करणम निधानं स्याद भाषणम्**' अर्थात् जिस वाणी से दूसरा किसी भी रूप में उजडता हो, मिटता हो, दुःखित होता हो संतापित होता है। ऐसे वचन का अभाव ही सत्य है। यद्यपि सत्य अनुभव का विषय है। शब्द का नही, सत्य का वास मन में होता है–मुख में नहीं। फिर भी सत्य से प्रारम्भिक परिचय कराने में सत्य को वाणी से जोडा गया है। वाणी ही दुनिया का व्यवहार बनाती है और मिटाती है। मीठी वाणी मिश्री घोल कर अपना दाम्पत्य जीवन बसाती है; तो कड़वी वाणी मात्र तलाक बोलकर सम्बन्ध विच्छेद भी करा देती है। इसलिए जैनत्व का बोध होने के उपरान्त बाहर हिंसा तो नहीं करेगा, पर वाणी का व्यवहार विश्वसनीय होगा। सत्य का सम्पूर्ण बाह्य सम्बन्ध वाणी से ही होता है।

यद्यपि वाणी द्वारा व्यक्त सत्य आंशिक होता है पूर्ण सत्य तो अनुभव गम्य होता है। फिर भी बाह्य रूप से वाणी के द्वारा सत्य के स्वरूप को नहीं समझा जायेगा तो जीवन में सत्य का आविर्भाव भी नही होगा इसलिए सत्यान्वेषी प्रारम्भिक रूप में दुनिया के व्यवहार को चलाने में वाणी का सहारा लेता है–जिसमें मैत्री हो, सौहार्द हो, करुणा हो, प्रेम हो, अपनत्व हो, दया हो तो वह सर्वप्रथम कटुवाणी बोलने का त्याग करता है। आखिर कटुवाणी क्या हैं ? क्यों असत्य है ? तो मन ही उत्तर देगा, तो दिल दुखाने में कारण है वही कटुवाणी है। जैसे काने को काना कहना, बहरे को बहरा कहना, अन्धे को अन्धा कहना। यद्यपि अन्धे को अन्धा कहना दृश्यात्मक सत्य अवश्य है, लेकिन उसे अन्धा कहने से उसके हृदय को दुख होगा। अतः उसे सम्मानजनक शब्द 'सूरदास' कह देते तो उसे उतना दुख नहीं होगा।

वाणी की मधुरता चेहरे की सौम्यता, मन की निष्कपटता हो तो क्रूर से क्रूर व्यक्ति भी अपना हो जाता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि दृश्यात्मक सत्य दृश्य हो तो भी परिस्थिति का–ख्याल करके ही वचन बोले, अन्यथा घर के रोगी की सेवा न–कर पाने पर कहीं उसी के सम्मुख आपके मुख से वाक्य निकल जाये कि कैसा मरीज है न मरता है न ठीक होता है, कहाँ तक इसका खर्चा वहन करें, मरे तो पिण्ड छूटे। तो सम्भव है यह वाणी उसके चुभ जाये और हार्ट अटैक से मर जायें। यह कटु वचन जहर है। आदमी चेहरे की सुन्दरता को नहीं, वाणी की सुन्दरता को देखता है। वाणी का सौन्दर्य नहीं है तो चेहरे का सौन्दर्य भी राक्षस के समान प्रतिभाषित होता है। इसलिए सर्वप्रथम सत्यवादी होने के लिए कटुवचन छुडाया है। दुनिया की ओर न देखकर अपने परिवार को देखे।

अगर परिवार में पति–पत्नी, भाई–बहन, देवरानी, जेठानी, सासबहु आपस में कटु शब्दों का उच्चारण करती हैं, व्यंग कसती हैं और कटुता के साथ यह कहती है कि– "झूठ थोड़े न बोल रही हूँ जो तू है वही तो उजागर कर रही हूँ।" यही वाक्य घर में आग लगाने तेल का काम कर जाती हैं। सत्य होते हुए भी कटु–वाणी परिवार को उजाड़ती हैं। कभी–कभी अभिप्राय की उज्ज्वलता के साथ वाणी की कर्कशता हो तो भी अशोभनीय हो जाती है। जैसे किसी संयुक्त परिवार में बहू का आगमन हुआ तो घर में नये कमरे का निर्माण किया गया तो एक ने कहा–हाँ भाई। श्मसान में मुर्दा आयेगा तो उसे जलाने लकडी का इन्तजाम तो करना ही पडेगा। दूसरे ने कहा– हाँ भाई ! फूल खिलेगा तो खुशबू मिलेगी ही। यद्यपि दोनों भाईयों के बोलने का भाव यही है कि बहू आने से कमरा तो बनाना पडेगा ही। पर एक ने मुर्दे की लकडी से बहू के इन्तजाम का उदाहरण देकर अशुभ वाणी निकाली। एक ने फूलों की खुशबू से शुभ सौहार्द पूर्ण उदाहरण दिया। बात वही है। कहने का तरीका भिन्न–भिन्न है।

घर मे अगर मॉ के भाई आये और बेटा कहे मामा जी आ गये तो प्रसन्नता से घर भर जायेगा और बेटा कहे मेरे बाप का साला आ गया तो उदासी छा जायेगी अर्थ एक है, पर वाणी की मधुरता नहीं है। इसलिए कभी भी काने को काना कहकर, नम्बर दो के व्यापारी को ठगी कहकर, अफसर को भ्रष्ट कहकर, चोर को चोर कहकर, व्यभिचारी को व्यभिचारी कहकर अपनी जबान गन्दी मत करो। वह अपने पाप का फल भोगेगा; क्यों कटु शब्द कहकर दुश्मनी की दीवार खडी करें। प्रेम से वाणी बोले हो सकता है उसका दिल पिघल जाये और जीवन बदल जाये। दुनिया में जितने भी महान् पुरुष हुए है, उन्होंने महानता वाणी की मृदुता से पायी है, कटुता से नहीं। हॉ मन में हित की भावना लिए कोई माता–पिता, गुरु, सन्त, सम्राट, शिक्षक, सज्जन पुरुष कठोर वचन कहें उसे सहन करने की क्षमता भीतर उत्पन्न करें ताकि जीवन में सुधार आये। सत्य व मिष्ठ शब्द उच्चारण करते समय इतना ही सोचें–

जिहवाया खण्डनं नास्ति तालुको नैव भिद्यते।
अक्षरस्य क्षयो नास्ति वचने का दरिद्रता।।

सत्य व मिष्ठ बोलने से जीभ के टुकडे नहीं हो जाते और न तालु में छिद्र ही होता है तथा मिष्ठ भाषण से अक्षरो का नाश भी नहीं होता, तो फिर क्यों अच्छे वचन कहने में दरिद्रता करें ? इसलिए मनुष्य भीतर से सत्यवादी होने के लिए मधुरवाणी कहें, यथार्थ का निरुपण करें ताकि वचन सिद्धि हो सकें; क्योंकि सत्यवादी मनुष्य ही वचन की सिद्धि पाता है। उसके मुख से निकला वचन व्यर्थ नहीं जाता। सत्यवादी का मुख दिव्य प्रकाशवान होता है। असत्यवादी का मुख हमेशा म्लान होता है; क्योंकि कटुता, हिंसा, वैर,

घृणा के शब्द उसे असत्य के गर्त में ढकेल देते हैं। उसके असत्य का गढ़ढ़ा घाव की भाँति हो जाता है। वह समय के साथ विस्मरण से ठीक तो हो जाता है, पर अपना गहरा दाग छोड़ जाता है। आज परिस्थितियों ने सत्य पर प्राणघातक हमला किया है। धर्म को, सदाचरण को, पूजा–पाठ को, साधना को, तप को, त्याग को विलासी धर्म–ध्वंसी लोगों ने ढोंग सिद्ध किया है और कई विलासिता के साधन देकर सत्य से मुख मोड़ने की चेष्टा की है; जो है–प्रत्यक्ष है, भविष्य किसने देखा–वर्तमान को भोग, तो यही सुनने में सत्य है। भविष्य के लिए असत्य की वाणी ने लोगों को धर्म से तोड़ा है। विलासी जीवों की कटुता भरी वाणी ने अज्ञानी जीवों को धर्म से विमुख किया है, पर सत्य सत्य ही रहेगा। असत्य का कोहरा सत्य के सूरज को ज्यादा देर तक ढ़क नहीं सकता। विलासिता ज्यादा समय तक भगवत्ता की हत्या नहीं कर सकती। भीतर का बोध निश्चित सत्य को पाने के लिए प्रेरित करेगा। तब वह इंसान पुनः क्षमा की वाणी निकालकर सत्य को पाने सत्संग की ओर दौडेगा; क्योंकि धर्म की जड़ सत्य पर आधारित है। सत्य हिंसा–रहित होता है। कटुता के साथ हिंसक वाणी भी न हों; क्योंकि मनुष्य के भीतर कटुता होती है तो अक्सर अपमान सूचक शब्दों का प्रयोग करता है, क्रोध आता है तब हिंसक वचनों का प्रयोग करता है और कहता है कि– मुझसे झंझट मोल ली तो जिन्दा गडवा दूँगा, खाल खींच लूँगा या पैदा होते ही मर जाता तो कितना अच्छा होता।

भारत को पाकिस्तान पर एक परमाणु बम डालकर तबाह कर देना चाहिए ताकि रोज–रोज की झंझट खत्म हो, तेरी मृत्यु का दिन ही मेरे लिए त्यौहार होगा। इस प्रकार की भावना या वाणी का कहना सत्य नहीं असत्य की कोटि में है; क्योंकि हिंसा–युक्त वचन मानसिक क्रूरता के द्योतक होते हैं। इस संसार में बुरा से बुरा व्यक्ति भी अपने लिए बुरा–शब्द नहीं सुनना चाहता। वह अपने लिए अच्छा ही सम्बोधन सुनना चाहता है। जैसे बेईमान से बेईमान व्यक्ति भी अपना साथी ईमानदार चाहता है। सत्यवादी को ऐसे सत्य वचन भी नहीं बोलने चाहिए, जिससे आपसी दुश्मनी का विस्तार हो। इसलिए सत्यवादी चुगलखोरी से बचता है। इधर की बात उधर करके दो मित्रों को लड़ाने वाला जीव न तो स्वयं सुखी रहता है न दूसरे को सुखी रहने देता है; क्योंकि कहावत है कि–दूसरे का मुँह काला करने से पहले अपना हाथ काला अवश्य ही करना पड़ता है। दूसरे का सुख छिनने के लिए वाणी का इस्तेमाल करने वाला स्वयं सुख से वंचित रहता है। आज के इंसान की जीभ अत्याधिक लम्बी हो गयी है और वह लम्बाई निरन्तर बढती जा रही है। आज के युग में पशुओं की लम्बी जीभ से खतरा नहीं है; क्योंकि वह मूक है। पर इंसान की जीभ जब से लम्बी हुई है, तब से परिवार, समाज, देश–राष्ट्र की शान्ति भंग हो गई है। महाकाली की तरह लम्बी जीभ लपलपाते हुए रक्त पिपासु इंसान, कलह–प्रिय इंसान,

वेघ्न सन्तोषी इन्सान मित्रता के दूध में दुश्मनी की खटास डालने वाला इंसान कब कहाँ म्या नया तूफान खड़ा कर दे, कब महाभारत उपस्थित कर दे–कहा नहीं जा सकता। अक्सर परिवार समाज व देश मे कोई न कोई इंसान वाणी का दुरुपयोग कर विध्वंस की लीला रचने वाला अवश्य होता है। पर सत्यवादी कभी भी कटुता, हिंसा, वैर, घृणा को बढ़ाने वाले वचन किसी भी परिस्थिति में नहीं कहता; क्योंकि वह जानता है कि–ये सारे वचन बाहर से अर्जित हैं, झूठ हैं। सत्य हमारी आत्मा का स्वभाव है। असत्य आज नहीं तो कल अवश्य छूटेगा। सत्य तो शाश्वत है। मनुष्य झूठ के साथ समझौता करके आत्म साक्षातकार की सम्पदा सत्य को नष्ट कर देता है। आज के युग में मनुष्य के भीतर झूठ रग–रग में समा चुका है। मनुष्य का मुख इतना झूठा हो चुका है कि कदाचित् सत्य भी बोला जाये तो झूठ ही निकलता है। झूठ का बहुमत सत्य को भी झूठ बना देता है। ये अवश्य ख्याल रखे कि–सत्य–भाषी जीवन भर सत्यबान रह सकता है, पर असत्य भाषी दिनभर भी असत्यवान नहीं रह सकता, क्योकि शरीर की प्रत्येक क्रिया सत्य पर आधारित है। असत्य भाषी को जीवन से सत्य की परिधि मे आना ही पड़ता है। जैसे–जल कितना भी गर्म हो जाये पर उसे अपने स्वभाव को सीमारेखा के भीतर आना ही पड़ता है।, शीतल होना ही पडता है।

इसलिए सत्यवादी कटुता, हिंसा, बैर, घृणा, ईर्ष्या, द्वेष, कलह, विध्वंस दंभ आदि की वाणी से बचे कदाचित् वाणी के प्रयोग का अवसर आये तो–

"हितमित प्रियवाणी का कहना कहलाता है सत्य वचन"

हितमित, प्रियवाणी का सहारा लें। हितमित प्रिय का अर्थ है **हित**–कल्याणकारी हो, **मित**–सत्य हो व **प्रिय**–अल्प हो दूसरे के मन को भाने वाला हो–वही हित मित प्रिय वाणी है। हित–मित–प्रियवचन सत्य के शाश्वत पहरेदार है; क्योंकि जो कम बोलेगा वह यथार्थ बोलेगा। झूठ हजार हो पर एक सत्य सभी को पराजित कर देगा। हजारों तारों का प्रकाश एक सूरज की रोशनी में गायब हो जाते हैं। इसलिए– चिन्तकों ने कहा है– **'सत्यं ब्रुयात् प्रियं ब्रुयात् न ब्रुयात सत्यमृप्रियम।'** सत्य बोला, प्रिय बोलो किन्तु अप्रिय सत्य कभी न बोलो। सत्य भी अगर अप्रिय है वह मन को गहरी ठेस पहुँचाने वाला होता है किसी को आप भोजन के लिए बुलाये, सभी चीजें परोस दें और कह दे कि 'जो भूखमरे हो वे खाना प्रारम्भ करें। यद्यपि कथन सत्य है–खाना तो भूखा ही खाता है पर वाणी की अप्रियता उसे गहरी चोट पहुँचायेगी। यह स्थिति ऐसी ही होगी कि कोई स्वादिष्ट खीर बनाये और फिर उसमें थूक दें। वह थूक युक्त खीर खाने योग्य नहीं रहेगी। उसी प्रकार अप्रियता युक्त वाणी भी स्वीकारने योग्य नहीं है। आप महसूस करे कि जिसकी वाणी मीठी है उसके सभी मित्र होते हैं। वाणी की अप्रियता दुश्मनों को खड़ा करती है। जहाँ अप्रियता होती है, वहाँ

कथनी और करनी का भेद होता है।

मनुष्य की दोहरी नीति आचरण और उच्चारण में खाई पैदा करती है; जहाँ दोनों में अन्तर होता है वही असत्य उजागर होता है। इसलिए सत्य का मूल तथ्य ही प्रिय वाणी है। प्रियवाणी का प्रभाव अगर देखना है तो डॉक्टर और मरीज को देखिए–एक डॉक्टर के पास गहरे मर्ज से भरा रोगी जाता है। डॉक्टर उसे प्रेम से कहेगा कि आपकी बिमारी तो कुछ भी नहीं है बस आप ये दो गोली लीजिए आपका रोग कुछ दिनों में रफूचक्कर हो जायेगा। यह प्रिय मुस्कान युक्तवाणी शोक से संतप्त प्राणी को धैर्य, साहस और आशा प्रदान कर देते हैं और प्रियवचन के कारण मरीज भी स्वस्थ होने की आशा से भर जाता है। इसलिए सत्य को पाने अप्रिय वचन को छोड देना चाहिए कहा है –

प्रियवचन है औषधि अप्रिय वचन है तीर।
श्रवण द्वार से संचरै साले सकल शरीर।।

अप्रिय वचन से पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक वातावरण दुषित होता है। कान से प्रवेश किया अप्रिय शब्द तीर की भाँति चुभता है और सारे शरीर को शिथिल, रुग्णकर देता है। बाण से घायल हुआ व्यक्ति स्वस्थ हो सकता है परन्तु वाणी से घायल हुआ व्यक्ति जिन्दगी भर कष्ट पाता है। इसलिए हितमित प्रिय वचन कहना ही सत्य को पाने की प्रारम्भिक साधना है।

सच्चेण जगे होदि पयाणं अण्णो गुणो जदिविसे णात्थि
जादे संजदो यमोसे व होदि पुरिसेसु तणल दुओ।।

यदि मनुष्य में अन्य गुण न हो तब भी वह एक सत्य के कारण जग में प्रामाणिक माना जाता है। यदि संयमी मनुष्य भी असत्य भाषण करता है तो सज्जनों के मध्य मे तृण से भी तुच्छ माना जाता है। इस ससार में जीने के लिए बोलना आवश्यक है अभिप्रायानुसार सत्य ही होते हैं, उसे शास्त्रकारों ने दस रूपों में विभक्त किया है। जीवकाण्ड में कहा भी है–

जणवद्-सम्मदि-उवणा णामे रूवे पडुच्च ववहारे
संभावणे य भावे उवभाए दस विहं सच्चं। ।। जी. का.।।

जनपद सत्य, सम्मति सत्य, स्थापना सत्य, नाम सत्य, रूप सत्य, प्रतीति सत्य, व्यवहार सत्य, संभावना सत्य और उपमा सत्य व भाव सत्य ये दस प्रकार के सत्य हैं। ये सत्य संसार में प्रचालित लोक व्यवहार की मान्यता को लिए हुए है। इस व्यवहार के बिना संसार नहीं चलाया जा सकता, वाणी से सम्बन्ध नहीं बनाया जा सकता है। ये सभी अभिप्रायानुसार सत्य हैं –

1. जनपद सत्य : जिस देश के जो रहवासी है, वहाँ की जो भाषा प्रचलित है उसे उसी के अनुसार वस्तु को भिन्न–भिन्न नामों से पुकारना जनपद सत्य है। मध्यप्रदेश में चावल कहना, बागड प्रान्त में चोखा कहना, तमिल प्रान्त में सादम कहना।

2. सम्मति सत्य : बहुत जनों की सम्मति से, जो साधारण में रूढ हो जाये वह सम्मति सत्य हैं। जैसे स्वर्ग की स्त्रियों को देवी कहना, सामान्य स्त्रियों को भी देवी कहना। और यह सत्य अक्सर अभिप्राय परिस्थिति अनुसार स्वीकार्य होता है। जैसे वर्तमान में किसी भी व्यक्ति को श्रावक शिरोमणि की उपाधि से अलंकृत किया जाता है। यद्यपि श्रावक शिरोमणि मात्र ग्यारह प्रतिमाधारी एलक–क्षुल्लक होते हैं; क्योंकि श्रावकोत्तम पद पर अधिष्ठित है, पर बहुमान्य होने से किसी व्यक्ति को पद देकर उसे उस रूप में समझना पुकारना सम्मति सत्य है।

3. स्थापना सत्य : भिन्न वस्तु में भिन्न वस्तु की हू.ब.हू. या काल्पनिक आकृति को तदनुरूप स्वीकार करना स्थापना सत्य है। बाहुबली की प्रतिमा को बाहुबली भगवान कहना–स्थापना की कल्पना मे ही इष्ट–अनिष्ट की भावना होती है। स्थापना के अभाव में वस्तु अस्तित्व को दिखाने का माध्यम ही समाप्त हो जायेगा। इसलिए पाषाण चित्र आदि वस्तु की अभिव्यक्ति के माध्यम होते हैं। इसलिए वे स्थापन सत्य के अन्तर्गत आते हैं।

4. नाम सत्य : किसी अपेक्षा के बिना मात्र परिचय व्यवहार चलाने के लिए गुण, जाति, धर्म क्रिया रहित उसे उस नाम से पुकारना नाम सत्य है। जैसे–भिक्षा माँगते हुए व्यक्ति को अमीर चन्द कहना, भोग–विलास में डूबे हुए व्यक्ति का नाम अरहन्त रख देना–गुणापेक्षया देखा जाये तो सरासर अरहन्त नाम झूठ है, पर व्यवहाराक्षेया पहचान होने से पूर्णत. नाम सत्य है। इसलिए सत्य अभिप्राय में गर्भित हैं।

5. रूपसत्य : काले–सफेद रंग की प्रधानता से वस्तु का कथन करना रूप सत्य है। गौरे व्यक्ति को भूरिया कहना, काले को कालिया कहना।

6. प्रतीति सत्य : किसी विविक्षित पदार्थ की अपेक्षा से छोटे–बड़े का भेद करना, किसी दूसरे पदार्थ के स्वरूप का कथन करना प्रतीति सत्य है। जैसे संकेत से सार्थक छोटा है, पपीते से कद्दू बड़ा छोटा है आदि।

7. व्यवहार सत्य : नयो की प्रधानता से वस्तु का कथन करना व्यवहार सत्य है। कोई व्यक्ति अटैची लेकर घर से बाहर निकला–उससे पूछा–कहाँ जा रहे हो ? तो वह कहता है कि– सम्मेद शिखर जी जा रहा हूँ। यद्यपि उस समय वह स्टेशन जा रहा है पर लक्ष्य सम्मेदशिखर का होने से उसने सम्मेद शिखर कहा। यह व्यवहार सत्य है। दृश्य रूप से झूठ होने पर भी भावरूप से सत्य है। दुनिया का व्यवहार इसी के माध्यम से चलता है।

8. सम्भावना सत्य : किसी बात की सम्भावना को देखते हुए समय से पहले उस बात

को कहना सम्भावना सत्य है। मैं कल तक दिल्ली पहुँच जाऊँगा, हो सकता है बिमार पड जाये– न जा पाये–दिल्ली कर्फ्यू लग जाये–जाने की मनाही हो, फिर भी जाने की पूरी सम्भावना होवे। वे न जाते हुए भी हॉ रूप में कहना सम्भावना सत्य है।

9. भाव सत्य : आगम के आधार पर विधि निषेध के अनुसार अतीन्द्रिय पदार्थों में संकल्पित परिणामों को भाव सत्य कहते हैं। जैसे– पानी को छानने से उसके 36450 जीव सुरक्षित अलग हो जाते है। सौफ डालने से मर्यादा बढ़ जाती है। छिन्न–भिन्न फल प्राशुक है। यद्यपि सूक्ष्म जीवों को हम अपनी इन्द्रियों से नहीं देख सकते, पर आगम का कथन होने से सत्य है। इसलिए इसे आज्ञा सत्य भी कहा है। जिनेन्द्र देव की वाणी के अनुसार स्वर्ग–नरक, जम्बूद्वीप, आकृतिम चैत्य चैत्यालयों को मानना भाव सत्य है। इसे नकारना असत्य की स्वीकृति है यानि तीर्थकर की वाणी की अवहेलना है।

10. उपमा सत्य : प्रसिद्ध सादृश्य पदार्थ की तुलना करना–यह पदार्थ तो उसके जैसा है। ऐसी मान्यता का होना, वचन कहना उपमा सत्य है। इसके होंठ कमल जैसे है; इसकी नाक तोते जैसी है, इसकी आवाज कौवे जैसी है। यह इंसान भामाशाह जैसा है, क्योंकि दान बहुत देता है यह सत्य है, पर भामाशाह ही मान लेना असत्य है। उपमा आरोपित होते ही वे गुण भीतर से प्रगट होते है। कृत्य–दृश्य तदानुरूप हो सकते हैं, पर चेतना वही नहीं हो सकती। इसलिए यह उपमा सत्य है।

ये दस प्रकार के सत्य सासारिक व्यवहार चलाने के लिए है, पर यथार्थ–सत्य मन–वचन–काय से परे अतिन्द्रिय आत्मा में विद्यमान है। . . .

जब इंसान वाणी की चपलता से मुक्त हो जाता है तब व्यवहार से परे ही आध्यात्म की गहराई में प्रवेश करता है। तब हृदय का स्पन्दन मात्र सत्य का अनुभव करता है; क्योंकि सत्य अभिव्यक्ति का विषय नहीं, अनुभूति का विषय है। वाणी तो अन्तर्मन की गहन–गूढ अनुभूतियों को व्यक्त करने का सरल, सहज, सुगम, स्पष्ट साधन है। वाणी की उपलब्धि है। यद्यपि वचन की प्राप्ति दो इन्द्रिय से हो चुकी है, पर वचन की अभिव्यक्ति शब्दात्मक न होने से दो इन्द्रिय से पॉच इन्द्रिय तक के पशु–पक्षी दुखी हैं। इसलिए विचार करें–मनुष्य के पास वाणी नहीं होती तो उसकी क्या दशा होती ? वह भी अन्य पशु–पक्षियों की भॉति छटपटाता और घुट–घुट कर मर जाता। तीर्यञ्च की अभिव्यक्ति का माध्यम ऑसू हैं, पूँछ है या उसकी किलकारी है। पर मनुष्य के पास–सुख–दुख की अभिव्यक्ति का माध्यम ऑसू व मुस्कान के साथ वाणी है। वाणी के माध्यम से वह मन को हल्का कर सकता है, प्रसन्न रह सकता है, सन्तोष की सॉंस ले सकता है। इसलिए अभिव्यक्ति का माध्यम मधुर–श्रेष्ठ–सुन्दर होता है, तो अनुभूति की गहराई और भी श्रेष्ठ हो जाती है फिर

उसका जीवन सुखमय होता है।

भीतर बाहर एक वचन की बहती जहाँ सरिता है।
सुखमय निर्मल पावन जीवन उसका सदा ही बीता है।।

जहाँ मन और मुख, हृदय और होंठ, जीवन और जिह्वा एक हो जाते है। जहाँ धारा सत्य के सागर की ओर चलने को तैयार हो जाती है, तो दोनों तटों को समान रूप से स्पर्शित करती हुई चलती है। उसका जीवन सदा ही सुखमय, निर्मल, पावन ही व्यतीत होता है। अतीत के पन्नों को खोलकर देखेंगे तो महसूस होगा कि केवल नाम से जैन होने का कितना बड़ा विश्वास था कि अगर सम्राट के सम्मुख एक जैन अपना वचन उच्चार दे वह पत्थर की लकीर मानी जाती थी, उसकी गवाही के बाद अन्य की गवाही नहीं मानी जाती थी, क्योंकि जैन कुल में उत्पन्न होने वाला हर इंसान पानी छान कर पीता था तो वाणी भी छनकर निकलती थी। लोगों का विश्वास था, जो जैन लोटा–छन्ना–डोर लेकर यात्रा पर चलता है और पानी के जीवों को मारने से डरता है–भला वह किसी प्राणी को कैसे कष्ट देने की बात सोच सकता है। अतः यह पूर्ण विश्वसनीय हैं, पर आज भीतर की सत्यता पलायन कर गई है, वाणी का विश्वास खो गया है, सत्य मन व मुख से कोसों दूर चला गया है। आज का मनुष्य अपने थोडे से लाभ के लिए दूसरों को लाखों की हानि पहुँचाने में असत्य का सहारा लेने मे जरा भी सकोच नहीं करता। अदालत में, व्यापार में, ठेकेदारी मे, ऑफिसों में चन्द चाँदी के टुकडों के लिए असत्य के परिधान पहनने में जरा भी संकोच नहीं करता। बस मन में एक ही बात है– **"अपना काम बनता भाड़ में जाये जनता"** उसे अपनी चिन्ता है, दूसरों की नही। यही दुर्भावना ही उससे हिंसा कराती है, झूठ कहलवाती है, बैर कराती है, घृणा के बीज बोती है, मन की निर्मलता नष्ट करती है और भीतर भय को उत्पन्न करके उसके सुख को छीन लेती हैं।

मनुष्य को मन से यह धारणा निकाल देनी चाहिए कि सत्य बोलने का अर्थ है–अनेक आपत्तियों को निमन्त्रण देना। आज के जमाने मे जो चतुर होते है, झूठ बोलने में माहिर होते हैं वे बच जाते हैं और जो सत्यवादी होते है वे फँस जाते हैं और हँसी के पात्र होते हैं बडे सत्यवादी हरिश्चन्द्र बन रहे हैं। कभी–कभी यही व्यवहारोचित कमजोरियाँ मनुष्य को असत्य की ओर ढकेलती है। परएक बार आप अपने मन से पूँछे–झूठ ने आपको क्या दिया ? शान्ति। नहीं झूठ बोलने के उपरान्त आप शान्ति से नहीं रह सकते अपितु भय की निरन्तर वृद्धि होती है। मन बेचैन रहता है और कहता है कि मेरा असत्य किसी माध्यम से उजागर न हो जायें और वह बेचैनी निरन्तर शालती रहती है। यह बात सत्य है कि आज के युग में हम पूर्णतया सत्य नहीं कह सकते पर आंशिक सत्य तो अवश्य ही बोले जिसमें आत्मोत्थान हो, जन कल्याण हो। अपने जीवन में कभी भी दूसरा मिटे–पिटे–लुटे–दुःख भोगे। इस भावना से कभी भी व्यवहारोचित् झूठ को नहीं स्वीकरना

चाहिए, क्योंकि जैसे हमें सुरक्षा पसन्द है वैसे उसे भी सुरक्षा पसन्द है। यही सोचे झूठ की उम्र लम्बी नहीं होती झूठ गैस की आग है जो जलती भी तुरन्त है और समाप्त भी तुरन्त हो जाती है। सत्य भट्टी की आग है जो पकड़ती देर से है पर उम्र लम्बी होती है, स्थिरता है आज नहीं तो कल अवश्य ही सत्य उजागर होगा और दुनिया को देखे मन्थन करे तो पारिवारिक, सामाजिक, राजनैतिक सभी समस्याओं के समाधान में कहीं न कहीं सत्य की भूमिका अवश्य ही रहती है। इसलिए तत्क्षण झूठ की विजय देख धैर्य धारें। ये न सोचे कि झूठ बिना जीवन नही, यह सोचे "**सत्यमेव जयते**" सत्य आज नहीं तो कल अवश्य ही विजित होगा। सत्य की प्राप्ति ही दुनियॉ की समस्त सम्पदा की उपलब्धि है। सत्य का प्रयोग करने के लिए महत्वाकांक्षी नहीं यथार्थवादी बनना पडेगा। सत्य दिखने से छोटा सूर्य लगता है पर उसकी छॅटा पूर्ण प्रभावान होती है। असत्य देखने में बडा खजूर की भॉति होता है पर छाया से रहित होता है। इसलिए संसार के दुःखों से पार होने के लिए सत्य का सहारा आवश्यक है। मानव जीवन की शोभा ही सत्य है। आचार्यों ने कहा है–

सत्येन कीर्तिरमला विमला च लक्ष्मी
विद्या विलास सुयशो भुवने प्रसिद्धि
सम्प्राप्यते बुध जनैर्जनमान्यत च
तस्मात्सदान्तर वचः प्रहरन्तु सन्तः

सत्य से निर्मल कीर्ति उज्जवल लक्ष्मी विद्या विलास सुयश संसार में प्रसिद्धि और विद्वतजनों के द्वारा मान्यता प्राप्त होती है। अतः सद्पुरुष सदा असत्य वचन का त्याग करते हैं। सत्य आत्मोन्नति की परम खुराक है। सत्य जीवन का श्रृंगार है, सत्य वक्ता देव के समान पूज्य, गुरु के समान मान्य व दानी के समान यशस्वी होता है।

अत· जैनत्व का बोध करने के लिए सत्य को व्यावहारिक रूप से स्वीकार करें। कटुता, हिंसा, बैर, घृणा के वचन को नहीं हितमितप्रिय सौहार्द पूर्ण वाणी को स्वीकार करें; क्योंकि इसी वाणी के द्वारा अतीत को वर्तमान मे उपस्थित किया जाता है। अतीत के महान पुरुषों का आदर्श जीवन व उपदेश आज हम वाणी से ही अभिव्यक्त करते हैं। व्यक्ति की उम्र छोटी हो सकती है, पर उसकी वाणी की नहीं।

अतः अपनी वाणी को सत्यानुरूप ही चलाये ताकि तुम्हारी सम्पदाको देखकर किसी के मन में कटुता का जन्म न हों। सम्मान को देखकर हिंसा के भाव न जागे, सहयोग को देखकर कोई बैरी न हो जाये, सुरक्षा देखकर कोई घृणा न कर बैठे। झूठ से अर्जित सम्पदा, सम्मान, सहयोग, सुरक्षा आदि नश्वर है और कटुता, हिंसा, बैर, घृणा को जन्म देने वाली वाणी भी असत्य है। अत· अशाश्वत व असत्य से बचे सत्य में रचे पचे यही कल्याण का मार्ग है।

"अस्तेय"

जिस पर हो अधिकार तुम्हारा उसको लेना कहां उचित,
न्याय नीति बिन बेइमानी से परधन लेना है अनुचित।
भर न सको गर घाव किसी का मत खोदो फिर उसका वृण,
भय देकर स्तेन कर्मकर न लेना धन वैभव स्वर्ण।।21।।

अर्थ :

जिस धन पर स्वयं का अधिकार हो उस धन को लेना उचित है, जिस धन पर अधिकार न हो उस धन को न्याय नीति के बिना लेना अनुचित है। अगर हम किसी के घाव को नहीं भर सकते तो उसके घाव को खोदने का कोई अधिकार नहीं है अर्थात् हम किसी का भला नही कर सकते दान नहीं कर सकते तो उसके धन की चोरी करने का भी कोई अधिकार नही है, इसलिए किसी को भयभीत करके या चोरी करके धन, वैभव, स्वर्ण आदि नहीं लेना चाहिए।

विवेक विकासिनी विवेचन :

'चोरी' शब्द से कोई भी व्यक्ति अपरिचित नहीं है; क्योंकि संसार में रहने वाला प्रत्येक इंसान किसी न किसी रूप में चोर अवश्य है। कोई व्यवहारिक दृष्टि से चोर है तो कोई आध्यात्मिक दृष्टि से चोर है। व्यावहारिक दृष्टि से चोर किसी का माल हडपने वाला है तो आध्यात्मिक दृष्टि से चोर वह है जो अपना नहीं है, उसे अपना मानता हो। शरीर भी मेरा नहीं है फिर भी शरीर को अपना मानना चोरी है शरीर के प्रति अपनत्व की भावना छूट जाती है तब साधक के साधना काल में भले ही हाथ–पॉव काट दिया जाये, सिर पर जलती हुई सिगड़ी भी रख दी जाये, गले में सर्प भी डाल दिया जाये, सियार भी भक्षण कर ले, पत्थर भी बरसाये लेकिन मैं आत्म स्वभाव से कभी स्खलित नहीं होऊँगा यह विचार ही साधना है अस्तेय है अगर उस वक्त शरीर को अपना माना तो मुक्ति छूट जाती है शरीर को अपना मानना अध्यात्मिक चोरी है। चोरी मात्र पदार्थ की, धन की ही नहीं होती व्यक्तित्व की भी चोरी होती है। आचरण की भी होती हैं, काव्य की भी चोरी होती है, संगीत की भी चोरी होती है। इन सब का अनुगामी होना अच्छाई–सच्चाई की स्वीकृति है। पर अपना न हो फिर भी अपना कहना चोरी है, पर यहाँ तो जैनत्व के बोध के अन्तर्गत सुक्ष्म चोरी की नहीं स्थूल चोरी का त्याग अपेक्षित है।

यद्यपि जैन व्यसन मुक्त होता है फिर भी व्यसन मुक्ति के उपरान्त भी चोरी कई रूपों में प्रगट हो जाती है, उसका भी त्याग आवश्यक है। चोरी एक ऐसी प्रवृत्ति है जो बाहर से तो छूट जाती है पर भीतर से भाव बहुत मुश्किल से छूटते है। बाहर तो कानून का भय है, इज्जत प्यारी है कोई देखरहा है–यह भाव विद्यमान है। पर भीतर की चोरी कर्मबन्ध में कारण है; जो महा अनर्थकारी है। इसलिए कहा है–

''जिस पर हो अधिकार तुम्हारा उसको लेना कहां उचित''

अधिकार रहित वस्तु को अपना कहना ही चोरी है। अर्थात् दूसरे के स्वामित्व वाली वस्तु को हड़प लेना, उठा लेना, अपने अधिकार में कर लेना, छीन लेना, लूट लेना, धोखा देकर अपना बना लेना चोरी है। इसलिए आचार्य उमास्वामी देव ने कहा है– **''अदत्ता दानं स्तेयं''** बिना दी हुई वस्तु का ग्रहण करना चोरी है। सूत्र बहुत छोटा है पर गूढ रहस्य को लिए हुए है। ग्रहस्थ–जीवन में इंसान रहता है। वह घर में, बाजार में, दुकान में, ऑफिस मे, खेत में, सर्विस में, धर्मशाला में, मन्दिर आदि में सभी जगह जाता है और वहॉ कई चीजों का उपयोग कर लेता है तो क्या वह चोरी कहलायेगा ? साधु भी कई स्थानों पर जाते है वहाँ की सामग्री का उपयोग करते है तो क्या उन्हें चोरी का दोष लगेगा ? अगर लगेगा तो फिर किसी भी वस्तु का उपयोग करना कठिन हो जायेगा।

ग्रहस्थों को तो पग–पग पर कई चीजे रखनी व उठानी पड़ती है। कहॉ–कहाँ कब–कब किस–किस से अनुमति लेता रहेगा। यदि घर का मालिक, वस्तु का मालिक कहीं चला गया है तो कैसे अनुमति लेगा। मुनि, त्यागी, मन्दिर या धर्मशाला आदि मे रहते हैं तो कई वस्तु का उपयोग करते है तो कहा जाता है–व्यवहारिक जीवन में चोरी का पाप तब लगता है जब कोई परिवार का सदस्य, समाज का सदस्य, शासन का सदस्य किसी भी वस्तु के लिए मना कर दिया फिर भी उपयोग कर रहे है तो चोरी का दोष लगेगा। परिवार, समाज या साधर्मी की असहमति होने पर किसी भी वस्तु का उपयोग नहीं करेगा। परिवार, समाज में प्रायः वस्तु के उपयोग का अधिकार पारिवारिक सामाजिक अधिकार सहज होता है। नकारात्मक दृष्टि अपनाने पर छिपकर नजर बचाकर सामग्री का उपयोग कर जैसे का तैसा रख देने पर, सबूत नष्ट कर देने पर या अनुपस्थिति में परोक्ष भावों से जो भयात्मक छिपकर किया गया उपयोग ही चोरी है। बाकी तो व्यवहारिक विश्वासगत व्यवहार है। चोरी भयंकर अपराध है, जो निरन्तर मनुष्य को गर्त की ओर ले जाती है। इसलिए कहा है–

"न्याय नीति बिन बेईमानी से पर धन लेना है अनुचित।"

न्याय नीति के बिना बेईमानी से दबाव डालकर अधिकार का दुरुपयोग करके पर की

सम्पदा लेना चोरी है दान भी अगर दबाव डालकर, भय दिखाकर लिया जाता है तो वह भी चोरी है; क्योंकि इच्छा नहीं है पर लिहाज वशात दे रहा है मन में दुख है या डर है तो वह चोरी है। चोरी दुनिया में कई कारणों से होती है। उसमें पहला कारण है–

तृष्णा - (लोभ) : जब मनुष्य के भीतर लोभ का भूत सवार होता है तब वह न्याय–अन्याय, बेईमानी, लूट, अपहरण, हिंसा आदि कुछ भी नहीं–विचारता मात्र उसका मन वस्तु संग्रह कर स्वयं को आनन्दित करना चाहता है। पराये धन पर गुलछर्रे उड़ाने की गलत आदत उसे और भी आगे बढ़ने को प्रेरित करती है और जिसे पर–धन पर सुख भोगने की आदत पड़ जाती है वह अकर्मण्य हो जाता है। उसे पुरुषार्थ की कमाई अल्प दिखती है। वह फिर पर–धन हरण के अनेक उपायों का सहारा लेता है। व्यापार में नम्बर दो करने में संकोच नहीं करता असली में नकली वस्तु मिलाने में संकोच नहीं करता। विद्युत चोरी, जल चोरी, टैक्स चोरी बिना टिकट यात्रा अन्डरवर्ल्ड सम्बन्ध का मात्र कारण है परिग्रह, संग्रहवृत्ति जो चोरी की प्रेरणा दे रही है। यद्यपि यह कार्य बुद्धिगत है पर विवेक छुडा कर धन देता है। इसलिए चोरी है।

वर्तमान में चारों ओर चोरी की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। सभी चिल्लाते तो हैं चोरी नहीं होनी चाहिए, भ्रष्टाचार नहीं पनपना चाहिए फिर भी सब जैसा का तैसा है। स्वाभाविक है–भ्रष्टाचार बढ़ेगा, चोरियाँ बढ़ेगी, संग्रहवृत्ति के साथ छुपाने की प्रवृत्ति भी बढेगी। अपराधों का मूल बीज तो शोषण है जिसके कारण बेईमान पनप रहे हैं। शोषण की जन्मदात्री तृष्णा ही है। आदमी आवश्यकता से अधिक सामग्री चाहता है। दिन–रात उसे ही जुटाने में लगा रहता है और संचय के लिए हिंसक होने से भी नहीं चूकता। चोरी, भ्रष्टाचार नीचे से ऊपर नहीं बढ़ता ऊपर से नीचे की ओर बढ़ता है। भ्रष्टाचार धुँआ नहीं है जो गरीबी की अंगीठी से ऊपर उठता हो, भ्रष्टाचार वह झरना है जो ऊपर से नीचे की ओर बहता है। सत्ता के ठेकेदार ही भ्रष्टाचार में लिप्त रहेंगे तो प्रजा–जन तो अपनी जीविका चलाने के लिए बेईमानी को अवश्य ही स्वीकारेंगे।

जैन शासन में देश की अर्थव्यवस्था को सुचारु रूप से चलाने के लिए बड़े व्यवस्थित सूत्र दिये हैं जिसमें तुम्हारा पेट भी भर जाये, परिवार का भी पालन–पोषण हो जाये, देश का नुकसान न हो जिसका नाम दिया–

'विरुद्ध राज्यातिक्रम' राज्य के विरुद्ध मत चलो। जिसमें चोरी करना, उसके लिए प्रेरित करना, उपाय बतलाना, चोरी का माल खरीदना, माप–तोल में न्यूनाधिक करना सब सावधानियाँ हैं ताकि चोरी से बचा जा सकें। आजकल क्यों चोरियाँ बढ़ी हैं ? मोटर–कार,

सामग्री की गाड़ी की गाड़ी चोरी हो जाती है; क्योंकि सस्ती सामग्री बेच करके दुनिया में अपनी इज्जत बनाना चाहते हैं एश की जिन्दगी जीना चाहते है। चोर भी दूसरे की जरूरत की सामग्री को चुराकर बेच देते हैं। दोनों को धन मनमुताबिक प्राप्त हो गया, पर एक का परिवार उजड़ गया– चोरी विभिन्न रूपों में विभक्त होती है। तृष्णा ने तो किडनेपिंग (अपहरण) भी बढ़ा दिया।

आज के युग में चोर लुटेरे भी मसीहा बन गये। कारण–अमीर का धन चुराकर गरीब का पेट भरना उनका पेशा हो गया। कृत्य गलत होते हुए भी सही माना जा रहा है। यद्यपि भाव सही है, पर भावों के प्रदर्शन का तरीका चोरी–रूप है। जैनत्व का बोध होने के उपरान्त एकदम वर्ज्य कृत्य है। चोरी अकेली नहीं आती इसके आगे–पीछे हिंसा, असत्य, लोभ, क्रोध, मत्सर, पाप, निर्दयता सभी दुर्गुण होते हैं। चोरी से शीघ्र ही मनुष्य की सज्जनता नष्ट हो जाती है, हित कार्यों से विश्वास नष्ट हो जाता है। जीवन पर्यन्त मित्र तथा बन्धु आदि के साथ विपत्ति भोगनी पड़ती है और गुण रूपी फूलों से गुंफित कीर्ति रूपी हरी–भरी माला दावानल से झुलसी लता के समान हो जाती है। अत. चोरी से उपार्जित धन की अपेक्षा दीर्घकाल तक रहने वाली दरिद्रता ही मनुष्यों के लिए श्रेयस्कर है। विष सहित दूध पीने की अपेक्षा छाछ पीना ही अच्छा है।

चोरी की आदत पनपने का दूसरा कारण है –

'कुसंस्कार'- चोरी का जन्म सूर्य की भॉति एक दम नहीं होता, चन्द्रमा की भाँति क्रमशः बढ़ता है। छोटा बच्चा दूसरों की संगत (शोहबत) से या अपने माता–पिता को देखकर पहले पैसा चुराता है जब इसकी इस आदत पर उसके घर वाले कोई रोक–टोक नहीं करते तो उसका साहस बढ जाता है; क्योंकि घर में शाबासी मिली, जन्मान्तरों के संस्कार वर्तमान की निर्भयता और भी निर्लज्ज कर देती है। फलतः वह बड़ी–बडी चोरी करने लग जाता है। उम्र बढ़ने के साथ–साथ उसकी चोरी की आदत भी पक्की और साहसिक हो जाती है। पकड़ा भी जाये तो और मजबूत होकर सावधानी पूर्वक चोरी करता है। धीरे–धीरे चोरी की कला में माहिर (निपुण) हो जाता है।

आजकल दुकानों में बच्चों को आठ–दस वर्ष की उम्र में बैठा देते हैं। वह दुकान में पैसा देखता है और काम के साथ धन भी अपनी जेब में रख लेता है। धीरे–धीरे निर्भयता आती–जाती है पैसे से जेब भरता जाता है। वह नादान बालक पैसे के दम पर व्यसनी हो जाता है। चोरी के विष का पौधा बचपन में लगा, नादान अवस्था में लगा, पर उसके धर्म, संस्कृति, संस्कार, आत्मीयता, सामाजिकता को लील गया। आज उसने घर से

चुराया, कल समाज का चुराया, परसों राष्ट्र का, चोरी रूप बुद्धि–बढ़ती जाती है, बेईमानी भी बढ़ती जाती है। इस बढ़ते विष–वृक्ष पर पापियों का निर्देशन बड़ा कार्य करता है। आचार्य पुष्प दन्त सागर जी महाराज के साथ नडियाद पंच कल्याणक में गया। वहाँ चोरी की वारदात बढ़ने लगी, पता लगाया गया तो वहाँ चोरी का माध्यम बालक है। जब पुरुष या स्त्री स्नान को जाते तो बाहर अपने बच्चों को वस्त्र, अटैची, पैसा, सामग्री दे जाते–ध्यान रखना मैं स्नान करके आता हूँ। जो शातिर दिमाग के बालक होते वे उन बच्चों के बीच में बैठ जाते और अपने पास से रुपया या सिक्का गिरा देते हैं–बच्चों से कहते तेरा पैसा तो गिर गया वह उठाने आगे बढ़ता और वे शातिर बच्चे अटैची–कपड़े लेकर फरार हो जाते। बच्चा चिल्लाता है इतने में चोर बच्चा भीड़ में मिल जाता है बालक पर पडे चोरी के संस्कार गहरे होते हैं। कोमल मति बालक को कुसंस्कारों का भान (पता) नहीं होता, उन्हें अपने हिताहित का दूरगामी दुष्परिणामों का बोध नहीं होता। इसलिए चोरी का जन्म छोटे कृत्यों से होता है, पर जब बढ़ जाता है तो महा भयंकर होता है। बच्चे को बचाकर रखना ही अचौर्य का सरलतम कार्य है।

चोरी का तीसरा कारण है –

धन का अभावः घर मे धन का अभाव परिवार का भरण–पोषण कैसे किया जाये ? तो मन में भाव आ जाते हैं कि– दुनिया में कौन चोर नहीं हैं ? कोई भी दूध का धुला नहीं है। व्यापारी हो, बढ़ई हो, सुनार हो, सर्विस वाला हो, अधिकारी हो या साहूकार हो नेता हो सभी तो भगवान के विपरीत चलते हैं कोई छोटी चोरी करता है, कोई बड़ी चोरी करता है यह भाव उसके मन में घर कर जाते है और दुर्गुण का आगमन हो जाता है। आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव ग्रन्थ में कहा है –

गुणा गौणत्व मायान्ति याति विद्या विडम्बनाम्।
चौर्यवाडकीर्तये पुंसा शिरस्याधते पदम्।।

चोरी करने से मनुष्य के गुण गौण हो जाते हैं उसकी विद्या निकम्मी हो जाती हैं और अकीर्तियाँ उनके पुरुषों के शिर पर अपना पैर जमा देती हैं। चोरी का दुर्गुण मनुष्य के भीतर छुपे दया, क्षमा, परोपकार, शिक्षा, धर्म सभी क्रियायों को नष्ट कर देती हैं। मात्र बदनामी ही शेष नहीं रहती है। व्यक्ति के पास धन का अभाव हो और भीतर का अज्ञान जागृत हो जाये तो चोरी सहज ही बढ़ जाती है। निर्धनों को धन न दिये जाने से दरिद्रता बहुत बढ़ गई है और दरिद्रता के बहुत बढ़ जाने से चोरी बहुत बढ़ गई। यदि सम्पन्न लोग अपना कर्त्तव्य समझकर निर्धनों को गले से लगा ले और उन्हें यथोचित् सहयोग दे

तो उन्हें चोरी करने को मजबूर ही नहीं होना पड़ेगा। चिन्तकों ने तो यहाँ तक कह दिया कि पेट भरने के अलावा और जो भी संग्रह है सब चोरी है। कारण–अति संग्रह दूसरे को वस्तु से वंचित रखता है और अभावग्रस्त इंसान चोरी की ओर अग्रसर हो जाता है। सुना है– एक व्यक्ति ने चोरी की। चोर को सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया गया। चोर जब सम्राट के सम्मुख उपस्थित हुआ–चोर ने अपनी बात कही राजन ! मैं जन्म से चोर नहीं हूँ। मुझे चोरी के लिए मजबूर होना पडा। पत्नी बीमार पड गई, बेटे को चोट लग गई, सेठ मेरा माल ले गया, पैसा कम मिला; जो मिला वह इलाज में खर्च हो गया। पत्नी की बिमारी बढती गई, बेटा असक्त हो गया। पैसा कही से मिला नहीं, मजबूरन मुझे परिवार चलाने, इलाज कराने–चोरी का सहारा लेना पड़ा। अगर मुझे सेठ जी से कुछ मिल जाता तो शायद मुझसे यह अपराध नहीं होता। राजा ने चोर की बात बडे ध्यान से सुनी और कहा– भाई ! जो कुछ भी हो लेकिन तुम चोरी के माल सहित पकडे गये हो तो सजा तो अवश्य मिलेगी। तुम्हें और सेठ जी दोनों को छः–छः मास कारावास की सजा दी जाती हैं।

लोगों ने कहा– यह न्याय संगत बात नहीं है चोर ने चोरी की सजा साहूकार को ? राजा ने कहा– हाँ यह सत्य है–चोर ने चोरी की पर चोरी के लिए मजबूर किसने किया ? इस सेठ ने अधिक धन एक स्थान पर एकत्र कर लिया। सारी सम्पत्ति तुम्हारे पास रहेगी तो चोरी ही होगी और क्या होगा ? आदमी कितने दिन तक शान्त रहेगा। चोरी करने उसे मजबूर होना पड़ेगा ? आजकल चोरियाँ बढ़ी हैं। आदमी दूसरे को मस्ती में रहता देख स्वयं भी मस्ती चाहता है। कृत्रिम स्टैन्डर्ड बढ़ाने (बनावटी स्तर) के लिए अपनी आवश्यकतायें बहुत बढ़ा लेता है। अधिक खर्चीले जीवन के अभ्यस्त लोग उस खर्चे की पूर्ति नैतिक धन्धे से नहीं कर पाते। तब वे चोरी, बेईमानी, अनीति, नम्बर दो, हेरा–फेरी, माफियागिरी करने लग जाते हैं। कई लोग झूठी वाह–वाही लूटने के लिए सजावट, गाजे–बाजे, शादी बुफेडीनर, तामझॉम में लाखों रुपये फूँक देते हैं। 20 रुपये में आदमी का पेट भर जाये पर 1000 की एक थाली होगी मात्र यशाकांक्षा। यह धन कहॉ से आयेगा मात्र शोषण से, मिथ्या आकर्षण में फँसकर धन को लूटाना भी चोरी करने हेतु स्वयं को प्रेरित करना है दानी बनकर नाम कमाने की इच्छा भी चोरी को जन्म देता है। यह कभी नहीं सोचना चाहिए कि धन खूब कमा लो, दान देकर पापों का प्रायश्चित् कर लेगें, नहीं कीचड़ में पांव डालकर धोना विद्वत्ता नहीं–अविवेकीपना है। स्वच्छता पर चलना ही विद्वता है। कई बार लोग अपनी पार्टी का नेता आने पर परिचय का उपयोग कर शासन की

दुर्बलता के कारण सात्विक व पवित्र धंधा नहीं करना चाहते हैं। वे रिश्वत देकर अधिकारियों की जेब गरम करके सरकार की आँखों में धूल झोंक कर येन–केन–प्रकारेण चोरी करते हैं। जो व्यर्थ है। पाप बढ़ाने में, विश्वास घटाने में कारण है।

आज के युग मे लोगों के मन में एक ही धारणा बैठ गई है कि–"जेब हो गरम–तो फिर काहे की शरम" सारे पाप तो पैसे से ढ़क जाते हैं। कहा भी है ना–

"यस्यास्ति वित्तं स नरः कुलीनः स पण्डितः स श्रुतवान गुणज्ञः।
स एवं वक्ता स च दर्शनीयः, सर्वे गुणाः काञ्चन माश्रयन्ति।।

जिसके पास धन है वह नर भी कुलीन है, उस कुल में कोई दोष भी हो तो लोग दोषों की तरफ निगाह न करके उसे बडा लोक व्यवहारी समझते हैं। किसी भी कार्य को करने से पहले उससे सलाह अवश्य ली जाती है। क्योकि वह धनी है, जो धनी है वह पण्डित है, श्रुतज्ञ है गुणवान है। उसे लोग चतुर और ज्ञानी समझते है, उसका दर्शन मिल जाये तो लोग अपने आपको भाग्यवान भी समझते हैं।

यदि वार्तालाप का मौका धनपति से मिल जाये तो–कहना ही क्या ? हरेक आदमी अपना सारे कला–कौशल को धनपति के सामने प्रगट करना चाहता है। ठीक इसके विपरीत अगर किसी व्यक्ति के पास धन नहीं रहा, नष्ट हो गया तो फिर उसे कोई पूछता भी नहीं है, चाहे उसके पास कितने भी गुण क्यों न हों ? ऐसी परिस्थिति में दरिद्रता की बात ही क्या ? लोग दरिद्रता की अपेक्षा मरना अच्छा समझते हैं। धन युग की शक्ति है। धन को ग्यारहवाँ प्राण भी इसलिए माना है, पर अगर धन चोरी करते हैं तो किसी के प्राणों का ही हरण किया है। यही समझना चाहिए। आचार्य पुष्पदन्त सागर जी महाराज कहते हैं कि– जब मनुष्य का परिणाम विक्षिप्त हो जाता है तब चोरी का जन्म होता है। जब तक आदमी अस्वस्थ होता है तब तक परायी चीज पाने का भाव बना रहता है। वह दूसरे के माल को अपना माल मानता है, तभी तो वह चोरी करने का साहस करता है। चोर के मन में दूसरा अपना दिखाई नहीं देता उसे तो मात्र दूसरे का माल अपना दिखाई देता है। अगर दूसरा भी अपना नजर आने लगे तो दया का भाव, प्रेम का भाव, मैत्री का भाव जन्म लेना शुरु हो जाता है।

चोरी से बचने के लिए मनुष्य को इतना ध्यान रखना चाहिए कि पराई वस्तु को ललचाई निगाहों से न देखना। आज्ञा से सामग्री उपयोग भी कर लिया तो आसक्त न हों। आसक्त हो जाये तो सामग्री को कभी भी बिना आज्ञा के नहीं लेना चाहिए। अपनी मर्जी से दे भी तो पूरी ग्रहण नहीं करना चाहिए। प्रयोजन न होते हुए भी प्रयोजन बताते हुए

सामग्री ग्रहण करना, गृह–स्वामी, दुकान मालिक या अन्य जगह मनाई (मना) होने पर प्रवेश नहीं करना। जितने से प्रयोजन सिद्ध हो उतना ही ग्रहण करना। भोजन की शुद्धि बनाये रखना व्यवहारिक रूप से ग्रहस्थ–जीवन यापन के लिए किन्हीं अंशों में चोरी कर्म से जुड़ता है फिर धनेषणा के कारण भोग–विलास आदि वृत्ति के कारण अनर्गल मार्गों को अपनाकर चोरी आदि कार्य करता है। कभी कम तोलना, कभी कम भाव से लेना, ज्यादा में देना, तस्करी, दलाली, कर चोरी (टैक्स), झूठ–फरेब ये सभी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं, जो चोरी है। इसलिए मनुष्य को चोरी से बचने के लिए फिजूल–खर्ची से बचें, आवश्यकताओं की वृद्धि न करें। प्रतिष्ठा प्रदर्शन, प्रतिस्पर्धा के पीछे न भागे, दूसरे को देखकर उनके समान आगे बढने की चेष्टा न करें। बस यही सोचे–

भर न सको गर घाव किसी का मत खोदो फिर उसका वृण।
भयदेकर स्तेन कर्म कर न लेना धन वैभव स्वर्ण।।

अगर हम किसी को सम्पन्न नहीं कर सकते तो अपने तन–मन–धन, बुद्धि, अधिकार, बल पर उसे उजाडने की चेष्टा न करें। अगर सम्पन्न लोग अपना कर्त्तव्य समझ कर निर्धनों को गले लगा ले तो शायद चोरी का अवसर ही न रहे। कभी भी भय देकर चोरी न करें ताकि जीवन में धर्म आ सके और धर्म का विस्तार हो सके। जो समस्त संसार में निन्दनीय है। दुःख रूप सन्ताप का कारण है, विषम नरक का मार्ग है। बन्धुजनों के वियोग का हेतु है, पाप रूपी वृक्ष का केन्द्र है। ऐसे चोरी–पाप से अवश्य बचना चाहिए। व्यवहारिक चोरी से बचें। चोरी से शक्ति नहीं मात्र भय और बेचैनी ही शेष रहती है। जीवन को समझें, अचौर्य धर्म को स्वीकारें। अचौर्य व्रत के प्रभाव से मनुष्य निधियों का स्वामी, सम्पूर्ण निर्मल ज्ञान का धारी और उज्ज्वल कीर्ति को प्राप्त करता है। शास्त्रकारों ने कहा है–

स्तेयं पाप शतप्रदं धन हरं लज्जा करं दुष्करं
कीर्ति स्फातिहरं कुलक्षय करं निर्वाण सम्पद्धरम
ये भव्याः परिवर्जयन्ति नितरां सन्तोष लक्ष्मीरता
स्ते प्राप्य त्रिदशादि सौरव्य मतुलं नित्यं लभन्ते शिवम्।।

सन्तोष रूपी लक्ष्मी में प्रीति करने वाले जो भव्य पुरुष सैकड़ों कष्ट देने वाली, धन हरण करने वाली लज्जित करने वाली, कष्ट में डालने वाली, कीर्ति के विस्तार को हरने वाली, कुल का क्षय करने वाली और मोक्षरूपी सम्पदा को हरने वाली चोरी का अत्यन्त त्याग करते हैं। वे देवों के अनुपम सुख प्राप्त कर वैराग्य धारकर मोक्ष सुख को पाते हैं।

"ब्रह्मचर्य"

स्वर्ग वधु सम पर नारी लख जो न होता कामासक्त।
माता भगिनी पुत्री मानकर पर नारी से होय विरक्त।।
ब्रह्मचर्य जो पालन करता शक्ति मिलती दिव्य विराट।
आत्म ओज का उद्‌भव होता बन जाता है शिव सम्राट।।22।।

अर्थ :

स्वर्ग वधु के समान अर्थात् देवांगना के समान सुन्दर स्त्री को देखकर भी जो कामासक्त नहीं होता उसे माता बहन या पुत्री मानकर विरक्त होता है। तभी ब्रह्मचर्य होता है ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने से दिव्य शक्ति प्राप्त होती है आत्म ओज का जन्म होता है और यह जीव भविष्य में मोक्षगामी होता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

इन्द्रियों की समस्त शक्ति आत्ममयी होकर सत्य की साधना में तल्लीन हो जाती है। उच्च लक्ष्य की प्राप्ति के प्रति जहाँ समर्पण का जन्म होता है, जहाँ कामना वासना का दैहिक मानसिक विसर्जन हो जाता है, वहाँ ब्रह्मचर्य का जागरण होता है। जहाँ ब्रह्मचर्य का जागरण होता है वही मनुष्य के भीतर देवत्व जाग्रत हो जाता है। इसलिए इस दुनिया में आचरण की पूजा की जाती है–रूप–सौन्दर्य–धन–बुद्धि–परिचय की नहीं। मनुष्य के पास अहिंसा सत्य, अस्तेय, अपरिग्रह का गुण बाहर से प्रगट भी हो जाये और अब्रह्म का सेवन कर रहा हो तो सारे गुण एक क्षण में ही विलीन हो जाते हैं। भारतीय संस्कृति में ब्रह्मचारियों की पूजा है, व्याभिचारियों की नहीं। इसलिए भारतीय जीवन पद्धति में चार आश्रय बताये हैं। उसमें ग्रहस्थाश्रम को छोडकर बाकी तीन आश्रमों में ब्रह्मचर्य की ही महत्ता प्रगट की गई है। मानव–जीवन की सुदृढ नींव ब्रह्मचर्याश्रम पर ही टिकाई जाती है, ताकि ब्रह्मचर्य की ऊर्जा व्यक्तित्व की आभा को निखार सके। यद्यपि संसार में प्रत्येक जीव का जन्म काम से हुआ है फिर भी काम से विरक्ति की शिक्षा दी जाती है; क्योंकि काम संसार है ? काम का विसर्जन सन्यास है और इसका परिणाम संसार से मुक्ति है। इसलिए कहा गया है–

स्वर्ग वधु सम पर नारी लख जो न होता कामासक्त
माता भगिनी पुत्री मानकर पर नारी से हो विरक्त

स्वर्ग की अप्सरा के समान सुन्दर नारी को देखकर कामासक्त न होना, मन में काम विचारों का जाग्रत न होना ही पूर्ण ब्रह्मचर्य है। मनुष्य सौन्दर्य का दीवाना है, वह सुन्दरता को देखकर शीघ्र ही आकर्षित हो जाता है। सौन्दर्य का आकर्षण उसे पतंगें की भाँति दीवाना बना देता है और सौन्दर्य की अग्नि में स्वयं के जीवन को झोंक देता है। जब तक इंसान को आत्मिक सौन्दर्य का वास्तविक बोध नहीं होगा, तब तक वह कृत्रिम व नश्वर सौन्दर्य के पीछे भागता रहेगा। लेकिन उसे ध्यान रखना चाहिए कि साँप सुन्दर व चमकीली चमडी से मढ़ा हुआ जहर का पिण्ड है। अगर मात्र उसे सुन्दर समझकर पकड़ा जायेगा तो मात्र मृत्यु ही निकट आयेगी। इसी प्रकार स्त्री के बाह्य अंग–रूप का आकर्षण उसके सौन्दर्य वेश–भूषा की तड़क–भड़क, चंचल निगाहें, खिले ओठ, मटकती चाल, वाणी का माधुर्य देखकर, कामान्ध होकर उसके साथ सम्बन्ध बनाना जीते जी मृत्यु को आमंत्रित करना है। इज्जत गँवाना है। दूसरे के जीवन के साथ खिलवाड़ करना है। अपने चरित्र का पतन करना है। ध्यान रखना एक दर्जी तुम्हें बाहर की वेश–भूषा देकर सौन्दर्य निखार सकता है। एक ब्यूटीशियन तुम्हारे गाल, बाल, ओंठ को साज–सँवार कर तुम्हें बाहर से सुन्दर बना सकती है, लेकिन बाहर का सौन्दर्य तुम्हारे मन–तन को छछुंदर बना देगा। बाहर से सुन्दर भीतर से छछुंदर का अर्थ इतना ही है कि अब तुम्हारे भीतर दिखाने का भाव आ गया। अब तुम्हारा मन छछुन्दर के समान सदा चलायमान रहेगा। इसलिए जैन शासन में जब ग्रहस्थ से देव–पूजा कराई जाती है तब चौथे नम्बर के द्रव्य "पुष्प" चढ़ाते समय बोला जाता है–ओं ह्रीं आदिनाथ जिनेन्द्राय काम बाण विध्वंसनाय पुष्पं निरवपामिति स्वाहा" मैं अपने काम के विनाश के लिए पुष्प समर्पित करता हूँ। पुष्प क्यों लिया है ? काम विनाश की भावना के साथ उसका एक कारण है, पुष्प प्रतीक है सौन्दर्य का तो एक ग्रहस्थ पूजा करते वक्त पुष्प पकड कर कहा रहा है कि–देख इस पुष्प को "पुष्प कोमल है, नाजुक है, नश्वर है क्षण स्थाई है। सवेरे डाल पर खिला शाम को मुरझा जाता है, इसका कोई अस्तित्व नहीं है। बस उसी प्रकार दुनियाँ में स्त्री का जो सौन्दर्य है व नाजुक है नश्वर है आज रूप सौन्दर्य का निखार है कल तक यह ढ़ल जायेगा। इसके पीछे मत भाग यह तो मात्र हाड–मांस का पिंजरा है ऊपर से चमक दमक है भीतर सडान्ध से भरा है। इसकी वास्तविकता को समझ और प्रभु के सम्मुख पुष्प समर्पित करते समय सौन्दर्य से विरक्त हो और अपनी कामना का त्याग कर ताकि तेरे भीतर के काम का काम तमाम हो सके, लेकिन मनुष्य नकली सौन्दर्य के पीछे अपना धन, धर्म, शक्ति, स्वास्थ्य, मर्यादा, समय, संस्कार तक समाप्त कर लेता है इसलिए कहा है–स्वर्ग वधु सम अप्सरा भी तुम्हें दिखे तो तुम अपने से बड़ी को माता, छोटी को पुत्री समकक्ष को बहन मानो और भीतर उठती काम तरंगों को विराम दो। काम का विसर्जन ही भगवान का

सृजन है, ब्रह्मचर्य संसार समुद्र से तारने वाला है, देवों के द्वारा भी पूजित है।

ब्रह्मचर्य मुक्ति का मार्ग है। अक्षुण्ण पुण्य को उत्पन्न करने वाला है। धीर मनुष्यों के द्वारा सेवित है, रत्नत्रय धारण का उत्तम पात्र हैं। इस लोक और परलोक में सुख प्रदान करने वाला पवित्र धर्म है इसके पालन से मनुष्य दुःखरूपी समुद्र को सहज ही पार कर जाता है। जिसमें ब्रह्मचर्य की भावना प्रगट होती है। उसके आत्म–तेज के सम्मुख सभी का हृदय सहज ही परिवर्तित हो जाता है और जहाँ मनुष्य के चित्त के भीतर सांसारिक अभिप्साएँ होती है तो मनुष्य की विषय वासनायें पंचेन्द्रिय के माध्यम से जाग्रत होकर अभिव्यक्त होती है और मनुष्य को अपनी गिरफ्त में लेकर मन व इन्द्रियों को विकल व चंचल बनाये रखती हैं। जब मनुष्य का मन विकृत हो जाता है तब इन्द्रिय और भी सक्रिय हो जाती है और बाहरी वैभव आकर्षण में फंसकर अपनी स्वाभाविक आत्म–शक्ति को विस्मृत कर इन्द्रियासक्ति में उलझकर एक–एक इन्द्रियों की दासता करना प्रारम्भ कर देता है, क्योंकि अब्रह्म मात्र स्पर्श इन्द्रिय से नहीं अन्य चारों इन्द्रियों से भी होता है।

ब्रह्मचर्य के व्यवहारिक रूप में दो भेद करने चाहिए–एक व्यवहारिक ब्रह्मचर्य दूसरा आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य। व्यवहारिक ब्रह्मचर्य का अर्थ है–स्त्री आदि पर के शरीर से राग को छोडकर कामेच्छा को विराम देना। व्यवहारिक ब्रह्मचर्य को प्राप्त हुए बिना कोई भी इंसान आध्यात्मिक ब्रह्मचर्य को उपलब्ध नही हो सकता इसलिए ग्रहस्थों को पहले व्यवहारिक ब्रहमचर्य की साधना कराई जाती है। जिन्होंने विकारों पर विजय प्राप्त नहीं की है, वे स्त्री या पुरुष एक दूसरे को देखकर आकर्षित होते हैं। इस आकर्षण का असर केवल शरीर पर नहीं मन और आत्मा पर भी होता है। मन में विकार भावों का उदय होते ही शरीर की रासायनिक प्रक्रिया बदल जाती है। इसलिए काम सेवन के विचार मात्र से शरीर की स्थिति ठीक नहीं रहती तब आत्मा के स्वरूप में स्थिर रहना महा कठिन कार्य है। इसलिए ब्रह्मचर्य व्रत धारण करने के इच्छुक स्त्री–पुरुष को सबसे पहले परस्पर के राग–भाव को हटाना चाहिए; क्योंकि जीव के साथ आहार, भय, मैथुन, परिग्रह ये चार संज्ञा अनादिकाल से हैं, जो जीव को प्रमाद वशात् अपनी गिरफ्त में लेकर सतत् धर्म च्युत करने को उद्वेलित करते रहते हैं। जिससे आत्मा में विकारी परिणाम जन्मते रहते हैं।

अतः ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए सर्वप्रथम विचारों पर विजय पाना अनिवार्य है। मन में यह विचार नहीं करना चाहिए कि जिस प्रकार मनुष्य को जीने के लिए भोजन–पानी आदि आवश्यक है वैसे ही मकान आदि आवश्यक हैं स्वाभाविक भय पैदा हो जाता है, उसी प्रकार स्वाभाविक रूप से काम सेवन भी अनिवार्य है। जैसे भूख लगी तो भोजन कर उसे शान्त किया जाता है, इसी प्रकार मन में काम जागृत हुआ तो उसके शमन हेतु काम–सेवन कर लिया जाये तो वह शान्त हो जायेगा पर सदैव यह ध्यान रखें

कि चारों संज्ञाओं में आहार संज्ञा और मैथुन संज्ञा में जमीन–आसमान का अन्तर है। शरीर को जीवित रखने के लिए आहार (भोजन) आवश्यक है, पर शरीर को जीवित रखने के लिए काम सेवन आवश्यक नहीं। भोजन तो साधना की वृद्धि में कारण होता है। मैथुन विराधना की वृद्धि में कारण है। मानसिक विकार जब तीव्र हो जाता है तभी शरीर तृप्ति के लिए आगे बढ़ता है। मानसिक विचारों पर विजय प्राप्त किये बिना ब्रह्मचर्य का पालन नहीं किया जा सकता। जिसका मन वश में है, जो जितेन्द्रिय है उसके शरीर में कोई विकार उत्पन्न नहीं होगा। शरीर से सबल व हष्ट–पुष्ट होकर भी ब्रह्मचर्य का पालन कर सकेगा और जिसका मन वश में नहीं है–वह वृद्ध, रोगी निर्बल या लकवा ग्रस्त भी होगा तो वह ब्रह्मचर्य भंग कियेबिना नहीं रह पायेगा। इसलिए मन को जीतने से ही मनुष्य जितेन्द्रिय बनता है। कहा भी है–

ज्ञान वैराग्य रज्जुभ्यां नित्य मुत्पथ वर्तिनः।
जित चित्तेन शक्यन्ते धतुनिन्द्रिय वाजिनः।।

इन्द्रिय रूपी घोडे बड़े चन्चल हैं। ये हमेशा ही उन्मार्ग की ओर जाना चाहते हैं, उन्हें और कोई वश में नहीं कर सकता। एक वही मनुष्य इसको वश मे कर सकता है जिसने अपने मन को जीत लिया है। उसी के पास ज्ञान और वैराग्य रूपी दो रस्सियाँ ऐसी हैं कि उनका उपयोग करके यदि चाहे तो उन्मार्ग से उसे ठीक रास्ते पर ला सकते हैं।

इसलिए ब्रह्मचर्य की प्राप्ति के लिए सबसे पहले मानसिक संकल्प को सुधारना आवश्यक है। हृदय से काम सम्बन्धी विचार निकल जाता है तो कोई भी स्त्री भोग की वस्तु नहीं–माता, बहन, पुत्री की पवित्र भावना स्वयमेव उभर आती है। जिसके भीतर ऐसी पवित्र भावना का जागरण नहीं होता। वह निरन्तर विक्षिप्त सा होता हुआ सदा शोक–संतप्त रहता है। कामी पुरुषों की स्थिति का वर्णन करते हुए शास्त्रों में कहा है कि– संकल्प रूपी अण्डे से उत्पन्न राग–द्वेष रूपी दो जीभों वाले उन्मत्ता रूपी दाढ़ों के धारक, लज्जा रूपी काँचुली को छोडने वाले, विषय–रूपी बिल में रहने वाले, दर्प–रूपी दाढ़ से भयंकर और रति–रूप मुख के धारक, काम–रूपी सर्प से डँसे हुए मनुष्य के मन मे निरन्तर मन में बसी हुई स्त्री का मिलन कैसे हो, इसकी चिन्ता बनी रहती है। इसके लिए सैकडों उपाय करता हुआ मनुष्य अपना काम–धाम–भोजन–व्यापार–शिक्षा, वैभव–प्रतिष्ठा सभी को छोड़ देता है। निरन्तर उसे देखने की तमन्ना में उसकी तस्वीर लिए घूमता–फिरता है। एकान्त में बैठा उसका स्मरण करता हुआ दीर्घ श्वास लेता स्त्री विषयक विचारों में खोया–खोया रहता है। चिन्ता में अपने शरीर को रोगी बना लेता है। शरीर को शिथिल बनाकर सदा संतापित रहता है। सभी सुस्वादु भोजन भी उसे स्त्री के अभाव में बे–स्वाद लगता है।

सदा मूर्च्छित–सा रहता है, पागलपन सवार हो जाता है। परिवार–समाज से दुश्मनी लेने को तैयार हो जाता है। न मिलने पर मरने में भी संकोच नहीं करता है। वह अपने धन का नाश, बल की हानि, चरित्र का लोप, कुल में दाग आदि दोषों को देखता हुआ भी अन्धा बन जाता है। इसलिए 'ज्ञानार्णव' ग्रन्थ में लिखा है–

जाननमपि न जानाति पश्यमपि न पश्यति
लोकः कामानलज्वालाकलापकवली कृतः

कामाग्नि की ज्वाला से सताये हुए लोग जानते हुए भी नहीं जानते, देखते हुएभी नहीं देखते। कामी अपनी चाही हुई स्त्री को न पाकर–जहर खाकर, आग में जल कर, ट्रेन से कटकर, मंजिलों (भवनों) से कूदकर, शस्त्रों के आघात से अपने जीवन की इह–लीला समाप्त कर देता है। ब्रह्मचर्य का पालन करने के लिए इन्द्रिय लम्पटता को भी बाहर से त्यागना चाहिए।

स्पर्श इन्द्रिय : मनुष्य का शरीर अपूर्व ऊर्जा का स्रोत है, उस ऊर्जा को वह अगर साधना में लगाता है तो भगवान का जन्म होता है। वासना में लगता है तो मात्र सन्तान का जन्म होता है। वर्तमान में मनुष्य स्पर्श इन्द्रिय का दास होकर अपनी संग्रहीत ऊर्जा को विषय वासनाओं में नष्ट करता है और दीन–हीन परावलम्बी बनकर स्वयं को लुटा देता है। शरीर का स्पर्श क्षण–भगुर सुख देता है, पर मूढ़ मनुष्य विषय–भोगें की ओर दौड लगाकर अपने उत्कृष्ट एवं बहुमूल्य देव–दुर्लभ मानव जीवन को पशु जीवन से भी गया–बीता बना लेता है। शरीर का सुख कोमल वस्त्र, शय्या, स्त्री सम्पर्क नही है। मनुष्य को यह नहीं सोचना चाहिए कि अभी ऊर्जा है, जवानी है। तीव्रता के साथ इसका भोग कर लो, बाद में छोड देंगे। यह भयंकर भूल है। अग्नि में ईधन को डालने से बुझती नहीं प्रत्युत बढती जाती है।

काम विकार का आवेग वास्तव में उस पागल कुत्ते के समान है; जो पालने वाले को ही काट खाता है। ऐसे काम रूपी पागल कुत्ते को न पालना ही बुद्धिमानी है। काम वासना जाग्रत होती है–कभी परिवार से, खानदान से, इज्जत से, भय से, लज्जा से दबा भी दी जाती है, तो वह दमित रूप से अवचेतन मन पर गहराई से चली जाती है। वह स्वप्न–दोष या मानसिक बिमारियों के रूप में पनपती है। इसलिए मन को अध्यात्म की ओर सत्य की ओर उन्मुख करना चाहिए। काम की वास्तविकता को पहचान कर संकल्प–शक्ति, इच्छा–शक्ति से रोकना चाहिए। आचार्य समन्तभद्र देव ने कहा है–

मल बीजं मल योनिं गलनमलं पूति गन्ध विभत्सं।
पश्यन्नंग मनंगात् विरमति यो ब्रह्मचारी सः।।

जो पुरुष मल का बीज, मल का आधार, मल को बहाने वाला दुर्गन्ध युक्त और वीभत्स आकार वाले स्त्री के अंग को देखकर काम सेवन से विराम लेता है–उसका त्याग करता है वह ब्रह्मचारी है।

वास्तव में काम के प्रवाह में बहाने वाला मन है। मन के पीछे इन्द्रिय है इन्द्रिय के पीछे एकान्तवास है व एकान्तवास के साथ निर्लज्जता है और निर्लज्जता का अर्थ है–स्त्री–पुरुष का परस्पर कामवासना की दृष्टि से संस्पर्शित होना है। यह मूढ़ता अगर अवैध है तो अब्रह्म है और कहीं पापों से भयभीत होता हुआ अपनी पत्नी मात्र को स्वीकार करता हुआ अन्य समस्त स्त्रियों का पूर्णतया त्याग करता है तो वह भी एक देश ग्रहस्थोचित् नैतिक कर्त्तव्य का पालन करने वाला, ब्रह्मचारी है। इससे ग्रहस्थ जीवन भी–व्यवस्थित रहता है, ब्रह्मचर्य भी पलता है, मर्यादा भी बनती है, धर्म निष्ठा भी जाग्रत होती है, संतति भी शुद्ध होती है। नैतिकता भी कायम रहती है और भविष्य उज्जवल रहता है।

रसना इन्द्रिय : मन में यह विचार रखना कि अगर वह कन्या स्त्री ही यह वस्तु देगी तो खाऊँगा अन्यथा नहीं या ऐसे गरिष्ठ भोजन को करना जो काम–वर्धक है या दवाईयों का सेवन करना, काम–वर्धक शब्दों का उच्चारण करना भी रसना इन्द्रिय अब्रह्म है। सावधान रहे। खान–पान में, बोलचाल में।

घ्राण इन्द्रिय : शरीर से काम के समय एक प्रकार की गंध स्रवित होती है जो नर को मादा की ओर, मादा को नर की ओर आकर्षित करती है; जो सभी जीवों में पाया जाता है या इत्र फुलेल आदि गन्ध लगाकर घूमना, क्योंकि गन्ध मनुष्य में काम को जाग्रत करती है, और जीवन को दुर्गन्धमय करती है।

चक्षु इन्द्रिय : यह सबसे ज्यादा खतरनाक है वाह्य पदार्थों को देखती है और मन को सूचना देकर तन में आग लगा देती है। इसमें काम को विस्तार करने मे चल–चित्र, टी. वी., पिक्चर का सबसे बड़ा हाथ है। अगर मनुष्य अश्लील गीत, शब्द ही सुने तो ब्रह्मचर्य से कैसे रह सकता है। यदि वह मासिक, साप्ताहिक, दैनिक पत्र–पत्रिकाओं में स्त्रैण कहानियों व फिल्मी चित्र को निहारे तो ब्रह्मचर्य कहाँ से आ सकता है। यदि टी. वी. पिक्चरों में सदा चुम्बन, आलिंगन के दृश्य ही देखते रहे तो ब्रह्मचर्य कैसे टिक सकता है। अगर हमारे स्कूल–कॉलेज का वातावरण भोग–विलास की शिक्षा देता रहे, काम–वासना को उत्तेजित करता रहे तो ब्रह्मचर्य कैसे कायम रह सकेगा। आज के युग में दुष्ट से दुष्ट आदमी की आँखों में भी शर्म दिखाई देगी। परन्तु आज के बुद्धि के व्यभिचारियों की आँखों में शर्म दिखाई नही पड़ेगी। पिक्चरों व टी. वी. के माध्यम से आर्थिक स्तर से मजबूर

युवतियों को, कामुकता से भरपूर कन्याओं को ही लोगों के सामने उत्तेजक वस्त्रों में पेश किया जाता है। टी. वी. ने मनुष्य की कमजोरी को जाना है और उसका लाभ उठाने में बेशर्मो ने सारी प्रजा को बेशर्म बनाने का निश्चय किया है। इसमें सफलता पाने के लिए इन्होंने घर–घर में टी. वी. पहुँचा दिये हैं और टी. वी. में उत्तेजक वस्त्रो में नाचती कुदती व अश्लील चेष्टाऐं करती हुई युवतियों को, युवकों को दिखाना प्रारम्भ कर दिया। ध्यान रखना चाहिए–सोचिए छोटे बच्चे के हाथ में चाकू दे दिया जाये तो माँ इसका ध्यान रखती है। जिनवाणी माँ भी यह ध्यान रखती है कि गलत चीज न आ जाये सावधान रहना चाहिए। परिवार की लडकी कॉलेज में कुछ गलत न करे इसलिए घर वाले उसे सावधान करते हैं। सर्विस में पति या पत्नी है तो पूरा ध्यान दें कि कहीं बॉस के साथ ज्यादा परिचय तो नहीं कभी घर में पति लेट पहुँचे तो पत्नी को यह ध्यान है क्यों लेट आया। इसका कारण है–आँखें/कहीं दिल में वासना न भर दे, परस्पर का विश्वास न घट जाये, जीवन से नजरें बचाकर चलता है; पर आज टी. वी. घर–घर में आ गये। घर में टी. वी. का स्विच कोई भी किसी भी वक्त दबा सकता है। 70–80 चैनल हैं। कोई भी सीरियल देख सकता है, पत्नी रसोईघर में है तो पति ऑफिस में बच्चे स्कूल में तो बच्ची कॉलेज में तो कोई भी टी. वी. के सामने है, अकेले है, घर में किसी को पता नहीं चलता। घर में टी. वी. के सामने अकेले में कोई सा भी दृश्य देख सकता है। यानी टी. वी. एक ऐसा स्थान हो गया है जहाँ अच्छा तो बहुत कम मिलता है, पर बुरा तो भरपूर मिलता है। भारी छुट से मिलता है, सबको मिलता है, मनमुताबिक मिलता है, सबके बीच भी मिलता है अकेले में भी मिलता है, सुबह–दोपहर ही नहीं शाम को रात को भी मिलता है, घर–स्कूल बाजार–होटल–ऑफिस सभी जगह मिलता है यानि की एक सुअर सा मन और चारों तरफ वासना की विष्टा ही विष्टा, तो निश्चित है मन विकृत–होगा, आँखें इसे मचलाने में सहयोगी है, आदत इतनी बदल गई है कि धर्म–स्थान पर भी वही पाप विचार है, निश्चिंत दुनिया के सामने तो मन के विचारों को प्रस्तुत करने की हिम्मत नहीं रहती है; परन्तु टी. वी. ने पूरा मन सड़ा दिया है। कहीं पर जाओ बस वासना ही वासना है। मन ऊँठ की भाँति है काँटे को ही चाहता है फूल को नहीं। टी. वी. के सम्मुख अच्छी बातें कम चाहता है। यही कारण है–आजकल के कॉलेजी बच्चों के दिल में वासना है। यही बात है किताबें पढ़ने में कुछ नहीं होगा। एक बार दिल की किताबें पढ़ लो बस सब जिन्दगी का मजा यही मिल जायेगा। 70 प्रतिशत बालक–बालिका विवाह से पहले आँख–मुख से किस करके ब्रह्मचर्य को समाप्त कर चुके होते हैं, कुछ तो और भी आगे बढ़ जाते हैं। घर का

दबाव भी हो तो नहीं मानते। एक ही बात घर कर जाती है यार छिपाने से प्यार नहीं छिपता, सब कमाल है चक्षु इन्द्रिय का टी. वी. का मन की वासना का, बाहर के गलत वातावरण का। माता–पिता, गुरु समझाये तो भी नहीं समझ आती। कारण बाहर का आनन्द–धर्म–कर्म को भुला दिया है। इसलिए आज के युग में चक्षु इन्द्रिय के विषय का त्याग बहुत आवश्यक है। यद्यपि टी. वी. बुरा नहीं है पर टी. वी. के माध्यम से परोसे जाने वाले दृश्य–मन में स्वभावतः उठने वाली वासना एकान्त में टी. वी. दृश्य देखते वक्त वह और भी उद्‌दीप्त हो जाती है और कोढ़ में खाज सा असर दिखाकर मानवीय, सांस्कृतिक, धार्मिक वृत्तियो को नष्ट कर देती है। अन्त में–

कर्ण इन्द्रिय : कर्ण इन्द्रिय शब्द कर्ण प्रिय आकर्षक होता है और विपरीत लिंगी का स्वर मिठास के लिए हो, रूप से सम्पन्न हो, चंचलमना हो तो मन सहज ही उस ओर दौड़ जाता है। इसलिए काम का सम्बन्ध गीत–संगीत से भी बहुत है। शास्त्रों मे कहा है–**''काचिद गीतवति सति''** गीत गाने वाली स्त्रियॉ कदाचित सती सावित्री होती है; क्योंकि सुरीली आवाज हर किसी को अपनी ओर आकर्षित करती है। दुनिया में वेश्या नर्तकियां फिल्मी तारिकाएँ प्रायः संगीत के स्वर के साथ ही अन्य को काम विहवल करती हैं।

मूलाचार ग्रन्थ में कहा है–''संगीत से मात्र मनुष्य ही नही सर्प, हिरणी, गाय यहॉ तक की वनस्पति भी प्रभावित होती है।'' श्रवणेन्द्रिय की विषया शक्ति का नतीजा (परिणाम) यही है कि जिसके पास टी. वी. देखने के साधन नही है वह केवल रेडियो–टेप के माध्यम से कामोत्तेजक गीत का श्रवण कर ही काम तृप्ति करते हैं। पति, प्रेमी, बॉस हो तो फोन से घण्टों तक मन बहलाते हैं एवं तृप्ति करते हैं। शब्दों से दिमाग में उत्तेजना अवश्य ही उत्पन्न होती है। इसलिए अपशब्द क्रोध पैदा करते है तो कामुक मीठे स्वर काम भी पैदा करते हैं।

आज के युग में कर्णप्रिय के अब्रहम के लिए वाक्‌मैन (टेप) ज्यादा कार्यकारी हो गया। उसका सांग (संगीत) अंग–अंग को फडका देता है। मनुष्य को सावधान रहना चाहिए–काम सेवन से बचना चाहिए, क्योंकि एक इन्द्रिय की इच्छा पूर्ण नहीं होती कि दूसरी इन्द्रियाँ भिक्षा–पात्र लिए एकदम से सामने आ खड़ी होती है। मनुष्य पूर्ण ब्रह्मचर्य पालन न कर सके तो वंश के अंश को जन्म देने काम सेवन करे। सारी उम्र भोगों में फँसना जिन्दगी की दुर्गति में डालना है; क्योंकि भोग अनिवार्य नहीं है ग्रहस्थ जीवन को चलाना आवश्यक है। ब्रह्मचर्य धारी सुदर्शन एक स्त्री व्रतधारी बना वह पवित्र आत्मा संतों द्वारा भी सम्मानित

हो गयी। मनुष्य अपनी वासना को शुभ भी कर सकता है जब वह विवेक के साथ धर्म, दया, दान, सेवा, पूजा, भक्ति, ध्यान के रूप में परिणत हो जाती है तो वही धर्म के रूप में बदल जाती है। शुभ दिशा में ऊर्जा का गमन सात्विक प्रवृति का निर्माण करता है। शुभ वासना (आकाक्षा) परमार्थ की ओर ले जाती है। कभी–कभी शुभभाव वासनामय होकर भी सभी जनों के हित की ओर प्रेरित होता है।

शुभवासनाओं को निर्मल करते जाना ही स्वयमेव शुद्ध होने का निर्मल पुरुषार्थ है। आचार्य कुन्द–कुन्द ने "बारसणुवेक्खा में लिखा है–

सव्वंगं पेच्छंतो इत्थीणं तासु मुयदि दुष्भावं
सोबम्भचेर भावं सुक्कदि खलु दुद्दर धरादि।

जो पवित्रात्मा स्त्रियों के सर्वांग को देखकर अपने परिणामों को विकृत नहीं करता वही निश्चय से दुर्द्धर ब्रह्मचर्य का धारी होता है।

ब्रह्मचर्य आत्म–श्रृंगार का श्रेष्ठ गहना है। ब्रह्मचर्य मानव की स्वच्छन्द वृत्तियो पर अकुश है। इसलिए ब्रह्मचर्य को ग्रहस्थ जीवन में स्वीकार करते वक्त **"स्वदार संतोष"** व्रत का रूप दिया, क्योंकि विवाह–मात्र स्त्री–पुरुष का बन्धन नहीं दो हृदय का सम्बन्ध होता है। वर का वधु के गले में माला डालना मानो एक–दूसरे के हृदय फूलों सा कोमल करके परस्पर एक–दूसरे को समर्पित करना है। अग्नि के चारों ओर सात परिक्रमा देना केवल शिक्षा है दुनिया की ताप कितनी भी हो हम उसके इर्द–गिर्द रहना ही पसंद करेंगे साथ रहेंगे, सुख–दुःख दोनों में सहभागी बनेंगे। धागा लपेटने का भी अर्थ इतना ही है कि जैसे ताना–बना सुन्दर वस्त्र का निर्माण करता है। हम भी दोनो का ताना–बाना एक हो सुन्दर परिवार का सृजन करेंगे। ग्रहस्थ जीवन में रहकर कर्त्तव्य का पालन हो और परमात्मा (ब्रह्म) को पाने का आचरण हो तो स्वाभाविक ग्रहस्थ जीवन का ब्रह्मचर्य भी मनुष्य को काम के कीचड से निकाल कर निष्काम परमात्मा का कमल आत्मा में खिला देता है। इसलिए कहा–

ब्रह्मचर्य जो पालन करता शक्ति मिलती दिव्य विराट।
आत्म ओज का उद्भव होता बन जाता है शिव सम्राट।।

ब्रह्मचर्य पालन ग्रहस्थ जीवन में भी करता है तो दिव्य–शक्ति का जागरण होता है। सुदर्शन, लक्ष्मण, वारिषेण, सीता, सोमा, मनोरमा, नीली ये साक्षात् उदाहरण हैं आज भी सतियों की पवित्रता का कथन सुनने को मिलता है। ब्रह्मचर्य की पूर्णता आत्म ओज पैदा करती है और मुक्ति पथानुगामी बनाती है। मुक्ति की प्राप्ति ब्रह्मचर्य की उपासना का अन्तिम पायदान है।

"अपरिग्रह"

धन वैभव का संग्रह करके खत्म करो न शान्ति को,
सुख कर्ता न अशन वशन धन छोड़ो तुम इस भ्रान्ति को।
जितनी आवश्यकता होवे संग्रह उतना ही करना,
बाकी को दुख कर्ता मानकर न्याय मार्ग पर सब चलना।।23।।

अर्थ :

हे भव्य जीव ! धन वैभव का संग्रह करके आत्म–शान्ति को समाप्त मत करो। अन्न, वस्त्र, धन आदि सुख कर्ता नहीं है। इसमें सुख मानना भ्रम है। जितनी आवश्यकता है संग्रह उतना ही करना चाहिए तथा अन्य समस्त वस्तुओं को दुख कर्ता मानकर न्याय मार्ग पर चलना ही अपरिग्रह वृत्ति है; क्योंकि परिग्रह ही अशान्ति का कारण है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

धन मनुष्य का ग्यारहवॉ प्राण है। धन के बिना मनुष्य का जीवन मृत के समान है। धन के अभाव में जीना मृत्यु शय्या पर पड़े रुग्ण व्यक्ति के समान निष्प्रभ है, लेकिन आज का इंसान धन के पीछे मर रहा है। धन जब धर्म की हत्या करके आता है तब समस्त जीवन को पापमय कर देता है। धन से जीवन नहीं मिलता, जीवन तो धर्म से ही प्राप्त होता है, लेकिन मनुष्य धन–संग्रह को ही जीवन जीने का साधन समझ लिया है और चौबीस घन्टे उसी की प्राप्ति मे अपना जीवन बर्बाद कर रहा है। जिसके पास धन है उसका जीवन धन्य नहीं अपितु जिसके पास धर्म है उसी का जीवन धन्य है। धन की हाय–हाय अशान्ति को आमन्त्रित करती है। धन से बिस्तर मिल सकता है–नींद नहीं। धन से पुस्तक मिल सकती है–ज्ञान नहीं, धन से मन्दिर मिल सकता है–श्रद्धा नहीं, धन से भोजन मिल सकता है–भूख नहीं, धन से सुन्दर–स्त्री मिल सकती है–प्यार नहीं, धन से सुविधा मिल सकती है–शान्ति नहीं। शान्ति पाने के लिए धन के मोह को छोडना आवश्यक है। इसलिए तो कहा है–

धन वैभव का संग्रह करके खत्म करो न शान्ति को
सुख कर्ता न अशन वशन धन छोड़ो तुम इस भ्रान्ति को।

धन को पाने धर्म को खोना पाप का खाना है। धन पेट भरने लायक तो मेहनत, पुरुषार्थ, ईमानदारी से आता है, पेटी भरने लायक शोषण, बेईमानी, भ्रष्टाचार से आता है।

इसका मतलब यह नहीं कि मनुष्य धन कमाना छोड़ दे। ग्रहस्थ–जीवन में धन के अभाव में जीवन नहीं चल सकता, पर वह धन के पीछे न चले, धन को अपने पीछे चलायें अर्थात् आवश्यकता की पूर्त्ति के लिये धन कमायें–आकांक्षा की पूर्त्ति के लिए नही आवश्यकता की पूर्ति कर्तव्य निर्वाह का प्रतिक है और आकांक्षा की पूर्ति पाप का विस्तार है। चार पुरुषार्थ बतलाये गये हैं–धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। धर्म के साथ अर्थ की प्राप्ति अनर्थ को जन्म नहीं देती–वह सच्चे अर्थों में साधना व सेवा को वृद्धिगत करती है। धन का एकत्रिकरण आचरण का ह्रास नहीं है–एकत्रिकरण में शोषण की भावना आचरण के ह्रास का प्रतीक है। भगवान महावीर स्वामी स्वयं सम्राट थे। धन–सम्पत्ति, वैभव, ठाठ–बाट की कोई कमी नहीं थी, पर वह धन किसी को उजाड़ कर एकत्र नहीं किया था, अपितु सहज पैतृक पुरुषार्थ और पुण्य से सम्मुख आया था।

जैन दर्शन में अर्थ को निकृष्ट वस्तु नहीं माना अपितु ग्रहस्थ जीवन निर्वाह करने का एक साधना माना है। अर्थ के अभाव में व्यक्ति दीनतामय, निराशामय जीवन जीना प्रारंभ कर देता है। मनुष्य को ग्रहस्थ जीवन में रहकर धन–संग्रह का पर्याप्त पुरुषार्थ करना चाहिए परिग्रह जीवन यात्रा का साधन है लेकिन उसे साध्य समझने से विसंगति उत्पन्न होती है इसलिए – मात्र इतना ख्याल रखना चाहिए कि द्रव्य (धन) प्राप्ति का साधन अन्याय तो नहीं है। हिसा से तो नहीं आ रहा, शोषण तो नहीं है, भ्रष्टाचार तो नहीं है, सम्पत्ति का परहेज नहीं है, सम्पत्ति को सुविधा का साधन माने, सुख का नहीं। सम्पत्ति पाने के लिए किया गया उत्तम व्यवहार स्वयं को उत्तम बनाता है। सम्पत्ति अगर शराब, बेचकर, चमडा बेचकर, जहर बेचकर, हिंसा के माध्यम से या लूट कर दबाव डालकर अवसर का फायदा उठाकर, दूसरे को बेरोजगार बनाकर आया है तो वह सम्पत्ति आपत्ति और विपत्ति में कारण है। दूसरे को रूलाकर स्वयं हँसने का प्रयास करना ही–परिग्रह है, आसक्ति हैं। धन में पाप परिग्रह के कारण नहीं है अपितु उसके प्रति आसक्ति कारण है। नारकीय के पास धन नहीं है, तिर्यन्चों के पास धन नहीं है, भिखारी के पास धन नहीं है, तीर्थंकर धन के बीच (समबशरण) में बैठे हैं पर नारकी, तिर्यञ्च, भिखारी परिग्रह की लालसा से घिरे हैं, निरन्तर पाप का आश्रव कर रहे है; क्योंकि धन के प्रति मूर्च्छा है और महावीर ने मूर्च्छा परिग्रह कहा। आसक्ति का नाम ही परिग्रह है, वही आसक्ति दुख का कारण है। जिस प्रकार पत्ते को सींचने से वृक्ष नहीं बढ़ते, जड़ों को सींचने से वृक्ष वृद्धिगत होते हैं, उसी प्रकार समस्त अन्तरंग और बहिरंग परिग्रह मिथ्यात्व मोह की जड़ों को सींचने से बढ़ते हैं। यदि हम चाहते है कि पत्ते सूख जाये उसे हम तोड लेंगे तो फिर उसमे नये पत्ते आ जायेंगे यदि उसकी जडो को काट दिया जाये तो वे पत्ते फिर कभी नही पनपेंगे। समय पाकर स्वतः ही सूख जावेंगे; उसी प्रकार मोह मिथ्यात्व रूपी जड़ों को काट देने से परिग्रह, लिप्सा, तृष्णा अपने आप ही समाप्त हो जायेंगी।

हमारे मन में प्रश्न उठना चाहिए कि हमारे भीतर परिग्रह संग्रह की वृत्ति क्यों जाग्रत

होती है ? तो उसका कारण है–अविश्वास। जब स्वयं के प्रति, द्रव्य के प्रति, संतति के प्रति मनुष्य के मन में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि भविष्य में मेरे व मेरे परिवार की सुरक्षा कैसे होगी, हमारा भविष्य कैसा होगा ? हम सुख पूर्वक रह पायेंगे या नहीं। अन्त में कोई सहायक (सहाई) होगा या नहीं ? इस प्रकार की भविष्य के प्रति आशंकायें मनुष्य को धन संग्रह की प्रेरणा देती है और वह इकट्ठा करता है, पर हाय रे दुर्भाग्य ! स्थिति उस चींटी जैसी हो जाती है जो गर्मी के माह में अन्न का दाना इकट्ठा करती है कि वर्षा आयेगी तो आराम से खायेंगे। लेकिन वर्षा आती है, चींटी के बिल में पानी प्रवेश कर जाता है तो सारी चीटियाँ बाहर निकल आती हैं और कोई साँप प्रवेश करके सारा अन्न खा जाता है; उसी प्रकार भविष्य की सोच कर धन एकत्र करते हैं तो कोई परिवार लूट कर या सरकार रूपी साँप सारा धन ले जाता है। आदमी रिक्त का रिक्त रह जाता है। इसलिए धन के पीछे नहीं भागें। लोभी जीवन संसार में निकृष्टतम जीवन जीने को मजबूर करता है। धन के पीछे दीवाना रहने वाला इंसान संसार के पदार्थो को जुटाने में, सदा अपने स्वार्थ को सिद्ध करने में तत्पर रहता है। उसे अपनी इज्जत व विश्वास की चिन्ता नहीं, तिजोरी की चिन्ता रहती है। इसलिए धन सग्रह कर अपने को सुखी मानना भ्रान्ति को जन्म देना है। इसलिए कहा है–

'सुख कर्त्ता न अशन वशन धन छोड़ो तुम इस भ्रान्ति को।'

जहाँ भ्रान्त धारणायें होती हैं, वहाँ व्यक्ति खाने–पीने में, भोग विलासिता में धन–वैभव के संग्रह में, पद प्रतिष्ठा के लोभ में और इनके आने को ही शान्ति–सुख का साधन मानता है पर वे साधन मात्र तात्कालिक सुख देते हैं जो सुखाभास हैं। खैर मनुष्य को विचार करना चाहिए कि अगर अशन भोजन में सुख होता है तो फिर एक व्यक्ति को रसगुल्ला पसन्द है उसे वही–वही खिलाया जाये तो क्या स्थिति होगी ? वह उसी रसगुल्ला को क्या बकवास है ? कहकर प्लेट समेत फेंक देगा ? अगर वशन वस्त्र में सुख होता तो जो पसन्द है वही वस्त्र उसे हमेशा पहनने को दिया जाये तो वह पागल हो स्वयं ही फाड़ कर फेंकने की चेष्टा करेगा। धन मे सुख हो तो चारों तरफ धन का अम्बार लगा दिया जाये और भोजन–पानी बन्द कर दिया जाये, तो क्या वह सुखी होगा ? नहीं। इसलिए भगवान महावीर स्वामी ने कह दिया कि मनुष्य 10 प्रकार के परिग्रह से विरक्त हो वे परिग्रह है। क्षेत्र (खेत) वस्तु (मकान आदि) धन्य–धान्य, दासी–दास, कपड़े, बर्तन, सोना चाँदी आदि ये दस परिग्रह की संग्रह–वृत्ति ही व्यक्ति को दशानन (रावण) बना रही है।

इस संसार मे आदमी के पास तनाव है, तो इन्हीं दस चीजों की संग्रह–वृद्धि के कारण है। जिसे अंग्रेजी में टेन्शन शब्द दिया है अर्थात् टेन+सन। जिसके पास 10 पुत्र हो वही तनाव में है। वे दस पुत्र दस प्रकार के परिग्रह ही हैं, जो मनुष्य को तनाव देते हैं। इन

दस में सबसे ज्यादा भूख होती है–धन की। धन की चकाचौंध में आँख उठाकर भी नहीं देखेगा। भारत में 70 प्रतिशत लोग गरीब हैं और अमीरों के पास इतना धन है कि इसमें से 50 प्रतिशत लोगों के लिए वे रोटी, कपड़ा और मकान का इंतजाम करा सकते हैं। पर मन की लोभ वृत्ति कहती है कि ये भी मेरे जैसे हो जायेंगे तो मेरी इज्जत कौन करेगा। मुझे बड़ा सेठ कौन समझेगा। इसी कारण इन्हें बढाने की चेष्टा नहीं करते। धन–हीन कितना भी अन्य गुणों से सम्पन्न हो उसे कुछ भी महत्ता प्रदान नहीं करेगा। उसका सम्पूर्ण प्रयास धन संग्रह का होगा। वह मृदंग की भाँति जरा सी थाप पड़ी धन–धन करता है, मच्छर की भाँति दिन–रात भन–भन करता है यानि उसका मन धन–धन ही बोलता है। इसलिए शास्त्रकारों ने कहा है–

यद दुर्गमटवी भटन्ति विकटं भ्रमन्ति देशानतरं।
गाहन्ते गहनं समुद्रमतनुक्लेशं कृषिं कुर्वते।।
सेवन्ते कृपणं पतिं गजधरा संघट दुः संचरम्।
सार्पन्ति प्रधनं धनान्धिताधियस्तल्लोभ विस्फूर्जिततम्।।

धन में जिसकी बुद्धि अन्धी हो गई है वह मनुष्य दुर्गम जंगलों में भटकते हैं। धन दौडता है, रुलाता है, भटकाता है। घोर जंगल में डाकू छिपे हैं मात्र धन संग्रह की आकांक्षा से न महलों का सुख न खाने का सुख, दिन–रात भयपूर्ण वातावरण ठेकेदार भी हो तो जितना जल्दी काम हो उतनी जल्दी रकम प्राप्त होगी। ऐश करूँगा काम पूरा होते ही। ऐश नहीं करता अपितु दूसरा काम फिर हाथ में ले लेता है। धन में अंधा पुरुष विकट देशान्तर में जाता है। सच है धन की लिप्सा अपने परिवार–रिश्तेदार को छोड़कर बेगाने–अनजान–अपरिचित के देश–विदेश जाते है। कितनी तिकड़म बाजी है यहाँ जमीन बेचते है परिवार छूटता है और विदेश में नित्य लोगों की नौकरी–मजदूरी करते हैं–कौन पहचानता है। बस यही धारणा ही धन के प्रति अन्धा बनाती है। कष्ट सहते हैं, कम खाते हैं, पैसा बचाते हैं–बस जिन्दगी गुजारते हैं।

धर्म छोड़कर अनेक परेशानियों का सामना करते हैं। धन के अन्धे व्यक्ति समुद्र में गोता लगाते हैं, प्राण हथेली पर लेकर जाते हैं मात्र कोई रत्न मिल जाये। परवाह नहीं है प्राणों की आकांक्षा है धन प्राप्त हो जाये प्राण महत्वपूर्ण नही होता है। अपार श्रम–साध्य खेती करते हैं। पहाड़ों को जोतकर अन्न उपजाते हैं और तो और बैलों का खर्च बचाने स्वयं जुत जाते हैं, धूप–छाँव की परवाह नही, भूख–प्यास की चिन्ता नहीं। आज कर लो मेहनत कल आराम करेंगे की भावना ही ये कृत्य कराती है। कृपण स्वामी की सेवा करते हैं। आधुनिक युग है, नौकरी करने वाले ज्यादा हैं। कैसे अफसरों की जी–हुजुरी करते हैं। जाति, कुल, धर्म की मर्यादा छोड़कर उनकी सेवा करते हैं–मात्र धन के लिए अर्थात्

धन के पीछे उलझनों को स्वीकारने में संकोच नहीं है। दिखता भी है आदमी येन–केन प्रकारेण करोड़ों कमाता है, सत्ता के मद में अधिकार के मद में चूर होकर और जब उसकी सत्ता अधिकार छिन जाते हैं तो दूसरी सत्ता आती है, अधिकार आता है, पाप सिर चढ़कर बोलता है और धन–दुकान–मकान–फैक्ट्री–होटल, रिश्तेदार, नातेदार के यहाँ एक साथ छपा पडता है, इज्जत मिट्टी में मिल जाती है, धन देखते ही देखते अधिकारी ले जाते हैं। अकूत सम्पदा का मालिक क्षण भर में रिक्त हो जाता है। फिर भी धन–धन चिल्लाता है।

इस दुनिया में धन कमाना तो कष्ट कर है ही, उसकी सुरक्षा करना और भी कष्टकर है; क्योंकि किसी की भी निगाहें पड़ी की चारों तरफ चर्चा हो जाती है, गुण्डे–बदमाशों की ही क्या ? घर में रहने वाले नौकरों की भी नियत बदल जाती है। अगर मकान सुन्दर बनवा दे, गाड़ी अच्छी ले ले, गहना ज्यादा पहन ले तो आयकर विभाग वाले पीछे पड जाते है। तो फिर मन कहता है न खर्चो, न खाओ, न पहनो, न घूमो, न उजागर दान दो। इसे गाड़ कर रख दो, उस धन को प्राप्त करने के लिए जीत तोड मेहनत की पर तिजोरी में रखकर फिर शान्त हो गया अब न खर्च करने की आदत बन गई तो कोई परिवार का ही खर्च कर दे तो लडने–मरने पर आमादा हो जाता है। पता नहीं धन मनुष्य को क्या–क्या नहीं करता, वह तो–

मातरं पितरं पुत्रं भ्रातरं वा सहृततम्
लोभा विष्टो नरो हन्ति स्वामिनं वा सहोदरं।

माता–पिता, पुत्र–भाई, मित्र–स्वामी सहोदर को भी धन के पीछे मारने को तैयार हो जाता है। लोभी मनुष्य तो रेगिस्तान के रेतीले बंजर मैदान की तरह होता है, जो लालच के वश में तमाम वर्षा और ओस चूस लेता है; किन्तु कोई भी फलवान जड या पेड–पौधे दूसरों के लिए उत्पन्न नहीं करता। सच है लोभ से धन संग्रह की वृत्ति से मनुष्य का मन चंचल हो जाता है। वह इस लोक व परलोक में दुःख ही पाता है। दुनिया में इन्सान कितना भी इकट्ठा कर ले–आखिर सब यहीं पर छूट जाता है। एक शव–यात्रा में चलते कुछ लोग आपस में बातें कर रहे थे। भैयाजाने वाला बड़ा नेक आदमी था, सभी से हँसकर मिलता था, कभी ऊँचे स्वर में नहीं बोला। दूसरे ने कहा–तभी तो सभी रिश्तेदार पहुँच गये हैं, देख नहीं रहे कितना बड़ा मित्र वर्ग यहाँ आया हुआ है। पहले ने कहा–हाँ यार यह दुनिया है इस हाथ दे उस हाथ ले जानते हो ना उसको–जब मरा तो शरीर में कीड़े पड़े हुए थे–नौकरों ने भी लाश को हाथ लगाने से मना कर दिया, बदबू आ रही थी पूरे शरीर से, जिन्दगी भर तो बेईमानी करता रहा क्या ले गया ? अपने साथ सब यही छोड़ गया। सत्य तो श्मसान में समझ आता है पर स्थिर नहीं रहता है। जब तक जीते

हैं मुर्छा से घिरे होते हैं। धन के प्रति मूर्छा दुःख का विस्मरण करा देती है, दुःख का विसर्जन नहीं करती। मूर्छा के टूटते ही दुःख अपनी जगह वापिस स्थापित हो जाता है। परिग्रह संचय में रुकावट आ जाने से भूला दुःख पुनः उपस्थित हो जाता है। मूर्छा में दुःख इतना घनीभूत हो जाता है कि उसका आभास नहीं होता। मूर्छा चरमोत्कर्ष पर पहुँच जाये तो मृत्यु बन जाती है। आवश्यकता से अधिक सग्रह मूर्छा का ही परिणाम है। मूर्छा दूसरों की मृत्यु में भी संकोच नहीं करती, निर्दयता की हदें लांघने मे समर्थ है, दूसरों को मिटा कर धनपति बनने की तमन्ना जघन्य अपराध कराने में संकोच नहीं करती, पर आज नहीं तो कल उसका फल भुगतने सदैव तैयार रहना चाहिए।

कुछ वर्ष पहले की एक घटना है–दो दोस्त थे, साथ–साथ पढ़ते थे। दोनों बेकार व बेरोजगार थे। सोचा ! किसी बड़े शहर में रहकर मेहनत–मजदूरी करेंगे–पेट भरेंगे। एक दिन रेस के मैदान में चले गये, उस दिन उनके पास केवल पाँच रुपये थे। सोचा–दाँव पर लगाये देते हैं। लगा दिये–किस्मत जागी पॉच के पचास हुए, पचास के पाँच सौ, देखते ही देखते भाग्य का सितारा चमका और एक दिन में तेरह लाख की आमदनी हुई। इतना रुपया आता देखकर एक दोस्त के मन में बेईमानी आ गई। सोचने लगा–मैंने ही तो इससे कहा था कि रेस में पैसा लगाते हैं यह तो मना कर रहा था। मैं ही भाग्यशाली हूँ, मेरी ही किस्मत अच्छी है। इसलिए इन तेरह लाख रुपयों का मालिक मैं ही हूँ फिर उसके मन में आया कि साथी को साथ रखता हूँ तो आगे और भी परेशानी आयेगी हिस्सा देना होगा। इसी लोभ–भावना से प्रेरित होकर उसने दोस्त को जहर खिला दिया। अब उसके पास रुपया ही रुपया था। उसने एक बहुत बडा फ्लेट खरीदा, एक सुन्दर लडकी से शादी की। उसके एक बच्चा भी हुआ। वह बच्चा असामान्य था, सदैव बीमार रहता था, बोलता भी नहीं था, उसने बच्चे के इलाज पर बहुत खर्च किया, पैसे के बल पर 22 वर्ष की उम्र में उस बच्चे की शादी कर दी, शायद शादी के बाद ठीक हो जाये।

शादी के बाद अचानक एक दिन माता और पिता ने अपने बेटे को खुश देखा तो उनके आनन्द का कोई ठिकाना नहीं रहा। पिता ने नौकरों से कहा कि–घर सजाओ, मिठाईयाँ बाँटो, बड़ी पार्टी का आयोजन करो। लड़का हॅसता ही रहा। माँ ने कहा–मैं कहती थी न शादी होजाने दो सब ठीक हो जायेगा। शाम को शानदार पार्टी का आयोजन हुआ पिता ने पुत्र से पूछा–बेटा तू पहले तो चुप रहता था आज हँस रहा है। यह तो बता तू चुप क्यों रहता था ? बेटे ने कहा "न तो तुम मेरे पिता हो और न ही मैं तुम्हारा बेटा हूँ।" तो कौन है तू ? पिता ने पूछा–बेटे ने बताया–"मैं हूँ तुम्हारा दोस्त। वही दोस्त जिसकी तुमने 22 साल पहले आज ही के दिन जहर खिलाकर हत्या की थी।" इतना सुनना था कि पिता हक्का–बक्का रह गया, पत्नी उसका चेहरा देखने लगी। मित्रों में खलबली मच गयी।

पिता ने अपने आपको सँभाला। प्यार से बोला–चलो जो हुआ उसे भूल जाओ। नई जिन्दगी शुरु करो। 'पहले तुम मित्र थे आज पुत्र हो।' तुम दूर रहो मुझसे, पास मत आओ। बेटा जोर से चीखा। माहौल खुशी का था। सन्नाटे में परेशानी में बदल गया। माँ ने समझाने की कोशिश की। बेटा किसी तरह चुप हुआ और पिता से बोला–ठीक है आओ हम गले मिलते हैं। पिता और पुत्र गले मिलते हैं–गले मिलते–मिलते पुत्र पिता को मुण्डेर तक ले गया और उसे जोर से धक्का दे दिया। पिता नीचे गिरते ही मर गया। फिर बेटे ने माँ से कहा–माँ तुम्हारा कसूर नहीं है। तुमने एक इंसान ने नहीं राक्षस से शादी की है। तुमने पैसे से शादी की–तुम जानती थी कि यह अच्छा आदमी नहीं है लेकिन तुमने, तुम्हारे परिवार ने धन के लालच में यह रिश्ता स्वीकार किया। तुम कभी मन से एक–दूसरे के नहीं थे और तुम मेरी पत्नी हो, तुम भी मुझसे सुन्दर हो तुम जानती थी कि मैं बीमार हूँ गूंगा हूँ, विक्षिप्त हूँ फिर भी तुमने मुझसे शादी की। मुझसे नहीं मेरे पिता के धन से, मकान से, गाडियों से, जेवरात से, ऐशो आराम से की है।

मैं जानता हूँ कि तुम भी एक लड़के से प्यार करती हो, तेरे आज भी उससे गुप्त सम्बन्ध है। तुम ऐश (मौज) यहाँ करती हो, अय्याशी वहाँ करती हो। तुम वही चली जाओ, मेरी पत्नी बनकर तुमने कुछ सेवा की है, इसलिए तुम्हें सलाह दे रहा हूँ–जाओ मेरी निगाहों के सामने से हट जाओ और वह भी सिर के बल छलाँग लगाकर अपने प्राण त्याग दिये। यह है जिनदगी का हिसाब–किताब। परिग्रह की लालसा–मित्र ने मित्र की हत्या की सत्य सामने आया, तो पुत्र भी हत्यारा बन गया।

सच है परिग्रह के गर्भ में दुख व पश्चाताप ही रहता है। आदमी लोभ से प्रेरित होकर ही संसार में अपराध करता है, लोभ के कारण ही 20 साल की लडकी 50 साल के बूढे के साथ शादी कर लेती है, लोभ के कारण ही हत्या है, पाप है, व्याभिचार है, विद्रोह है, लड़ाई है। लोभ सभी दोषों का जनक है, गुणों का भक्षण करने वाला राक्षस है, लोभ विपत्ति–रूपी लताओ का झुण्ड है; जहाँ लोभ निवास करता है वहाँ धर्म नहीं टिक पाता। लोभ के कारण ही मनुष्य की बुद्धि धर्म में स्थिर नहीं रहती। संग्रहवृत्ति धर्म को ताक पर रख देती है। इसलिए तो इंसान लोभ के वशीभूत होकर हिंसा, झूठ, चोरी, कुशीलता सभी स्वीकार करता है। कई व्यापारी अहिंसा–धर्म में जन्म लेने के उपरान्त भी धन–लिप्सा के कारण मांस–मछलियों के, मेढकों के, काकरोच–साँपों के पैक डिब्बे बेचते हैं, धडल्ले से मुर्गीपालन, मछलीपालन केन्द्र खोलते हैं, चमड़े का व्यापार करते हैं, क्योंकि ऐसे धन्धे में ज्यादा मुनाफा है। दूसरे की जिन्दगी उजाड़ कर ऐशो–आराम करने वाले कभी सुखी नहीं रह सकते और आगे बढते हैं–पद–लोभ, प्रतिष्ठा–लोभ, सत्ता–लोभ, अधिकार–लोभ के कारण बड़े–बड़े नेता समाज सेवक बन जाते हैं और तिजोरी भरने के लिए कई प्रकार

की तिकड़मबाजी करते हैं, षड्यन्त्र रचते हैं, हत्यायें तक करा देते हैं, झूठे षड्यन्त्र रचकर दूसरे कों फँसा देते हैं और धार्मिक–सामाजिक क्षेत्र में अपने पाँव पसार कर धर्म और समाज में फूट की सडांध पैदा कर देते हैं। और समाज में अशन्ति फैलाते हैं। इसलिए परिग्रह को शान्ति का कर्त्ता नहीं हर्ता माना गया है। सभी आत्मिक साधकों ने इसके विसर्जन को ही सुख का सृजन माना है। अगर अत्यन्त आवश्यकता हो तो कहा है–

जितनी आवश्यकता तेरी, संग्रह उतना ही करना।
बाकी को दुख कर्त्ता मानकर, न्याय मार्ग पर सब चलना।।

मनुष्य को संसार में जीने के लिए रोटी, कपडा और मकान की आवश्यकता है, समाज में जीने के लिए धन की आवश्यकता है उतना रखें। यह धारणा न बना लेवे की अगर मेरे पास अच्छी कोठी हो, कार हो, अनेक नौकर–चाकर हो, पर्याप्त सुख–सामग्री हो तो मैं सुखी हूँ–नहीं इस सब सामग्री के बाद भी सन्तोष नहीं है तो वही ज्यादा पाकर ज्यादा दु:खी होता है।

अन्याय, अनीति से प्राप्त धन सुख नहीं, सदैव भय देता है। पाश्चात्य देशों में धन की, सुख–सुविधा की प्रचुरता है फिर भी अशान्त है, सुखी नहीं है। न धनवान सुखी है न ही कगाल सुखी है। वस्तु के अभाव की पूर्ति में भी सुख नहीं है। वस्तु की रिक्तता भी ग्रहस्थ में सुख नहीं देती है। अभाव का अनुभव होना मनुष्य की मानसिक कमी पर निर्भर करता है। अभाव के रूप में उसे अनुभव करने की मनुष्य की आदत ही भीतर से असन्तोष को जन्म देती है, तभी आदमी दु:खी रहता है। मनुष्य की लालसा ही दु:ख देती है, इच्छा की पूर्ति नहीं हो सकती, वह तो समुद्र की लहरों के समान है एक के बाद एक उठती जाती है, अग्नि की भॉति है कितनी भी लकड़ी अग्नि को दे दी जाये तृप्त नहीं होती। न भविष्य की चिन्ता करे, न ही अतीत का स्मरण, वर्तमान को सुचारु रूप से चलायें। एक सन्तुष्ट मन सब सुखो की खान है, जिससे मनुष्य इस संसार में आनन्द ले सकता है और अगर वर्तमान सुख, इच्छाओं को कम करने से उत्पन्न हुआ है तो आगे भी इच्छाओं का बलिदान करने से उसे सुख उत्पन्न होता रहेगा।

इसलिए जैन दर्शन में अपरिग्रहवाद को स्वीकार करते हुए कहा है–वस्तुओं को स्वीकार करना बुरा नहीं, न ही अपना मानना बुरा है, न पाप में कारण है। इसलिए आवश्यकतानुसार मर्यादा का जागरण ही सदाचरण है, वीतरागता का मंगलाचरण है। परिग्रह निवृत्ति के लिए ग्रहस्थों को मर्यादा बना लेनी चाहिए–कि हम इतने वस्त्र से ज्यादा नहीं रखेंगे इतने लाख से ज्यादा नहीं रखेंगे, एक मकान से ज्यादा नहीं रखेंगे, इतने तोला सोना, इतना किलो चाँदी से ज्यादा नहीं रखेंगे। इतनी घड़ी से ज्यादा नहीं रखेंगे, इतने लाख की मर्यादा है मेरी, इतने नौकर से ज्यादा नहीं रखेंगे, इतनी आय हो जाये तो

व्यापार से विराम लेंगे। इससे सन्तोष का जागरण होगा, वह सन्तोष आपको हर हाल में खुश रखेगा और अपना गृहस्थ–जीवन मुनि–तुल्य हो जायेगा। आचार्यों ने बहुत सुन्दर वाक्य कहे हैं–

ईप्सितं मनसः सर्वं कस्य सम्पद्यते सुखम्।
दैवायत्तं यतः सर्व तस्मात्संतोष माश्रयत।।
त्यजन्ति भोग तृष्णां ये पीत्वा सन्तोषाजामृतम्।
गृहस्था मुनि तुल्यास्ते कीर्तिताः श्री जिनागमे।।

मनचाहा सब सुख किसे प्राप्त होता है, यह तो भाग्य के आधीन है। इसलिए सन्तोष का आश्रय लेना चाहिए। जो सन्तोष से उत्पन्न अमृत को पीकर भोग–तृष्णा को छोड़ते हैं, वे गृहस्थी जनआगम में मुनि तुल्य कहे गये हैं।

परिग्रह परिमाण करने वाला सन्तोषी ही 'मुनि–तुल्य है। इसलिए इस संसार में जो हँस–मुख, प्रसन्न–चित्त, उत्साही सन्तुष्ट त्यागी है, उनके पीछे ही दुनिया घुमती है। यदि मनुष्य विवेक से काम ले, परिग्रह को दुखकर्त्ता मान ले और न्याय को स्वीकारें, प्रत्येक परिस्थिति में सन्तुष्ट, प्रसन्न हो तो जीवन स्वमेव ताजे–फूल सा खिला–खिला होगा और यह स्वाभाविक भी है। दुनिया के सारे द्वार बन्द हो जाते हैं तो सन्तोष ही शान्ति का द्वार खोलता है। असन्तोष मृत्यु की ओर ढकेल देता है। सन्तोष का उद्गम स्थल हृदय है। सन्तोषरूपी अमृत से तृप्त शान्त–हृदय पुरुषों के पास जो सुख प्राप्त होता है वह इधर–उधर, भाग–दौड करने वाले धन लौलुपों को कहाँ नसीब होता है। कुल मिलाकर अपरिग्रह वृत्ति का अर्थ है–आवश्यकता की पूर्ति। परिग्रह का परिणाम कदाचित पुण्य योग से ज्यादा हो तो धन को भौतिकता में न लगाकर भगवत्ता में लगाये, जिससे संस्कृति का निर्माण हो, सेवा–वृत्ति जागे, आत्मा का विकास हो चारो ओर खुशहाली आये अन्यथा आपके द्वारा संग्रहित वस्तु की कमी दूसरे को गरीब व दुःखी बनाने में कारण होगी जिससे उसके आप भी दोषी होंगे। आत्मा को अन्तर्मुखी शान्त, सौम्य, धर्मात्मा, पाप–मुक्त बनाने का तरीका है–सन्तोष; जो अपरिग्रह वृत्ति को अपनाकर पाया जा सकता है। सन्तोष–रूपी आसन पर विराजमान व्यक्ति को आज नहीं तो कल अवश्य सुख प्राप्त होगा। बस यही याद रखें–

सन्तोष सदृशं सौख्यं न भूतं भुवनत्रये।
भविष्यति न सारं च नास्ति धर्माकरं परम्।।

सन्तोष के समान सुख तीनों लोकों में न था, न होगा। इसी प्रकार सन्तोष के समान सारभूत धर्म का स्थान दूसरा न था, न होगा। इसलिए संन्तोष को स्वीकारे और ग्रहस्थ जीवन को आवश्यकता से अधिक परिग्रह को नकारे यही कल्याण का मार्ग है।

'मिथ्यात्व''

रागी द्वेषी देवो की जो भक्ति पूजा है करते।
मूक-पशु को यज्ञ आदि में झोंक ढोंग को धर्म समझते।।
पंचाग्नि तप को करते और देते तन को कष्ट हैं।
है समीप मिथ्या तम उनके करता जीवन नष्ट है।।24।।

अर्थ :

रागी द्वेषी देवी देवताओं की पूजा करना मूक–पशुओं को हवन यज्ञ में बलि देना पंचाग्नि तप को तपना तन को कष्ट देना है। ये सब मिथ्यात्व है। इससे जीवन को, आत्मा को कष्ट ही होता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

जैनत्व का बोध कराते समय बाह्य आचरण कराया जाता है, लेकिन विशेषता यह है कि व्यक्ति व्यसन भी छोड देता है, पर मन से मिथ्यात्व का रागी–द्वेषी देवी–देवताओं की उपासना, आराधना, व्रत, नमन् आदि करने का त्याग नहीं कर पाता, इसलिए भीतर मिथ्यात्व बना रहता है। आचार्यो ने कहा है–

न मिथ्यात्व समं शत्रु न मिथ्यात्व समं विषं।
न मिथ्यात्व समोरोगो न मिथ्यात्व समं तमः।।

मिथ्या के समान शत्रु नहीं है, मिथ्यात्व के समान विष नहीं है, मिथ्यात्व के समान रोग नही है और मिथ्यात्व के समान अन्धकार भी नहीं है; क्योंकि जिसके भीतर मिथ्यात्व का अन्धकार होता है वह सप्त तत्वों पर श्रद्धान नहीं कर पाता। शरीर के जन्म को अपना जन्म व शरीर की मृत्यु को अपनी मृत्यु मानता है।

क्षणिकवाद, नियतिवाद, एकान्तवाद को स्वीकार करता है, पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु में जीवत्व पने को स्वीकार नहीं करता। वीतरागता के सम्मुख आ भी जायें तो भी श्रद्धा–भाव पैदा नहीं होता, धर्म को ढोंग समझता है। ऐसा जीव सदाचारी तो हो सकता है पर जैनाचारी नहीं हो सकता।

वर्तमान में सदाचारियों की कमी नहीं है। सदाचारी होकर पुण्य बन्ध किया जा सकता है, पर कर्म–क्षय नहीं किया जा सकता। पुण्य बन्ध मात्र स्वर्ग तक की यात्रा कराता है। कर्म–क्षय मोक्ष की भी यात्रा कराता है। मुक्ति की यात्रा करने के लिए जैनाचारी होना परम आवश्यक है। सदाचारी होना सरल है जैनाचारी होना कठिन है। जन्म से जैन होना पुण्य

की बात है कर्म से जैन होना महापुण्य की बात है। कर्म से जैन होने के लिए सदाचारी होने के साथ–साथ मूढ़ मान्यता मिथ्यात्व का त्याग आवश्यक है। मिथ्यात्व 'जिनधर्म' का शत्रु है, पाप का मित्र है। इसलिए कहा है–

रागी द्वेषी देवों की जो भक्ति पूजा है करते हैं।
मूक-पशु को यज्ञ आदि में झोंक ढोंग को धर्म समझते।।

राग–द्वेष से युक्त देवी–देवताओं की आराधना करना, मूक–पशुओं को यज्ञ में झोंकना, उसे धर्म समझना मूढ़ मान्यता है। मिथ्यात्व कई रूपों में प्रगट होता है। वर्तमान युग में गृहीत और अगृहीत रूप में मिथ्यात्व पनप रहा है।

गृहीत मिथ्यात्व का अर्थ है–परोपदेश के निमित्त से जो देव–शास्त्र–गुरू धर्म के प्रति विपरीत मान्यता हो उसे गृहीत मिथ्यात्व कहते हैं और गृहीत मिथ्यात्व पाँच रूपों में पनप रहा है–

1. *एकान्त मिथ्यात्व :* वस्तु में रहने वाले अनेक गुणों को, धर्मो को न मानकर एक ही मानना एकान्त मिथ्यात्व है। एकान्त मिथ्यात्व से ग्रसित जीव गृहस्थपने में स्वय को अखण्ड, शुद्ध, चेतन्यपिण्ड, ज्ञायक स्वभावी आत्मा मानता है। वह व्यवहार–धर्म को न स्वीकार कर प्रथम अवस्था में ही निश्चय–धर्म को स्वीकारता है, जब तक व्यवहार धर्म को न स्वीकारा जाये तब तक मुक्ति का मार्ग प्रशस्त नहीं हो सकता। यद्यपि आत्मा शुद्ध है, पर वर्तमान में कर्मों से आच्छादित होने के कारण मालिन है, अशुद्ध ही है। व्यवहार धर्म को, व्रतों को, प्रतिमाओं को स्वीकारने से, वीतरागता को अपनाने से, साधना करने से आत्मा शुद्ध हो सकती है। एकान्ती आत्मा को शुद्ध अकर्त्ता, अभोक्ता मानते हैं पर आचार्यों ने कहा है–

जो आत्मा को सर्वथा अकर्त्ता मानता है वह सांख्य मत की पुष्टि करता है। वह निश्चयाभासी होकर आत्मा को पर से भिन्न मात्र ज्ञान स्वभाव वाला कहता है। उसकी श्रद्धा में निमित्त होने वाले कृत–कर्म व्यवहार का लोप होता है। अगर आत्मा को सवर्था अकर्त्ता, शुद्ध, उदासीन, चेतन्य मात्र माना जायेगा तो संसार के अभाव रूप प्रसंग होगा, सुख–दुःख नाम की चीज ही नहीं होगी–जब तक स्व पर का भेद विज्ञान न हो–तब तक आत्मा को रागादिक का चेतन्य रूप भावों का कर्त्ता मानना चाहिए। जब भेद–विज्ञान हो जायें तब विज्ञान धन समस्त कृतभाव से रहित एक ज्ञाता ही माने, शुद्ध चेतन्य ही मानें। आचार्य अमृत चन्द्र देव ने संमय सार कलश में लिखा है–

माऽकर्त्ताज्मयी स्पृशन्तु पुरुषं सांख्या इवाप्यार्हताः
कर्त्तारं कलयंतु तं किल सदा भेदाब बोधादधः
उर्ध्वं तू द्धत बोधवामनियतं प्रत्यक्ष मेन स्वयं
पश्यन्तु च्युतकर्तु भावमचलं ज्ञातारमेकं परम्

आचार्य देव कहते हैं अर्हत मत के अनुयायी अर्थात् जैन भी आत्मा को सांख्य मत की भाँति सर्वथा अकर्त्ता न माने, भेद ज्ञान होने से पूर्व उसे निरन्तर कर्त्ता माने और भेद ज्ञान होने के पश्चात् आत्मा को उद्धत ज्ञान का धाम ज्ञान में ही निश्चित रूप से प्रकाशित स्वयं प्रत्यक्ष कर्त्तव्य–रहित अचल एक परम ज्ञाता ही देखे। एकान्त मिथ्यात्वी ईश्वर को कर्त्ता मानता है। देव–शास्त्र–गुरु के प्रति दृढ श्रद्धा के बिना स्वयं को भेद विज्ञानी मानता है। सन्तानहीन को मुक्ति प्राप्ति में बाधक मानता है, पुरुषार्थवाद को नहीं स्वीकारता है।

2. ***विपरीत मिथ्यात्व :*** एकान्तवादी हठवादी होता है। मिथ्यात्व को स्वीकारने वाला **विपरीत मिथ्यात्व** को भी मुक्ति का कारण मानता है। जैसे परिग्रह सहित भी जीव मोक्ष का अधिकारी होता है। यद्यपि जब तक जीव के पास किसी भी प्रकार का परिग्रह है, लोभ है तृष्णा है, भय है, स्नेह है, आकांक्षा है तो वह मोह का रूप है और मोह मुक्ति में बाधक है। स्त्री की मुक्ति को स्वीकार करता है और इस मिथ्यात्व के बढ़ते प्रभाव ने तीर्थंकर को भी स्त्री के रूप में स्वीकार किया है। भगवान महावीर का गर्भ परिवर्तन स्वीकारा है। केवली के कवलाहार माना है, जो जैन धर्म के विपरीत धारणा होने से मिथ्यात्व ही है। ऐसे धर्म विचारों को आत्महित में कारण मानकर स्वीकारना भी विपरीत मिथ्यात्व है। जो लोग तीर्थ जल स्नान से आत्मा की शुद्धि मानते हैं। श्राद्ध–तर्पण करने से मृतकों की तृप्ति होती है। गाय के शरीर में तैंतीस करोड देवताओं का निवास मानकर पृष्ठ भाग की वन्दना को धर्म मानते हैं। ये सभी विपरीत मिथ्या–दृष्टि हैं। कुछ विपरीत मिथ्यात्वी पंचमकाल में दिगम्बर मुनि का होना भी नहीं स्वीकारते, जबकि शास्त्रों में कथन है–'पंचम काल के अन्त तक दिगम्बर मुनि, आर्यिका, श्रावक–श्राविका होंगे।' विपरीत मिथ्यात्व के परिणाम वाला जीव धार्मिक–क्रियाओं को ढोंग सेवा क्रिया को धर्म मानता है, जबकि सेवा–क्रिया पुण्य बन्ध में कारण है। धर्म क्रिया कर्म क्षय में कारण है।

3. ***संशय मिथ्यात्व :*** इस पंचमकाल में साक्षात् मोक्ष नही है, तो कभी–कभी मन में विचार उत्पन्न हो जाता है मन डावा–डोल हो जाता है और सोचने लगता है इतनी साधना कर रहा हूँ–मुझे मोक्ष मिलेगा या नहीं ? क्या मोक्ष का रास्ता यही है ? मन्त्र शक्ति नहीं दिखती तो मन कहता है ये मन्त्र–तन्त्र सच्चे है या झूठे प्रतिमा का अतिशय दिखाई नहीं पडता तो क्या प्रतिमा पूजने से सम्यक्त्व मिलता है ? साधना करते समय भी मानसिक शांति नहीं मिलती। क्या साधना सच्ची है ? यानि की सद्धर्म वीतरागता के पथ पर कदम बढ़ाने के उपरान्त भी मन चलायमान है। संशय से ग्रसित हो तो परिग्रह के प्रति आसक्त जीव संशय में डोलते रहते हैं। घर में रहकर मरुदेवी को झाड़ू लगाते, मोक्ष मानने वाले सोचते हैं–जब मोक्ष इतना सरल है तो साधना का पुरुषार्थ क्यों करूँ ? अगर पुरुषार्थ के बाद भी शान्ति नहीं मिली तो क्या होगा ? मैं न तो ससार का सुख भोग सका

न ही मोक्ष का आनन्द ले पाऊँगा। यह संशय मिथ्यात्व हुआ।

4. *विनय मिथ्यात्व :* यह सब प्रकार के देव–गुरु में सब प्रकार के मतों में समान भाव रखना विनय मिथ्यात्व है इस मिथ्यात्व का सर्वाधिक प्रचलन है। वर्तमान में व्यक्ति भयभीत हो चुका है। वह सोचता है अगर इसे प्रणाम नहीं किया तो श्राप देवेंगे। पर ध्यान रहे धर्म मानकर, प्रभुमानकर, गुरुमानकर कही पर भी सिर नही झुकाना चाहिए। पहले प्रभु के गुण हैं या नहीं–यह समझ लेना चाहिए जो लोग गुण अवगुण को नहीं जानते वे ही विनय मिथ्यात्व को स्वार्थ वश स्वीकारते हैं। भय के कारण नाग की, यक्ष की पूजा करते हैं। धन–सम्पत्ति, पुत्र की आकांक्षा से देवी–देवता की आराधना करते हैं। ये सभी अस्त्र–शस्त्र वस्त्रधारी देवी–देवता समता परिणामी नहीं, क्रूर परिणामी है, देव गति के भटके हुए जीव है। ये तो सिद्ध करने पर मनुष्यो के भी सेवक बन जाते हैं। मनुष्य को अपने पुण्य पर, वीतराग धर्म पर आस्था रखनी चाहिए। यह ग्रहीत मिथ्यात्व तो प्रभु ऋषभ देव के समय से चल रहा है। हमे स्व–स्वरूप को जानने के लिए विनय–मिथ्यात्व को नहीं, विनय–भाव को स्वीकारना चाहिए। अपने से बडा मानकर नमन् करना आदरभाव है, पर प्रभु–गुरु मानकर उन्हें नमस्कार करना मिथ्यात्वभाव है। धर्म समन्वय नहीं। समर्पण को स्वीकार करता है। स्त्री सभी एकसी है पर पत्नि के रूप में अलग है, माता के रूप में अलग है, बहन के रूप में अलग है–व्यवहार बदल जाता है शब्द के रूप में, भगवान शब्द एक है पर गुण भगवान के जब तक न हो, अस्त्र–शस्त्र–वस्त्र से मुक्ति न हो तब तक उसे भगवान मानना स्वयं को संसार में भटकाना है।

श्रद्धा में वीतरागता के गुण देखने चाहिए। विनय में उम्र–गुण–पद देखना चाहिए। समन्वय की भावना ने धर्म की मौलिकता का लोप किया है। इसलिए जैन बनने के इच्छुक जीव को 'विनय मिथ्यात्व' से बचना चाहिए। यह मिथ्यात्व भय से, स्नेह से, लोभ से प्रगट होता है। कार्य–सिद्धयर्थ इंसान इधर–उधर भटकता है। शायद यही मेरे कार्य की सिद्धि होगी की भावना ही उसे सभी अनायतनों में झुकने को मजबूर करती है। यह भी नहीं सोचना चाहिए–'णमोकार मन्त्र' पढ़ते हुए अगर प्रणाम कर लिया तो क्या हुआ ? यह भाव मायाचारी का भाव है। क्योंकि मन में कुछ व क्रिया में कुछ है। इसलिए इस विनय मिथ्यात्व से बचें।

5. *अज्ञान मिथ्यात्व :* हित–अहित की परीक्षा किये बिना धर्म पर श्रद्धा करना अज्ञान मिथ्यात्व है। इस मिथ्यात्व का जोर ही जीव को मन्त्र–तन्त्र–यन्त्र के षड्यन्त्र में फँसाकर जीवका जीना दुभर कर रहा है। टोना–टोटका, भूत–प्रेत, डाकिनी–शाकिनी के भय निवारणार्थ तरह–तरह की अनर्गल प्रवृत्ति सभी समाज में व्याप्त हैं, जो धन का एवं जीवन का शोषण कर रही है। अन्ध परम्परायें बनी हुई हैं, जिसका कोई तर्क है न कारण है, पर

किसी ने कहा है और दुःख दूर करने की भावना से उस मिथ्यात्व को स्वीकार कर लिया। कभी देवी–देवता दूध पीते हैं तो गधे–सुअर के स्पर्श से परीक्षा पास कर ली जाती है तो गोदना गुदवाने से प्रेत आक्रमण (अटैक) नहीं करते, तो कोई गाय की पूँछ में तैंतीस करोड देवताओं का वास मानते हैं, तो कोई शैतान को पत्थर मार कर धर्म की पूर्णाहूति समझते हैं, तो कोई लुडककर तीर्थ वन्दनाकर स्वयं को धन्य समझते हैं। ये सभी अज्ञानता है ओर तो और मूक–पशुओं को यज्ञ में झोंक कर उसे स्वर्ग में जाने की कामना और स्वयं भी स्वर्ग जाने की कामना करते हैं। इससे बड़ा अज्ञान क्या हो सकता है ? पशुओं को यज्ञ में झोकने से देवों की तृप्ति होती है। यज्ञ के नाम पर कैसे–कैसे क्रूर–कृत्य होते हैं। पहले पशु को स्वच्छ सुगन्धित जल से नहलाया जाता है फिर देखा जाता है अंग–भंग तो नहीं है। न काना हो, न कनफटा हो, न लंगड़ा हो, न मुच्छ विहीन हो, चार पैर के आठ खुर वाला हो फिर मंत्राहुति के साथ वध कर दिया जाता है औरों को गड्ढे में दबा दिया जाता है। जबकि जैन दर्शन कहता है कि साक्षात् पशुओं को मारना तो दूर की बात है अगर आटे–मिट्टी मे भी पशु का संकल्प कर वध किया जाता है तो वह भी नरक गामी होता है।

पंचाग्नि तप को करते और देते तन को कष्ट हैं।
है समीप मिथ्यातम उनके करता जीवन नष्ट है।।

पंचाग्नि तप को तपते हैं, रात्री में धूनी रमाते हैं। बिना देखी–सोधी जमीन पर ही चारों तरफ अग्नि व पंचम अग्नि सूर्य को मानकर उल्टे खड़े रहना, एक पाँव से खड़े रहना, बैठकर वृक्षों की छाल लपेट कर साधना करते हैं और तन को कई प्रकार का कष्ट देते हैं। कोई लोहे की साँकल पीठ पर मारकर स्वयं को लहूलुहान करते हैं। कोई जटा बढ़ा लेते हैं, कोई गरम रेत पर लेटते हैं, कोई नारियल के खप्पर पर ही भोजन करते हैं, कोई श्मशान में भभूत लगाये साधना करते हैं, कोई काँटों की शय्या पर लेटते है। यही मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व से ग्रसित हुआ जीव अनादिकाल से एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय की पर्याय में निरन्तर भ्रमण कर रहा है, निरन्तर आर्त व रौद्र ध्यान कर भयानक पापोपार्जन कर रहा है। जो आत्मा के कल्याण में कारण नहीं अपितु संसार में भटकाने में कारण हैं और जो अग्रहीत मिथ्यात्व है वह अनादिकाल से जीव के साथ लगा ही हुआ है। इसलिए संसार की परम्परा को समाप्त करने के इच्छुक जीवों को चाहिए कि सदाचारी से जैनाचारी आचरण को स्वीकार करके पाप व्यसन से तो बचें ही। देव–शास्त्र–गुरु की आराधना कर स्वयं को भव भ्रमण से बचायें और सच्चा जैन बनकर इहलोक–परलोक को सुखी समृद्ध बनावें।

"देव मूढ़ता"

वस्त्र शस्त्र को धारण करते जगति के ये मिथ्या देव।
धन सुत आदि की इच्छा से करते इन कुदेव की सेवा।।
सांसारिक सुख की वांछा से इनकी जो पूजा करता।
देव मूढ़ता कहलाता है भव बन्धन भी है बढ़ता है।।25।।

अर्थ :

अस्त्र शस्त्र वस्त्र से युक्त सांसारिक झूठे देवी–देवताओं की, धन–पुत्र आदि सांसारिक इच्छा से पूजा सेवा आदि करना 'देव मूढता' कहलाता है। इनकी पूजा वन्दना करने से संसार बढता है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

अन्ध विश्वास को मूढ़ता कहते है। कभी किसी ने किसी कारणवशात् कोई कार्य कर लिया तो उसे ही परम्परा मानकर कारण जाने बिना अहेतुक कार्य को करना ही मूढता है। जब तक मनुष्य के मन से अन्ध परम्परायें समाप्त नहीं होगी तब तक समाज सुख की सांस नहीं ले सकता। मूढता का अर्थ यह नहीं है कि देश काल परिस्थिति बदल जाने पर स्वयं को बदलने की चेष्टा करे तो वह अज्ञान का द्योतक होगा। सदा ख्याल रखे–परम्परा पर चलना धर्म है। लकीर का फीकर बनना मूढ़ता है। मूढता के सागर में गोते लगाने वाले इंसान परमात्मा से वह अपेक्षा कर बैठते हैं। जिससे परमात्मा का कोई लेना–देना नहीं है। अरे परमात्मा तो दुनियादारी से मुक्त है वह तुम्हें दुनिया से मुक्त करता है, लेकिन मोहाभिभूत इंसान परमात्मा से भी संसार की कामना करता है, वह भी उस परमात्मा से जिसमें परमात्मा के गुण तो नहीं है, परमात्मा मान लिया।

वस्त्र शस्त्र को धारण करते जगति के ये मिथ्या देव।
धन सुत आदि की इच्छा से करते इन कुदेव की सेव।।

वर्तमान में इंसान ने अपनी आकांक्षा की तृप्ति के लिए अनेक देवी–देवताओं का निर्माण कर लिया है और उनकी पूजा आराधना करके न जाने कितनी तमन्नाओं की पूर्ति करना चाहता है। कितनी क्रियाओं को धर्म–भावना से करता है। कभी व्रत करता है, कभी

उपवास करता है, कभी यज्ञ करता है, कभी रात्रि जागरण करता है, कभी लुढकता हुआ यात्रा करता है। यह सब मिथ्यात्व के उदय के वशीभूत होकर अज्ञान के कारण करता है।

अब आप स्वयं विचार करें–अस्त्र–शस्त्र को धारण कौन करता है ? जो भयभीत हो, जिसे अपनी सुरक्षा की भावना है। वस्त्र कौन पहनता है ? जिसके भीतर वासना हो। कभी–कभी हम अपनी आकांक्षा की तृप्ति के लिए भी परमात्मा को अपने मतानुसार अस्त्र–शस्त्र–वस्त्र युक्त कर देते है। यानि स्वयं पतित हुए और परम–पवित्र परमात्मा को भी पतित कर दिया। जैसे तद्‌भव मोक्षगामी जीव कामदेव के समान सुन्दर हनुमान जी को लोगो के अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर बन्दर का रूप देकर भगवान मानकर पूजना प्रारम्भ कर दिया, जबकि हनुमान जी सीता जी की सुरक्षा करने, उनकी खोज–खबर लेने अशोक–वाटिका में अपनी विद्या से बन्दर का रूप बनाकर गये थे। वे महायोद्धा थे। बचपन में ही विमान से गिरे शिला चूर–चूर हो गयी उनका कुछ भी न बिगडा ऐसे हनुमान जी वीतरागता को अपना कर मुक्ति प्राप्त की। पर मिथ्यात्वी जीवों ने उन्हें भी बन्दर का रूप देकर परमात्म–स्वरूप को विकृत कर दिया। श्री रामचन्द्र जी बलभद्र थे। समता परिणामी जीव थे द्वन्द्व से परे थे।

सीता हरण होने के कारण ही युद्ध को स्वीकार किया। हल–मूसल–धनुष बाण से युद्ध किया, पर लोगों ने धनुष बाण पकडा कर पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। जब कि राम का रूप सौम्य वीतरागी है। ग्रहस्थ अवस्था का राम हनुमान की प्रतिमा बनाकर पूजना भी मूढ़ता है। जैन दर्शन में 24 तीर्थकर हुए, सभी क्षत्रिय थे। कामदेव चक्रवर्ती भी तीन तीर्थकर थे, पर कभी किसी भी तीर्थंकर को ग्रहस्थ अवस्था के अनुसार वेश प्रदान कर, प्रतिमा बनाकर पूजा–आराधना नहीं की; क्योंकि देवता तो राग–द्वेष से परे 18 दोषों से रहित होते हैं। रत्न करण्ड श्रावका चार में आचार्य समन्त भद्र देव ने कहा है–

वरोपलिप्सयाशावान् रागद्वेषमलीमसाः।
देवता यदुपासीत, देवतामूढ़ मुच्यते।।23।।

वांछित फल की प्राप्ति हेतु राग द्वेश से युक्त देवी देवता की उपासना करना देव मूढ़ता है। सच है संसारी प्राणी की अनेक प्रकार की आकांक्षाएँ है। कोई–न–कोई दुःख अवश्य है। कोई पुत्र की आकांक्षा से भरा है, कोई पत्नी की कोई पद की तो कोई व्यापार वृद्धि की, कोई मुकदमे की तो कोई सर्विस लगाने की, तो कोई उच्च पद की तो कोई

जमीन–जायदाद की तो कोई शत्रु पर विजय चाहता है तो कोई चुनाव में विजय कोई परीक्षा में पास होना चाहता है तो कोई चोटी पर विजय पताका फहराना चाहता है; कहीं न कहीं कोई आकांक्षा सभी में है। अपने पौरुष से उससे फलीभूत न होता हुआ जानकर कहीं न कहीं मनोतियाँ मनाने जाता है। कभी बाला जी कभी भैरों जी, कभी मजार, कभी पहाड़, कभी नदी, कभी वृक्ष, तो कभी सिंह वाहिनी, तो कभी मूषक–वाहन वाले, तो कभी श्वान–वाहन, तो कभी नागवाहन, कहीं पर बस पता चल जाये कि यहाँ जाकर ये मॉगने से मनोकामना की पूर्त्ति होती है तो उसका सारा सिद्धान्त एक तरफ रह जाता है–बस ! मेरा घर–धन–लक्ष्मी–पद–प्रतिष्ठा परिवार से परिपूर्ण हो जाये। बस ! अदेवों में देवता की कल्पना कर, पूजा करने से भवरोग ही बढ़ता है।

सांसारिक सुख की वांछा से इनकी जो पूजा करता।
देव मूढ़ता कहलाता है भव बन्धन भी है बढ़ता।।

सामान्य रूप से देवताओं को भी चार भागों में विभाजित कर ले–

1. अदेव 2. कुदेव 3. सुदेव 4. देवाधिदेव

अदेव : अर्थात् जिसमें देवत्व के गुण की बात तो दूर आकृति भी नहीं है। उसे पूजना अर्थात् कहीं पर भी वृक्ष के नीचे आले में, सडक के किनारे जहॉ भी स्थान मिले पत्थर को लाल–पीले रंग से पोतकर अगरबत्ती जलाकर पूजा करना, और कराना, मजार मे, कब्र में जाना चादर चढाना मूढता है। पीपल, बड, आँवला, नीम, तुलसी, केला आदि के वृक्ष पर धागा बॉधना, जल चढाना, दीप जलाना मिथ्या मान्यता है। अरे ! ये तो एकेन्द्रिय जीव है भला ये तुम्हें क्या दे सकते हैं। ये तो मात्र पर्यावरण को स्वच्छ रखते हैं। इनकी सुरक्षा करने से वायु शुद्ध मिलेगा जो स्वास्थ्य में कारण है। पूजा करने से तो कुछ भी नहीं मिलता। कोई कपडा बाँध रहा है, कोई चूडियॉ–सिन्दूर चढा रहा है तो कोई परिक्रमा लगा रहा है। यह सब दर्शन–मोह से विक्षपित प्राणी विवेक–शून्य होकर कार्य करता है। जो इनकी पूजा, आराधना करता है वह अदेव की मान्यता करता है।

कुदेव : कोई विषयासक्त क्रूर शस्त्र–अस्त्र से सुज्जति देवी देवता की पूजा करते हैं, रक्त चढ़ाते हैं, धन चढ़ाते है, व्रत करते हैं। सोचें–जो अपना ही कल्याण नहीं कर सके। अपनी इच्छा की पूर्त्ति के लिए ही साधना छोड़ी वह हमारा कल्याण कैसे कर सकते हैं। ये सभी देवगति के जीव हैं, अपने–अपने भवन में रहते हैं अतः इनकी पूजा करना भी दोषपूर्ण हैं, मूढ़ता है।

सुदेव : जो देवगति के जीव जिनेन्द्र भगवान के उपासक होते है, उनकी पूजा करना भी देवमूढ़ता है। वर्तमान में चक्रेश्वरी, ज्वालामालिनी, पद्मावती, कुण्माडिंनी काल भैरव, क्षेत्रपाल, मणिभद्र, मानभद्र आदि की पूजा आराधना जैन मन्दिरों में भी होने लगी है। सिन्दूर चढ़ाना, श्रृंगार करना, वस्त्र बदलना, चोला चढ़ाना, शुक्रवार व्रत रखना, यह भी सुदेव पूजा रूप मूढ़ता है।

यद्यपि श्री जिनेन्द्र देव के यक्ष और यक्षिणी सुदेव है। प्रभु की आराधना में तल्लीन रहते है, पर अव्रति के समान ही चतुर्थगुण स्थान वर्ती है और इन सबकी आरती करना, पूजा करना सम्यक्त्व मे दूषण है। हाँ इन्हें आप अपने समान ही साधर्मी मान कर जयजिनेन्द्र कर सकते है। प्रतिष्ठा ग्रन्थों के अनुसार –

पूजा विधान आदि धार्मिक कार्यो में इनका आह्वान करके शुद्ध इच्छानुसार फल फूल, सुगन्ध अक्षत, जल आदि लेकर **"एतत् फलं पुष्पं मोदकं ग्रहाण ग्रहाण"** शब्द का उच्चारण कर सामग्री भेंट कर सकते हैं ये न सोचें की णमोकार मंत्र पढ़ते हुए इनकी पूजा वन्दना करले तो क्या दोष है। यह दोष नहीं अपितु मायाचारी है। इसलिए वर्तमान श्रावकों को अपने सम्यक्त्व का ध्यान रख कर 'सुदेव' पूजा से भी बचना चाहिए।

देवाधिदेव : अट्ठारह दोषों से रहित वीतरागी जिनेन्द्र भगवान ही पूज्य है, आराध्य है। ऐसा मानकर मात्र इनकी पूजा–वन्दना करना मूढता से रहित होना है। पर यहाँ भी यह ध्यान रखने योग्य बात है कि वर्तमान काल में लोग अतिशय क्षेत्र महावीर जी, तिजारा, पद्मपुरी, पुष्पगिरी, अहिक्षेत्र पार्श्वनाथ आदि तीर्थ जाते हैं। वहाँ पर भी अपनी आकांक्षा को लेकर जाते हैं। ध्यान रखे भक्ति की छाती पर माँग चढ़ी की भक्ति भरी। दिगम्बर प्रतिमाओं के समक्ष जाकर स्त्री–पुत्र–पति–धन–व्यापार की आकांक्षा करना मूढ़ता ही है। कई लोग तीर्थ–क्षेत्रों पर जाते है और प्रतिमा के दर्शन कर भावना भाते हैं–मेरा यह कार्य हो जाये तो मैं छत्र चढाऊँगा, कमरा बनवाऊँगा, यह सामग्री भेंट दूँगा और परिक्रमा करते समय मन्दिर जी के पीछे की दीवार पर उल्टा स्वास्तिक बनाकर आ जाते हैं। काम सिद्ध हुआ तो सीधा करने आऊँगा, नहीं हुआ तो उल्टा ही स्वास्तिक बना रहेगा। यह भाव भी मूढ़ता है।

वीतरागी भगवान तो पूजा से प्रसन्न नहीं होते, निन्दा से नाराज नहीं होते, अपितु शुद्ध मन से पूजा करने से पुण्य की वृद्धि होती है और पुण्य के बढ़ जाने से मनोकामना की पूर्त्ति स्वयमेव ही हो जाती हैं। बिना पुण्य के उदय में आये हजार पुरुषार्थ भी विफल हो जाते हैं। भगवान के पास भिखारी बनकर नहीं, पुजारी बनकर जाये, इतना ही सोचें। खेत

में बीज बोने के बाद बीज की प्राप्ति की आकांक्षा ही रखे, बीज मिलने से घास तो अपनेआप ही प्राप्त हो जायेगा। यद्यपि वीतरागी प्रभु की भक्ति में सांसारिक आकांक्षाओं की तृप्ति की बात शास्त्रों में लिखी है–"**अपुत्रिन कोतु भले पुत्र दिने**"

'कामदं मोक्षदं चैव ॐ कराय नमो नमः

विषं निर्विषतां यान्ति स्तुयमाने जिनेश्वरैः

तस्याशु नाश मुपयाति मयंभि येव,

यस्तावकं स्तवमिमं मतिमान धीते'

यह सत्य है, पर यह भावना ग्रहीत मिथ्यात्व से छुडाने के लिए है जबकि सद्धर्मानुयायी अपनी कामना की तृप्ति के लिए कम से कम अदेव, कुदेव के पास तो न जाये, कदाचित् सुदेव के पास भी जायेगा तो वह भी जिन मन्दिर में ही मिलेगा और वहॉ पर भी गया तो जिनेन्द्र भगवान के ही दर्शन होंगे, ताकि प्रथम अवस्था में मिथ्यात्व टूट सके और जिन धर्म के प्रति आस्था जागृत हो सके। यह भावना मूलक भक्ति है याचना मूलक नहीं। यहॉ यह जान लेना आवश्यक है कि भगवान की भक्ति में इतनी क्षमता है कि जीव संसार के समस्त पदार्थ भी पा सकता है और निःसंकोच भक्ति को तो मोक्ष मार्गरूप, सत्य मार्ग का द्वार भी उद्घाटित कर कता है। इसलिए मूढता से बचें। द्रव्य संग्रह ग्रन्थ में आचार्य देव ने स्पष्ट लिखा है–

"वीतराग सर्वज्ञ देवता स्वरूपम जानन ख्याति पूजा लाभ रुप लावण्य सौभाग्य पुत्र कलत्र राज्यादि विभूति निमित्तं रागद्वेषोपदत्तार्ता रौद्र परिणत क्षेत्रपाल चण्डिकादि मिथ्या देवानां यदाराधनं करोति जीवस्देवमूढ़त्वं भण्यते।"

वीतराग सर्वज्ञ देव के स्वरूप को न जानता हुआ जो व्यक्ति ख्याति, लाभ, सम्मान, रूप–लावण्य, सौभाग्य पुत्र, स्त्री, राज्य आदि सम्पदा प्राप्त होने के लिए राग–द्वेष युक्त आर्तरौद्र ध्यान रूप परिणामों वाले क्षेत्रपाल चण्डिकादि मिथ्या–दृष्टि देवों की आराधना करता है। उसको देव मूढ़ता कहते हैं। इस मूढ़ता से बचना ही स्वयं के देवत्व को प्रगट करना है।

इतना पढ़कर भी मिथ्यात्व से नहीं बच सके तो ध्यान रखें–

"पठन्नपि वचो जैनं मिथ्यात्वं नाविमुञ्चति

कुदृष्टि पन्नगो दुग्धं पिवन्निव महाविषम्।"

मिथ्या दृष्टि जीव जैन शास्त्र पढता हुआ भी मिथ्यात्व को उसी प्रकार नहीं छोड़ता जिस प्रकार दूध पीता हुआ भी साँप महाविष को नहीं छोडता।

"गुरु मूढ़ता'

चिमटा रखते छाल लपेटे संगारंभ से युक्त है।
जग के झंझट में उलझे वैराग्य भाव से मुक्त है।।
ऐसे कुगुरु की जो प्राणी अर्चन आदर करते हैं।
गुरु मूढ़ता सहित स्वयं वे जग पीड़ा को सहते हैं।।26।।

अर्थ :

जो चिमटा आदि रखते हैं छाल, वस्त्र आदि लपेटे रहते हैं, जग के झंझट में फँसे हुए है, वैराग्य भाव से रहित, मोह से युक्त है, ऐसे कुगुरु की सेवा अर्चा पूजा करना गुरु मूढता है। इनकी पूजा वन्दना आदि करने से संसार की पीड़ा सहन करनी पड़ती है।

विवेक विकासिनी विवेचन :

गुरु शब्द बडा प्यारा है। यह शिष्य के मन का अन्धकार दूर करने वाला है, ज्ञान का प्रकाश देने वाला है, परन्तु वर्तमान में गुरु शब्द भी आचरण रहित जीव के पास पहुँचने के कारण दूषित हो गया है। वर्तमान में भारत वर्ष में लगभग 70–80 लाख साधुओं की संख्या है, जो बने तो आत्म–कल्याण के नाम पर, पर साधुता पनप नहीं सकी। वेश भर बदला है, आचरण नहीं बदला। प्रवर्चन सुनाना तो सीखा, आचरण में उतरना नहीं जाना। इसलिए गुरु की गुरुता नहीं आ पाई। गुरुपना तो ममता छोडने से, समता धारण करने से, वीतरागता जाग्रत करने से, अहिंसा, सत्य, अचौर्य, बह्मचर्य, अपरिग्रह के पालन करने से आती हैं।

अगर संसार के गोरख–धन्धे में फँसे हैं तो गुरुता भी नहीं है, साधुता भी नहीं है। इसलिए कहा है–

'चिमटा रखते छाल लपेटे संभारंभ से युक्त है'

जो अपने हाथों में चिमटा रखते हैं, कपाल रखते हैं, छाल लपेटते हैं, सिंह–मृग के आसन पर बैठते हैं, धूनी रमाते हैं, आरम्भ परिग्रह व्यापार से युक्त हैं। सांसारिक वैभव से संपन्न स्वयं उसका उपयोग करते हैं, ऐसे व्यक्ति को गुरु मानकर उपासना करना **'गुरु मूढ़ता'** है। यहाँ गुरु का निषेध नहीं, पाखण्ड का निषेध है। मनुष्य कितना भी बुद्धिमान, तपस्वी, यशस्वी हो जाये फिर भी उसे अपने मस्तक पर सद्गुरु का आशीष अनुशासनधारण करना चाहिए; क्योंकि जिस प्रकार नौका के बिना केवल भुजाओं से कोई

भी समुद्र पार नहीं कर सकता, उसी प्रकार वीतरागी गुरु को अपनाये बिना भव–समुद्र को पार नहीं कर सकता। इसलिए कहा जो सूत के रेशम के, अनेक चर्म के, वृक्षों के, छाल के, किसी भी प्रकार के वस्त्र से युक्त है। वे नियम से वासना से ग्रसित है। वस्त्र विकारों को छिपाने का माध्यम है। यहमोह को विकल्प को जन्म देता है। इसलिए यह रक्ताम्बर, पीताम्बर, नीलाम्बर, श्वेताम्बर किसी भी रूप में है तो कामना–वासना को छिपाने के माध्यम है, जो ब्रह्मचर्य की पराकाष्ठा तक नहीं पहुँचने देता है। इसलिए ऐसे वस्त्र–शस्त्र खाने के उपकरण धारने वालों के मन में–**'भस्मी भूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः'** की भावना रहती है। 24 घन्टे में कई बार खाकर पीकर जीवनयापन करते हैं **भक्ष्य–अभक्ष्य** कन्दमूल का भी ध्यान नहीं रखते। इसलिए गुरु के योग्य भी नहीं होते हैं। ये कुगुरु कहलाते हैं जो व्रतों से भ्रष्ट होते हैं। क्रूर परिणामों को धारण करते हैं। **'क्षणेरुष्टा, क्षणे तुष्टा रूष्टा-तुष्टा क्षणे-क्षणे'** के सूत्र को चरितार्थ करते हैं।

पूजा वन्दना करने पर वरदान न करने पर अभिशाप कर दिखाते हैं, जो आरंभ परिग्रह से युक्त हैं दुनिया की विभूति को देखकर धीरे–धीरे उसमें ही रचने–पचने लगते हैं और कमाने–खाने और सामग्री बटोरने में लगे रहते हैं। दूसरा साधक उसी मार्ग पर बढे तो बैर–विरोध होने पर कोर्ट–कचहरी में जाने से भी संकोच नहीं करते और स्वयं धर्म भ्रष्ट होकर दूसरों को भी भ्रष्ट करते हैं। कभी–कभी दूसरों को पूजता हुआ देखकर, ठाठ–बाट देखकर और भी साधु–मार्ग पर निकल पडते हैं। पर इन्द्रियों पर नियन्त्रण न होने के कारण, आकांक्षा बलवती होने के कारण उच्छृंखल प्रवृत्ति को बढ़ावा देने लग जाते हैं। अपनी आकांक्षाओं को तृप्त करने के लिए ग्रहस्थाश्रम से भी ज्यादा सामग्री जुटाकर अपना मठ, आश्रम बना लेते हैं। जो कार्य एक ग्रहस्थ नहीं करता उससे भी ज्यादा खोटे कर्म स्वयं करने लगते हैं और अनेक प्रकार के जादूटोंना, झाड़फूँक, मन्त्र–तन्त्र, तमाशा, डोरा–ताबीज, भभूत आदि देकर अपना शिष्य भक्त बनाये रखने की चेष्टा करते हैं। वे सब पाखण्डी हैं। इनकी सेवा–अर्चा करना ही **'गुरु मूढ़ता'** है।

अगर इन्हें प्रोत्साहन दिया जाता है तो मार्ग में भी दूषितपना आने लगता है। इनको छोड़ना ही योग्य है। कुछ तो स्वयं को गुरु बताकर, गांजा, भाँग, बीड़ी–सिगरेट, शराब, हुक्का, चिलम, सिगार पीने में भी संकोच नहीं करते हैं। सिर–दाढ़ी–मूछें के बाल बढ़ाकर केश बनाकर मात्र कथा–वाचन कर लोगों को आकर्षित कर जीवन यापन करते हैं। आत्म–कल्याण से मतलब नहीं रहता, उनकी आराधना करना ही **'गुरुमूढ़ता'** है।

ऐसे कुगुरु की जो प्राणी अर्चन आदर करते हैं।
गुरु मूढ़ता सहित स्वयं वे जग पीड़ा को सहते हैं।।

गुरु वर्तमान में तीन प्रकार के होते हैं–

1. पत्थर की नाव की तरह
2. कागज की नाव की तरह
3. लकड़ी की नाव की तरह

1. ***पत्थर की नाव की तरह :*** पत्थर की नाव की तरह गुरु वे हैं जो स्वयं डूबते हैं और दूसरों को भी डूबोते हों, जो व्यसनों से युक्त हैं, लच्छेदार भाषणों के माध्यम से लोगों को प्रभावित कर लेते हैं। लाखों का दान कराने में कुशल हैं। देश–विदेश में जाल फैला रखा है। ये समझते सभी बातों को हैं, पर जलते दीपक की तरह अपनी चमक–दमक से दूसरो को एकदम चकाचौध करने की महत्वाकांक्षा से बच नही पाते हैं। इनकी आत्मा कई बार इन्हें कचोटती रहती है। अपने अनिष्ट कार्यों के कारण कलई खुलने का भय रहता है। अन्तर्हृदय प्रेरणा तो देता है, पर मोह की मदिरा इन्हें इस पाप से बचने नहीं देती। कई बार ऐसे कुगुरु बहुत सहिष्णु भी हो जाते है, कटु वचनों को भी सह लेते हैं, दूसरों को कटु, हिंसायुक्त, मर्मभेदी शब्द भी नहीं कहते, किसी की निन्दा–चुगली नहीं करते, क्रोध, मान, माया–लोभ से भी ग्रस्त नहीं होते, चमत्कार भी नहीं दिखाते, न अपनी प्रशंसा करते न करवाते हैं। सद्भाव से जो हो जाये उसी में सन्तुष्ट रहते हैं। स्त्री–पुत्र के चक्कर में भी नहीं पड़ते। एकान्तवास करते हैं। वृक्षों के पत्ते खाकर जीवित रहते हैं। राग–द्वेष भी नहीं करते, विरक्त सिद्धिधारी होते हैं पर वीतराग मार्ग के पोषक न होने के कारण इनके भीतर का दर्शन मोहनीय कर्म इन्हें सत्य मार्ग से भटकाकर स्वर्ग तक की यात्रा कराता है। इसलिए इन्हें कुगुरु कहा; क्योंकि साधना समता की है। मिथ्यात्व विसर्जन की नहीं है। ऐसे गुरु पत्थर की नाव की तरह है, सुन्दर है, नक्काशीदार है पर स्वयं भी डूबते है, जो इस नौका को स्वीकार करता है, उसे भी भव समुद्र में डूबो देते हैं।

2. ***कागज की नाव की तरह :*** जो न स्वयं तरते हैं, न दूसरों को तारते हैं। ऐसे लौकिक गुरु कागज की नाव की तरह हैं। शब्द तो है पर सत्य नहीं है, दार्शनिक तो है पर साधक नहीं है, कलम तो अच्छी है पर कदम नहीं चलते, पढ़ा तो सकते हैं पर आचरण नहीं करा सकते। ये शिक्षक के रूप में है जो बातों के बादशाह होते हैं, आचरण के आचार्य नहीं। जीवन जीने की कला के सूत्र तो बतलाते हैं पर स्वयं घुट–घुट कर मर जाते हैं। दूसरों को जिताने का मन्त्र तो देते हैं, पर अवसर पर स्वयं हार जाते हैं। जीवन को साक्षर तो कर देते हैं पर सार्थक नहीं कर पाते, शास्त्र में डुबा तो देते हैं पर सत्य में नहीं डुब पाते, पंख तो दे सकते हैं पर उढ़ने की क्षमता नहीं दे पाते। ये शिक्षक के

रूप में हैं जो आँखें तो दे सकते हैं पर रोशनी नहीं दे पाते। वर्तमान में ऐसे ज्ञानी गुरु ग्रहस्थ जीवन जीते हैं। प्रत्येक सूत्र के, पुस्तक लेखन की रायल्टी लेते हैं पत्नी–बच्चों से युक्त होते हैं।

ये सभी धर्मों की जानकारी तो रखते हैं, तत्व को भी जानते हैं, हेय–ज्ञेय उपादेयता को भी समझते हैं, उस पर बड़े–बडे व्याख्यान भी दे सकते हैं, विशालकाय पुस्तक भी लिख सकते हैं–तद्नुसार वे आचरण करने में समर्थ नही होते क्योकि उनकी बुद्धि पर अश्रद्धा के राहु केतु आवरण डाले रहते है। जिस कारण वे तत्वज्ञान की बातों को आचरण में लाने से कतराते हैं। ज्ञान की बडी–बडी बातें करने के बाद भी अपने कुव्यसन–मौज, शौक, शान, विलासिता के चंगुल से बच नहीं पाते। इनके पास पाण्डित्य और बौद्धिकता होती है, इसलिए ये मिथ्यात्व से ग्रसित हैं। स्वयं तो सम्यक् दर्शन से रहित हैं, पर अच्छे मार्ग पर चलाने का वादा करते हैं। वे कागज की नाव की तरह गुरु हैं।

3. लकड़ी की नाव की तरह : ये गुरु स्वयं तरते हैं और दूसरों को भी तारते हैं। इनके रोम–रोम धर्म साधनामय रहता है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, अपरिग्रह, ब्रह्मचर्य के धारी होते हैं, वीतरागता के स्वामी होते हैं। मात्र शरीर चलाने के लिए एक बार अन्न–जल ग्रहण करते हैं, विवेकी होते हैं, तत्वज्ञ होते हैं जिस साधनाशील व्यक्ति में तत्व–निष्ठा बढ़ जाती है उसमें विषयों के प्रति आसक्ति एवं रुचि–अत्यन्त कम हो जाती है। वह अपने आत्म–गुणों की वृद्धि करने, दर्शन, ज्ञान, चरित्र की उत्कृष्ट साधना करने में लग जाता है और परमात्मा के निकट पहुँचने का प्रयत्न करता है। अगर वेश बदलने के बाद भी इन्द्रियों की ओर प्रवृत्ति है तो वह मात्र पाखण्ड है। इसलिए परिग्रह जिनके पास नही है वह गुरु–पद के योग्य है। जब–जब गुरु की विस्मृति होती है, तब–तब व्यक्ति सद्मार्ग से च्युत होता है। संतप्त और दुःखी व्यक्ति को जब सद्गुरु का सहारा मिल जाता है तो उसे रेगिस्तान में पानी मिलने के समान एहसास होता है। अर्थात् मृत्यु में भी जीवन मिल जाता है।

वीतरागता को स्वीकार करने वाले के चरणों में बैठकर अपने पाखण्ड को समाप्त करना चाहिए जीवन में गुरुत्व की गरिमा के साथ जीवन की महिमा का बोध हो सके। अपने जीवन में मनुष्य को विवेकहीन, मिथ्यावादी, भ्रम उत्पन्न करने वाले गुरु का त्याग कर देना चाहिए; क्योंकि जो स्वयं शान्ति प्राप्त नहीं कर सके, वे दूसरे को भी शान्ति नहीं दे सकते है।

"लोक मूढ़ता"

ढेर लगावें पत्थर का या गिरी से कूदे मर जावे।
अग्नि कुण्ड प्रवेश करे और धर्म मानकर नदी नहावे।।
काँटों की शय्या पर लेटे इन सबको जो धर्म कहे।
मूढ़ लोकमूढ़ता में फँसकर भव अरण्य में घूम रहे।।27।।

अर्थ :

पत्थर का ढेर लगाना, धर्म मानकर नदी में स्नान करना, कॉटों की शय्या पर लेटना, अग्नि में जल मरना, इन सब उल्टी क्रियाओं को लोकमूढता कहते हैं। लोकमूढ़ता में फँसा प्राणी कभी संसार से पार नहीं होता।

विवेक विकासिनी विवेचन :

गतानुगतिक प्राचीन परम्परा ने आदमी के विवेक पर प्रहार किया है। जानता, बूझता, समझता इन्सान भय, स्नेह, रोग, मौत, लोभ या किसी कारण वशात् भूल जाता है कि जो मैं कर रहा हूँ उसका कुछ कारण है या नहीं। यह सत्य है या झूठ या जैसा किसी ने कहा–मैंने उलझनों से मुक्ति पाने धर्म की आड में वैसा ही कर लिया। इस प्रकार भीड़ का अनुसरण करना ही लोकमूढ़ता है। यह लोकमूढ़ता सभी सम्प्रदाय में किसी–न–किसी रूप में विद्यमान है, किसी न किसी रूप में इसकी अभिव्यक्ति होती है चाहे कोई कारण हो या नहीं और लोग भी उसे बड़ी सहजता से व श्रद्धा से स्वीकारते भी हैं।

एक कथा बड़ी प्रसिद्ध है। एक कुम्हार अपने गधे को लेकर कहीं जा रहा था। रास्ते में अत्याधिक भार से परेशान होकर वह गधा मरण को प्राप्त हो गया। कुम्हार बड़ा परेशान हुआ–एक ही गधा था, बड़ा, प्यारा था, सभी काम करता था। वह भी बीच रास्ते में दगा दे गया–क्या किया जाये ? फिर सोचा ! चलो पहले इसका दाह–संस्कार कर दिया जाये। उसने दाह–संस्कार कर दिया और उसकी स्मृति में वहाँ एक चबूतरा बनवा दिया। वही अगरबत्ती–दीपक जलाकर शोक व्यक्त करने बैठ गया। कोई पथिक वहाँ से गुजरा–शोक संतप्त कुम्हार को वहाँ शान्त बैठा देखा तो वह भी दीप–धूप जलता देख सोचने लगा कि यहाँ किसी देवता का पवित्र स्थान है–क्यों न मैं भी दो क्षण यहाँ पूजा करूँ और आगे बढ़ूँ। वह भी पास के बगीचे से दो फूल तोड़ लाया और आँखें बन्द करके वहाँ चढ़ा दिये साथ में कुछ रुपया भी चढा दिया और श्रद्धा–भाव से नमन्कर वहाँ से चलता बना। कुम्हार

चुपचाप यह दृश्य देखता रहा और मन ही मन प्रसन्न होने लगा और कहने लगा—अरे ! यह गधा बडा प्यारा है जीते जी भी मुझे कुछ रुपयों का जुगाड़ करा देता था, मरने के बाद भी आज दो रुपये का जुगाड करवा दिया। धन्य है गधा और वह खुशी से उछल पड़ा चलो—रोजी—रोटी का मामला जम गया और वह प्रतिदिन अगरबत्ती, धूप, फल—फूल चढाकर बैठ जाता। कुछ समय के बाद वहाँ से दूसरा पथिक निकला—देखा कुम्हार बैठा है—दीप—धूप जल रहे हैं, फूल—पैसे भी चढ़े हुए हैं। क्या बात है—यहाँ कौन—से देवता विराजमान हैं, कुम्हार कहता है—यहॉ पहुँचे हुए देवता श्री गर्दभसेन महाराज की समाधि है ये बड़े चमत्कारी बाबा हैं। अच्छा! क्या चमत्कार है यहॉ ? अरे साहब ! यहाँ बेरोजगारों को रोजगार मिल जाता है—मन्नते मॉगने से गुमी चीजे (खोई हुई) मिल जाती है, भेंट देने से बीमारी चली जाती है, गहना चढाने से कन्या का विवाह शीघ्र हो जाता है। अच्छा तो इतना बडा चमत्कार है इसका। तो भाई मेरी भी गायें खो गई हैं क्या मिल जायेंगी ? हॉ परसाद चढ़ाओ, मनौती मॉगो फिर देखो चमत्कार। उसने उसी समय फल—फूल, परसाद—पैसे चढ़ाई मनौती माँगी और आगे बढ़ा। इत्तफाक कुछ दूर जंगल में ही गायें चरती हुई दिखाई पडी। जैसे ही गाये मिली वह तो गर्दभसेन महाराज की जयकार लगाते हुए वहाँ पहुँचा छप्पर बनवा दिया, प्रतिदिन किलो भर दूध का चढावा देने लगा और नगर में ढिढोरा पीट दिया कि रास्ते में गदर्भसेन महाराज का चबूतरा है, जो भी वहाँ मन्नतें माँगेगा वह अवश्य ही पूरी होगी। बस क्या था दु:खी—भक्तों की भीड लग गई, खूब चढावा आने लगा। कुम्हार का गधा गर्दभसेन महाराज बन गया और कुम्हार उसका परम भक्त पुजारी बन गया। उसके—ठाठ रहने लगे। उसने काम करना छोड दिया।

कुछ दिनों बाद उसे खुद भी विश्वास होने लग गया कि गर्दभसेन मेरा गधा नहीं कोई महात्मा था और वह स्वयं भी गर्दभसेन महाराज की जय बोलकर जिन्दगी गुजारना प्रारम्भ कर दिया। इसे ही कहते हैं लोकमूढता। अचानक ही गधे को देवता मानकर बिना सोचे—समझे, उचित—अनुचित का विचार किये बिना लोगों की देखा—देखी काम करना, पूजा—आराधना करना ही मूढ़ता है। मूढ़तायें कई रूपों में विभक्त होती हैं।

ढेर लगावें पत्थर का या गिरि से कूदे मर जावे।
अग्नि कुण्ड प्रवेश करे और धर्म मानकर नदी नहावे।।

पत्थर का ढ़ेर लगाना : किसी ने 7 पत्थर लिए और नज़र उतारकर फेंक दिये, दूसरे ने भी पत्थर उठाकर फेंका—वृक्ष प्रसिद्ध हो गया पत्थर वाले देवता के नाम से, जो भी जायें पत्थर फेंके और सफलता की कामना करें। तो कैई जगह अपने देवता के प्रति श्रद्धा अभिव्यक्त करने, शैतान को पत्थर मारने का रिवाज है, तो कैई जगह नदी के पाटों में अलग—अलग व्यक्ति इकट्ठे होते हैं विशेष तिथि को पत्थर फेंककर शगुन मानते हैं, उसे

धर्म समझते हैं। एक जगह कोई नदी स्नान करने गया उसने सोचा–इतनी भीड़ है मेरा सामान खो न जाये तो एक स्थान पर अपना सामान गड्ढ़ा खोद कर रख दिया और ऊपर रेत पहचान के लिए डाल दी थोड़ा सा वह समतल रेत में सौन्दर्य को लिए निखर उठा। एक व्यक्ति ने देखा–रेत का सुन्दर ढ़ेर, उसने भी वैसा ही किया, कई–स्नानार्थियों ने भी ऐसा ही किया। वह स्नान करके अपना सामान ढूढ़ने उसी स्थान पर आया तो देखता है–चारों तरफ छोटे–छोटे रेत के ढ़ेर लगी हैं, खोजना मुश्किल हो गया कि सामान कहाँ रखा था। यह है–मूढता।

पर्वत से गिरकर मरना : जिन्दगी से ऊब कर यही विचार करना–ऊँचाई से परमात्मा का नाम लेकर कोई गिरकर प्राण छोड़ता है परमात्मा उसे बैकुण्ठ की यात्रा कराते हैं; क्योंकि शंकर पर्वत से ही बैकुण्ठ की यात्रा की थी और ऊँचे पर्वत खतरे के स्थान पर जाकर प्राणोंकी आहूति देना भी मूढ़ता है।

अग्नि कुण्ड में प्रवेश करना : धर्म मानकर अग्नि में मरना–पति की मृत्यु होने पर स्वयं भी चिता में जलकर मरना, सती कहलाना, अग्नि देवता मानकर उसे स्वयं को समर्पित कर देना ही मूढता है।

धर्म मानकर नदी में नहाना : मन में धारणा बना लेना कि–गंगा यमुना, सरस्वती, नर्मदा नदी में स्नान कर लेने से सारे पाप धुल जायेंगे तो यह भी मूढ़ता है। अगर नदी स्नान से पाप धुलते तो सबसे पहले मछली, कछुआ, मेढ़क, साँप जलचर जीव बैकुण्ठ जाते। वे तो वही रहते हैं। पर अपना उद्धार नहीं कर पाते। अपने मलिन शरीर को जल से धोना धर्म नहीं है मात्र शरीर की शुचिता है। जैसे तुम्बी के स्नान से तुम्बी का कड़वापन नहीं जाता, उसी प्रकार मात्र नदी में स्नान से पाप समाप्त नहीं होते। नदी में स्नान तो धर्म–कार्य कराने से पहले अवश्य ही कराया जाता है। कारण यह है कि–स्नान करने से शरीर शुद्ध हो जाता है, स्फूर्ति का आगमन होता है और प्रभु की आराधना का कार्य प्रसन्न मन से हो सकता है।

'काँटों की शय्या पर लेटे इन सबको जो धर्म कहे'

काँटों की शय्या पर लेटते हैं, महीनों बीत जाते हैं, शरीर बिंध जाता है। पट्टे से शरीर को मारकर लहू–लुहान कर देते हैं और मातम मनाते हैं। तीर को गाल के एक जबड़े से पारकर दूसरे जबड़े तक ले जाते हैं, जिह्मा में लोहे के तार पार कर धर्म मानते हैं यह मूढ़ता है। कई मृतक का श्राद्ध करते हैं, बुजुर्ग मृत की सेवार्थ ब्राह्मणों को भोजन कराते हैं कि हमारे बुजुर्गों की तृप्ति होगी, स्वर्ग में पितर लोग तृप्त होंगे। यह भी मूर्खता भरी बातें हैं। फलाने चन्द के खाने से ढ़िकाने चन्द का पेट कभी नहीं भरता। यह

मानसिक विकृति की तृप्ति का द्योतक है। सब अपने पुण्य–पाप से गति पाते हैं। जीते–जी अगर वे किसी को भोजन कराते तो स्वयमेव ही सद्गति पा जाते। कई लोग घर में किसी का मरण हो जाये तो 13 दिन बाद तेरई मनाते हैं और कर्ज लेकर भी खूब ठाठ–बाट से सभी को मृत्यु का भोजन कराते हैं। जीते–जी तो पिता को पानी नहीं पिलाया, मरने के बाद पूरे गाँव को जिमा दिया। यही मूढता है।

बच्चों को बीमारी हुई चेचक निकली, सन्तान नहीं हो रही, व्यापार रुक रहा है, घर में कष्ट है तो मूढ व्यक्ति यही सोचता है कि मैंने देवी की उपासना नहीं की–फलाना देवता रूष्ट है। पीपल पर धागा नहीं बाँधा, मजार पर चद्दर नहीं चढ़ाई, शुक्र–सोम का व्रत नहीं किया, शादी के समय देवी की उपासना नहीं की, इसलिए सब हो रहा है और फिर व्रत–उपवास करने लगे सन्तान की कामना से, बच्चे के रोग निवारण की भावना से। अरे ! यह तो अन्तराय कर्म से अस्थिर नाम कर्म के उदय से होता है। किसी देवी–देवता से नहीं पर लोक मूढ़ता में यह सब काम हो जाता है। जो जीवन को मिथ्यात्व में भटकाता है। मूढतायें कई हैं–

घर में किसी के मरने पर सिर मुण्डवा लेना भी मूढता है। मात्र एक परम्परा है। सिर मुण्डवाने से बस एक बात याद रहती है कि–कोई मर गया। यद्यपि इसका धर्म से सम्बन्ध नहीं है। महिलायें पति के मरने पर वर्षों काली साड़ी पहने गुम–सुम रहती हैं। यह पतिव्रत पना नहीं मोह है, मूढ़ता है। त्यौहार के दिनों में परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु होजाने पर उस पर्व–त्यौहार को मनाना ही छोड़ देना धर्म नहीं–मूढ़ता है। प्रथम ग्राहक का जो पैसा आया उसे चूम लिया, प्रणाम कर लिया, लक्ष्मी मैया प्रसन्न है यह भी मूढ़ता है। रास्ते में गुजरते वक्त नदी आ जाये, पैसा फेंक धर्म मानना मूढ़ता है। कुल देवी–देवता को मानना, विवाह के अवसर पर आराधना करना मूढ़ता है। तीर्थों पर मुण्डन करने का कोई धर्म नहीं, पर एक मूढता है। ठीक है–शुभ स्थान पर कराया पर बच्चा ज्यादा दिन जीवित रहेगा कि भावना से कराना मूढ़ता है। ये सारी व्यर्थ की धारणायें ही मूढ़ता हैं लेकिन–

'मूढ़ लोकमूढ़ता में फँसकर भव अरण्य में घूम रहे।'

संसारी प्राणी भय, स्नेह, लोभ, परम्परा गतानुगतिक बनकर स्वयं को व्यामोहित करते हैं और दर्शन मोहनीय का तीव्र आश्रव कर जीवन को पतित करते हैं। जैनत्व का बोध जिसे हो जाता है वह इन सब फालतू के चक्कर में नहीं फँसता। वह तो निडर होकर अपने पुण्य पर विश्वास करता है और वीतरागी देव–शास्त्र–गुरु की आराधना कर अपने जीवन को मूढता से बचाता है और शनैः शनैः परमात्मा की ओर कदम बढ़ाता है। तो हम सभी **जैनत्व का बोध** कर जिनत्व की ओर अपना कदम बढाये ताकि संसार परिभ्रमण समाप्त कर आत्मा का आनन्द प्राप्त कर सके **।ॐ नमः।**

मुनि श्री १०८ सौरभ सागर जी महाराज